विद्यालय था। उसे पुनः उसी स्थिति में लाया जा सकता है। गुरुकुलों की स्थापना शिक्षा के क्षेत्र में एक मौलिक क्रान्ति के रूप में प्रारम्भ हुई थी। उन द्वारा चाहे अभी न्याय पर आधारित नये समाज की स्थापना का समय न आया हो, पर गुरुकुल-पद्धति के कतिपय तत्त्वों को आधुनिक समय में भी अपनाया जा सकता है और उन्हें अपनाना धर्म तथा समाज के लिए अवश्य हितकर होगा—यह सुनिश्चित है।

गुरुकुल काँगड़ी के विश्वविद्यालय-विभाग की उपयोगिता एवं लोकप्रियता बढ़ाने का एक उपाय यह भी है कि उसे एक ऐसी यूनिवर्सिटी के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया जाए, जिसमें कि सब पाश्चात्य एवं प्राच्य तथा आधुनिक एवं प्राचीन ज्ञान-विज्ञानों के अध्यापन की समुचित व्यवस्था हो, पर जिसका वातावरण वैदिक धर्म, आर्य संस्कृति व भारतीय मर्यादाओं और परम्पराओं के अनुरूप हो। गुरुकुल काँगड़ी का विश्वविद्यालय-विभाग विद्यार्थियों के लिए ज्वालापुर, कनखल, हरिद्वार तथा समीप के ग्रामों व कारखानों पर ही निर्भर न रहे, अपितु भारत के सब राज्यों व विदेशों तक से ऐसे विद्यार्थी वहाँ पढ़ने के लिए आने लगें, जो वैदिक आदर्शों, भारतीय नैतिक मूल्यों, सदाचार, सादगी तथा धार्मिक भावना को महत्त्व देते हों, और जो आधुनिक भौतिक सभ्यता के आकर्षणों को हेय समझते हुए सात्त्विक जीवन को महत्त्व देते हों। पर यह तभी सम्भव होगा, जब गुरुकुल काँगड़ी में आवासीय पद्धति को पूर्ववत् पूरी तरह से अपना लिया लाए, और छात्रावास (आश्रम) इतनी संख्या में उपलब्ध करा दिये जाएँ, जिनमें कि दूर-दूर से पढ़ने के लिए आये हुए विद्यार्थियों के निवास और भोजन आदि की समुचित व्यवस्था हो सके। इन छात्रावासों में जहाँ सब आवश्यक सुविधाएँ हों, वहाँ इनका जीवन भलीभाँति अनुशासित हो। वर्तमान समय में गुरुकुल काँगड़ी के विश्वविद्यालय-विभाग का विकास एक साधारण कॉलिज के समान हो रहा है। उसमें उन विशेषताओं का प्रायः अभाव है, जिनके कारण गुरुकुल ने इतनी ख्याति प्राप्त की थी। यदि उन विशेषताओं को यथासम्भव कायम रखते हुए गुरुकुल को एक आवासीय विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया जाए, तो निस्सन्देह वह समय की एक बड़ी आवश्यकता को पूर्ण कर रहा होगा। अभी ऐसे लोगों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है, जो भौतिकवाद की तुलना में अध्यात्मवाद और भोगविलास की तुलना में सदाचारमय जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं, और जिनकी दृष्टि में स्वार्थ व व्यक्तिगत सुखों की अपेक्षा उच्च आदर्शों व नैतिक मूल्यों की महत्ता कहीं अधिक है। गुरुकुल न केवल भारत अपितु विश्व-भर के ऐसे लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। इस प्रकार उसकी खोयी हुई गरिमा फिर से वापस आ सकती है, और शिक्षा-जगत् में वह अपने लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकता है।

(४) सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना का एकमात्र साधन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली

जिन उद्देश्यों और प्रयोजनों को सम्मुख रखकर स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण किया गया था, उनका स्पष्ट रूप से उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में विद्यमान है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(१) भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य होगा।

में ऐसे विद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं, जिनमें धनी-निर्धन, छूत-अछूत सब वर्गों के बच्चे एक-साथ एक-समान शिक्षा प्राप्त करेंगे। गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के कितने ही मन्तव्यों व तत्त्वों को नवोदय विद्यालयों में अपना लिया गया है। ये नवोदय विद्यालय अनेक अंशों में एक प्रकार के गुरुकुल ही होंगे। पर इनसे भी जनता का बहुत थोड़ा-सा भाग ही लाभ उठा सकेगा। आर्यसमाज गुरुकुलों की स्थापना को एक जन-आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ कर सकता है। इस समय जो बहुत-से गुरुकुल विद्यमान हैं, रहन-सहन की दृष्टि से वे सब एक-सदृश नहीं हैं। गुरुकुल काँगड़ी के विद्यालय विभाग के विद्यार्थियों के अभिभावकों से २०० रुपये मासिक के लगभग खर्च लिया जाता है। अन्य बहुत-से गुरुकुलों में मासिक फीस की मात्रा ३० रुपये से ६० रुपये तक है। कुछ गुरुकुल ऐसे भी हैं, जिनमें कोई भी फीस नहीं ली जाती। गुरुकुलों के इस भेद से स्पष्ट है कि यदि गुरुकुल काँगड़ी में मध्यम वर्ग के बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं तो अन्य गुरुकुलों में ऐसे वर्गों के जो आर्थिक दृष्टि से निम्न स्तर के हैं। पर एक गुरुकुल में पढ़नेवाले व उसके छात्रावास (आश्रम) में निवास करनेवाले सब बच्चों का खान-पान व रहन-सहन एक-समान होता है, उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति चाहे भिन्न भी क्यों न हो। यदि सब गुरुकुलों को एक श्रृंखला में सम्बद्ध कर दिया जाए, सब एक संगठन में संगठित हो जाएँ, तो उन द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों(आर्थिक दृष्टि से विभिन्न स्तरों) के बच्चे गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति का पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं। इन गुरुकुलों में पाठविधि एक होगी, सबमें विद्यार्थियों का जीवन पूर्णतया अनुशासित होगा, सबमें आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म का वातावरण होगा और उनमें शिक्षा प्राप्त करते हुए विद्यार्थी जहाँ देश, धर्म और समाज की सेवा के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित होंगे, वहाँ साथ ही अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का भी भलीभाँति विकास कर सकेंगे। विभिन्न गुरुकुलों के रहन-सहन के भौतिक स्तर में भिन्नता अवश्य होगी, पर सबकी पाठविधि और जीवन-प्रणाली एक-सदृश होगी और एक गुरुकुल के सब विद्यार्थी एक ही जैसा भोजन, शय्या, वस्त्र व शिक्षा आदि प्राप्त करेंगे। यह एक क्रियात्मक उपाय है, जिससे गुरुकुल-पद्धति पुनः लोकप्रिय हो सकती है, और उस द्वारा आर्यसमाज में नवजीवन का संचार होने में भी सहायता मिल सकती है। देश में ऐसे धनपति विद्यमान हैं जो ऐसे गुरुकुलों के लिए उत्साह व उदारता के साथ धन देने को प्रवृत्त होंगे, और सरकार से भी उनके लिए सहायता प्राप्त की जा सकेगी। डी० ए० वी० संगठन द्वारा स्थापित पब्लिक स्कूलों द्वारा जैसे एक सामयिक आवश्यकता की पूर्ति होती है, उसी प्रकार इन गुरुकुलों से भी एक महत्त्व-पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति होगी। अन्तर यह रहेगा कि डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिक्षा-विषयक मन्तव्यों के अनुकूल नहीं हैं, पर ये गुरुकुल महर्षि के मन्तव्यों के अनुरूप होंगे।

ऐसा भी समय आ सकता है, जब इन गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक हो जाए कि केवल इन्हीं में से योग्य छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुल काँगड़ी के विश्वविद्यालय विभाग में प्रविष्ट किया जाए, और विश्व-विद्यालय-स्तर की शिक्षा प्राप्त करते हुए भी तब विद्यार्थी गुरुकुलीय पद्धति से जीवन-यापन करें। आवश्यकतानुसार विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा के लिए अन्य गुरुकुल भी स्थापित किये जा सकते हैं। गुरुकुल वृन्दावन कभी गुरुकुल काँगड़ी का समकक्ष विश्व-

(२) भारत के सब नागरिकों को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

(३) सब नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त कराया जायगा।

(४) सब नागरिकों को स्थिति तथा अवसर की समता प्राप्त करायी जायगी और उनमें बन्धुत्व की भावना को बढ़ाया जायगा।

इन चार उद्देश्यों में से पहले दो को पूर्ण करने में भारत को पर्याप्त सफलता हुई है। पाकिस्तान और चीन के आक्रमणों से भारत की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता नष्ट नहीं हो सकी, और न ही अमेरिका और रूस सदृश शक्तिशाली राज्य इसको अपने प्रभाव में ला सकने में समर्थ हुए। लोकतन्त्र पर आधारित गणशासन भारत में अविकल रूप से कायम है। न यहाँ खूनी क्रान्तियाँ हुईं और न कोई अधिनायक (डिक्टेटर) इसके शासन के लोकतान्त्रिक रूप को क्षति पहुँचा सका। विचार, विश्वास, धर्म और पूजा आदि के सम्बन्ध में भारत के सब नागरिकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। मुसलमान, ईसाई आदि विविध धर्मों के अनुयायी यहाँ अपने-अपने धर्मों का अनुसरण एवं प्रचार करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रखते हैं, और इसे हिन्दू राष्ट्र बनाने की दिशा में कोई पग नहीं उठाया गया, यद्यपि भारत के पड़ोसी पाकिस्तान, बंग्लादेश और ईरान में इस्लामी राज्य स्थापित किये जा चुके हैं, और वहाँ के कानून भी क़ुरान की व्यवस्थाओं पर आधारित बनाये जा रहे हैं।

पर जहाँ तक संविधान के अन्य दो उद्देश्यों का सम्बन्ध है, उन्हें पूर्ण करने के लिए अभी समुचित प्रयत्न नहीं हुआ है। भारत के नागरिकों को राजनैतिक न्याय अवश्य प्राप्त है, क्योंकि कानून की दृष्टि में सब नागरिक एक-समान हैं, और वोट देने तथा विधानमण्डलों में निर्वाचित हो सकने के अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त हैं। पर आर्थिक और सामाजिक न्याय अभी नागरिकों को प्राप्त नहीं हुए हैं। बेरोजगारी और आर्थिक विषमता की समस्या अभी हल नहीं हुई है, और लोगों की आमदनी में जो भारी अन्तर है, उसका कारण उनकी योग्यता व उत्पादन-क्षमता में भेद नहीं है। श्रमजीवियों को अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता, और लोग अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य भी प्राप्त नहीं कर पाते। समाज में ऊँच-नीच का भेद उग्र रूप से विद्यमान है, और जनता का एक अच्छा बड़ा वर्ग अब तक भी अछूत माना जाता है। सब नागरिकों की न स्थिति एक-समान है, न उन्हें योग्यता प्राप्त करने तथा योग्यता के अनुरूप कार्य प्राप्त करने का ही समान रूप से अवसर मिलता है। संविधान में राजकीय नीति के जो निदेशक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, उनमें इन समस्याओं का हल करने के लिए कतिपय व्यवस्थाएँ अवश्य की गई हैं, पर न वे पर्याप्त हैं, और न उन्हें अभी तक क्रियान्वित किया जा सका है। उदाहरणार्थ, संविधान के अनुसार चौदह वर्ष की आयु तक प्रत्येक बालक व बालिका को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। पर अभी तक इसके लिए समुचित प्रयत्न नहीं किया जा सका है। समाज के पिछड़े हुए वर्ग (हरिजन आदि) की उन्नति के प्रयोजन से सरकारी नौकरियों में उनके लिए स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था विद्यमान है, पर इसका लाभ बहुत कम व्यक्ति उठा सके

हैं, और उससे पिछड़े हुए वर्गों के सर्वसाधारण लोगों की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है।

संविधान के जिन दो उद्देश्यों को पूर्ण कर सकने में हम अभी असमर्थ रहे हैं, उन्हें पूरा करने के लिए शिक्षा-प्रणाली में मौलिक एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। वर्तमान समय में भारत में जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित है, उसमें सब बालकों व बालिकाओं को योग्यता प्राप्त करने का एक-समान अवसर नहीं मिलता। हमारे देश में इस समय दो प्रकार के शिक्षणालय हैं—एक धनिक सम्भ्रान्त वर्ग और शासक वर्ग के लोगों के लिए और दूसरे सर्वसाधारण जनता के लिए। पहले प्रकार के शिक्षणालय पब्लिक स्कूल कहे जाते हैं, और इनमें अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में भी प्राय: यही भाषा प्रयुक्त की जाती है। दूसरे प्रकार के शिक्षणालयों में मध्य एवं निम्न वर्गों के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हैं, और उनमें शिक्षा के माध्यम के रूप में प्राय: प्रादेशिक या क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। दोनों प्रकार के शिक्षणालयों में शिक्षण के स्तर में बहुत भेद है, जिसके कारण उनके छात्रों को योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर नहीं मिल पाता। सरकारी कार्यों में अभी तक भी अंग्रेजी का प्रयोग अधिक है और सरकारी कर्मचारियों तथा पदाधिकारियों के चयन में भी अंग्रेजी भाषा में योग्यता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस दशा में राजकीय सेवाओं, औद्योगिक व व्यापारिक प्रतिष्ठानों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की नौकरियाँ प्राप्त करने में वे युवक अधिक उपयुक्त व योग्य हो जाते हैं, जिन्होंने कि पब्लिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त की हो। वास्तविक योग्यता में वे चाहे कम भी क्यों न हों, पर अंग्रेजी में निपुणता के कारण वे अन्य शिक्षणालयों के विद्यार्थियों से बाजी मार ले जाते हैं। इस स्थिति में जीवन-संघर्ष में आगे बढ़ने के लिए अवसर की समता का जो सिद्धान्त संविधान में प्रतिपादित किया गया है, उसे क्रियान्वित कर सकना सम्भव ही नहीं रहता।

पर यदि पब्लिक स्कूलों का अन्त कर देश में एक ही प्रकार के शिक्षणालय स्थापित कर दिये जाएँ, तब भी अवसर की समता को स्थापित नहीं किया जा सकता। गरीब और पिछड़े हुए वर्गों के बच्चे मैले कपड़े पहनकर स्कूलों में आएँगे, उन्हें घर पर रहकर पाठ याद करने व स्कूल में दिये गये गृह-कार्य को करने के लिए अनुकूल परिस्थिति प्राप्त नहीं होगी, और उन्हें पुष्टिकर भोजन भी नहीं मिल पायगा। सम्भ्रान्त वर्ग के अपने सहपाठियों के सम्मुख उनमें हीन-भावना उत्पन्न होगी, और उनकी अन्तर्निहित शक्तियों का समुचित विकास कदापि सम्भव नहीं हो सकेगा। बड़े सरकारी अफसर या सम्पन्न उद्योगपति के बालक के साथ एक ही कक्षा में पढ़ता हुआ चमार, भंगी या मोची का बालक अपने को सदा हीन अनुभव करेगा, और बुद्धि, पढ़ाई व प्रतिभा में आगे होते हुए भी वह स्कूल में समुचित आदर व स्थान प्राप्त नहीं कर पायगा, क्योंकि स्कूल का वातावरण ऊँच-नीच, गरीब-अमीर आदि के भेदभाव पर आश्रित वर्गचेतना से शून्य नहीं रह पायगा।

इस समस्या का समाधान गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली द्वारा ही सम्भव है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं और जिनके अनुसार गुरुकुलों की स्थापना की गई थी, वे अग्रलिखित हैं—

(१) "जन्म से पाँचवें वर्ष तक बालकों को माता, छह वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और नौवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आर्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों वहाँ लड़कों और लड़कियों को भेज दे।"

"इसमें राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।"

"आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य-कुल में रहें। जो कोई इस आज्ञा को न माने, उसके माता-पिता को दण्ड देना।"

"पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम व नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र की सन्तान हों। सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपनी सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सके और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक-दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या पढ़ने की चिन्ता रक्खें।"

स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार जो शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित होंगी, वे नगरों और ग्रामों से दूर होंगी और उनमें सब सामाजिक वर्गों के विद्यार्थी एक-साथ निवास करेंगे। सबके रहन-सहन, वस्त्र, भोजन, शय्या आदि एक-समान रहेंगे, और सबको एक-जैसी शिक्षा दी जायगी। इन शिक्षा-संस्थाओं, जिन्हें गुरुकुल या आचार्यकुल कहा जा सकता है, में पढ़नेवाले विद्यार्थियों का अपने माता-पिता के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। न वे कभी मिल सकेंगे और न पत्रव्यवहार ही कर सकेंगे। महर्षि दयानन्द के अनुसार प्रत्येक बालक व बालिका को "मातृमान् और पितृमान्" होने के साथ-साथ "आचार्यवान्" भी होना चाहिए। पाँच वर्ष तक बच्चा माँ के प्रभाव में रहे और फिर तीन वर्ष तक पिता के। इसके बाद आठ वर्ष की आयु का हो जाने पर बच्चे पर से माता-पिता का प्रभाव समाप्त हो जाना चाहिए, और उसकी शिक्षा-दीक्षा आचार्यकुल में होनी चाहिए, जहाँ रहते हुए वह यह बात भूल जाए कि वह धनी-सम्भ्रान्त वर्ग का है या निर्धन-वर्ग का, उसके माता-पिता किस जाति या वर्ग के हैं और समाज में उनकी क्या स्थिति है। जब आचार्यकुल या गुरुकुल में पढ़ते हुए सब विद्यार्थियों का रहन-सहन एक-जैसा होगा, सबको एक-जैसे वस्त्र व भोजन आदि मिलेंगे और उनको अपने माता-पिता के सम्पर्क में आने का कोई भी अवसर प्राप्त नहीं होगा, तब उनमें ऊँच-नीच की भावना रह ही कहाँ जाएगी। सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिलेगा और विद्यार्थियों में वही प्रतिष्ठित स्थान पा सकेगा, जो बुद्धि, प्रतिभा, बल व योग्यता में दूसरों की तुलना में उत्कृष्ट हो, चाहे वह किसी गरीब व पिछड़े हुए वर्ग के माता-पिता की सन्तान क्यों न हो। गुरुकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करते हुए विद्यार्थियों में ऐसा बन्धुत्व विकसित हो जाएगा, जिसके कारण उनमें छोटे-बड़े या ऊँच-नीच की भावना रह ही नहीं सकेगी। इन शिक्षणालयों में आठ साल आयु के बालक भरती होंगे, और वे युवा होने तक (प्रायः सोलह साल) वहीं निवास करेंगे। इस सुदीर्घ काल में अपने माता-पिता व परिवार के साथ उनका कोई भी

सम्पर्क नहीं रहेगा, उनका घर गुरुकुल ही हो जाएगा, और उनमें यह विचार रह ही नहीं जायगा कि वे किसी सम्भ्रान्त वर्ग के परिवार के हैं या निर्धन परिवार के।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-सम्बन्धी वह सिद्धान्त अत्यधिक क्रान्तिकारी है। 'सबको समान अवसर एवं समान स्थिति' प्रदान करने के लिए इससे अधिक सक्षम साधन कोई हो ही नहीं सकता। बालकों की अंतर्निहित शक्तियों के समुचित विकास में भी इससे सहायता मिलती है, क्योंकि माता-पिता एवं पारिवारिक जनों के साथ रहते हुए बालकों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, जो उनके स्वाभाविक विकास में बाधक हो सकता है। माता-पिता अपने बच्चे के प्रति पक्षपात का भाव रखते हैं, अन्य बालकों के प्रति अनुचित बरताव करने या कोई अपराध करने पर वे उसे यथोचित दण्ड नहीं देते और लाड-चाव कर उसे बिगाड़ भी देते हैं। पर गुरुकुल में रहते हुए बालकों के प्रति गुरुजनों का एक-सदृश बरताव होता है, वे किसी के साथ पक्षपात नहीं करते। कुटुम्ब का प्रभाव बालक पर अन्य दृष्टि से भी हानिकारक होता है। किसी परिवार में बढ़ई या लुहार का काम होता है, पर उनके बालक की रुचि संगीत या चित्रकला में है। बढ़ई परिवार के वातावरण में रहते हुए बालक संगीत या चित्रकला में अपनी प्रतिभा का समुचित विकास नहीं कर सकेगा, और रुचि न होने के कारण वह अच्छा बढ़ई भी नहीं बन पायेगा। पर गुरुकुल में निवास करने पर उसे ऐसा वातावरण मिल जायगा, जो उसकी प्रतिभा और अन्तर्निहित शक्तियों के विकास में पूर्णरूप से सहायक होगा। महर्षि दयानंद सरस्वती का मन्तव्य यह है कि आठ वर्ष की आयु के पश्चात् बालक और बालिकाएँ माता-पिता एवं परिवार के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होकर ऐसे आचार्यों या गुरुओं के प्रभाव में रहें जो उनके चरित्र के निर्माण तथा उनकी शक्तियों, क्षमता व प्रतिभा को विकसित करने में समर्थ हों।

(२) माता-पिता तथा परिवार के अतिरिक्त नगरों व ग्रामों के वातावरण से पृथक् रहना भी महर्षि के मत में छात्रों के लिए बहुत आवश्यक है। नगरों में प्रधानतया गृहस्थों का निवास होता है और उनके जीवन में भोग, सांसारिक सुख एवं विलास को भी स्थान प्राप्त रहता है। शिक्षा-काल में बालक-बालिकाओं का जीवन तपस्यामय होना चाहिए। अतः उचित यह है कि वे शहरों और ग्रामों से दूर आश्रमों में रहा करें। वर्तमान समय में तो नगरों का जीवन बहुत अधिक अशान्त और क्षुब्ध हो गया है। राजनैतिक व आर्थिक प्रश्नों को लेकर वहाँ अनेक प्रकार के आन्दोलन चलते रहते हैं। यदि शिक्षणालय नगरों में हों, तो विद्यार्थी इनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। उनकी पढ़ाई में इससे विघ्न पड़ सकता है। पर महर्षि दयानन्द यह भी स्वीकार करते थे कि विद्यार्थियों को अपने युग की समस्याओं तथा नागरिक जीवन से पूर्णतया पृथक् भी नहीं रखा जा सकता। नगरों व ग्रामों के साथ उनका सम्पर्क होना ही चाहिए। इस दृष्टि से उन्होंने यह व्यवस्था की है कि भ्रमण करते हुए विद्यार्थी नगरों व ग्रामों में आ-जा सकते हैं, पर तब उनके साथ अध्यापक रहने चाहिएँ, ताकि वे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें, और अध्यापक उन्हें नगरों के जीवन के कुप्रभावों से बचा सकें।

(३) महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बालकों और बालिकाओं की सह-शिक्षा का विरोध किया है। उनके मन्तव्य के अनुसार बालकों के गुरुकुलों में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिए, और कन्याओं के गुरुकुलों में पुरुषों का। उनके शब्दों में "जो

वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जबतक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें तबतक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त-सेवन, भाषण, विषय-कथा, परस्पर-क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा के बल से युक्त होके आनंद को नित्य बढ़ा सकें।"

(४) महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रतिपादन किया है, उसमें संस्कृत भाषा एवं वेद-शास्त्रों के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। गुरुकुलों में जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाएगा, उसमें सब बालक-बालिकाओं को संस्कृत व्याकरण, साहित्य, वेदांग, स्मृति, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थ और वैदिक संहिताओं का अनिवार्य रूप से अध्ययन करना होगा, पर साथ ही आयुर्वेद (चिकित्सा शास्त्र), धनुर्वेद (शस्त्रास्त्र विद्या), राजविद्या (राजनीति शास्त्र व अन्य सामाजिक विज्ञान), गान्धर्व विद्या (संगीत और नृत्य), अर्थवेद (विविध प्रकार के पदार्थ विज्ञान या भौतिक विज्ञान), गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, भूगर्भ विद्या, हस्तक्रिया, यन्त्र कला आदि भौतिक विषयों के अध्ययन की भी उसमें व्यवस्था होगी। कन्याओं के गुरुकुलों में भी ये सब विषय पढ़ाये जायेंगे। महर्षि की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार गुरुकुलों में पढ़े हुए विद्यार्थी जहाँ संस्कृत भाषा और वेद शास्त्रों के पण्डित होंगे, वहाँ साथ ही विविध ज्ञान-विज्ञानों का भी उन्होंने अध्ययन किया होगा।

(५) आठ वर्ष की आयु के पश्चात् बालक-बालिकाओं को जिन गुरुओं के प्रभाव में रहना है और माता-पिता से पृथक् होकर जिनके पास रहते हुए विद्याध्ययन करना है, महर्षि दयानन्द के अनुसार उन्हें पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक होना चाहिए। "जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।"

(६) महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संगठन का मूल तत्त्व वर्णाश्रम-व्यवस्था है। मानव-समाज के स्वाभाविक रूप से चार अंग या वर्ण होते हैं, जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है। इन वर्णों का जातियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कायस्थ, जाट, अग्रवाल, सैनी, खत्री, गूजर, मुरई आदि जातियाँ हैं, और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण। कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं, जिन्हें किसी वर्ण के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। सैनी, कायस्थ और गूजर जाति के लोगों को किस वर्ण का माना जाय, यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं है। वस्तुतः, जाति और वर्ण सर्वथा भिन्न हैं। जाति का आधार जन्म होता है, और वर्ण का गुण, कर्म और स्वभाव। किसी भी समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों या वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द ने समाज-संगठन का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसमें कौन व्यक्ति किस वर्ग का है, यह गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार निर्धारित किया जाएगा और इसका निर्धारण वे गुरुकुल करेंगे, जिनके कुल या शिक्षणालय में रहकर आठ वर्ष की आयु के पश्चात् बालक व बालिका ने विवाह की आयु प्राप्त होने से पूर्व सुदीर्घ समय तक शिक्षा ग्रहण की होगी। महर्षि के अनुसार सन्तान के साथ माता-

पिता का सम्बन्ध आठ वर्ष में समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् बालकों और बालिकाओं को आचार्यकुल या गुरुकुल में गुरुजनों के साथ रहना है, उन्हें ही अपना माता-पिता मानना है और गुरुजनों ने ही यह निश्चित करना है कि उनका कौन-सा विद्यार्थी किस वर्ण के योग्य है। जो बालक आठ वर्ष की आयु के पश्चात् पच्चीस साल की आयु तक गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन करेगा, गुरुजन यह भलीभाँति जान सकेंगे कि उसके गुण कर्म क्या हैं, उसकी रुचि और प्रवृत्तियाँ क्या हैं, वह किन कार्यों को सुचारु रूप से करने के योग्य है और उसे कौन-सा वर्ण दिया जाना चाहिए। यह सर्वथा सम्भव है कि किसी बालक के माता-पिता तो व्यापारी होने के कारण वैश्य वर्ण के हों, पर बालक की रुचि अध्ययन-अध्यापन की हो। ऐसे बालक को गुरुजनों द्वारा ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत किया जायगा, वैश्य वर्ण के नहीं। इसी प्रकार शूद्र वर्ण के माता-पिता की सन्तान गुण-कर्म के अनुसार क्षत्रिय या ब्राह्मण वर्ण की हो सकती है, और ब्राह्मण-वर्ण के माता-पिता की सन्तान शूद्र वर्ण की। वर्तमान समय में सन्तान जो प्रायः अपने माता-पिता के कारोबार या पेशे को अपनाती है, उसका मुख्य कारण यह होता है कि वह किशोरावस्था में भी अपने परिवार में ही रहती है और अपने पारिवारिक व्यवसाय से परिचित होने का उसे अधिक अवसर प्राप्त होता है। यह सर्वथा सम्भव है कि उसकी रुचि अपने माता-पिता के व्यवसाय में न हो और वह किसी अन्य व्यवसाय के लिए अधिक योग्य हो, पर उसे यह अवसर ही नहीं मिलता कि वह अपने पैतृक वातावरण से सर्वथा पृथक् रहकर अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का भलीभाँति विकास करे और ऐसे व्यवसाय को अपना सके, जिसके वह योग्य हो। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार सब कोई को जहाँ शिक्षा और योग्यता प्राप्त करने का एकसमान अवसर मिलेगा, वहाँ साथ ही सबके वर्णों का निर्धारण भी उनके गुण-कर्म के अनुसार गुरुजनों द्वारा किया जायगा। जो जिस वर्ण के योग्य हो, उसे उसकी योग्यता व शक्ति के अनुसार कार्य प्राप्त करने की उत्तरदायिता भी राज्य के ऊपर रहेगी। सामान्य दशा में बहुसंख्यक व्यक्ति उसी पेशे व व्यवसाय के योग्य होंगे, जो उनके माता-पिता का हो, क्योंकि मनुष्य के स्वभाव, शक्ति, रुचि और गुणों आदि पर अपने पूर्वजों व वंश का पर्याप्त प्रभाव रहता है। पर ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, गुण-कर्म और स्वभाव को दृष्टि में रखकर गुरुजनों द्वारा जिन्हें ऐसा वर्ण दिया गया हो जो उनके माता-पिता के वर्ण से भिन्न हो। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ऐसे व्यक्ति अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी भी नहीं हो सकेंगे। यही नहीं, ऐसे व्यक्ति जन्मदाता पिता की सन्तान न रहकर ऐसे माता-पिता की सन्तान माने जाने लगेंगे जो गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर उसके सवर्ण हों। वे नये सवर्ण माता-पिता के परिवार के अंग होकर रहेंगे, और उन्हीं की सेवा किया करेंगे। सत्यार्थप्रकाश में महर्षि से प्रश्न किया गया है कि "जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो और वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायगा?" महर्षि ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—"न किसी की सेवा भंग और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे।" महर्षि का यह मन्तव्य क्रान्तिकारी व मौलिक है। मनुष्यों को आर्थिक तथा सामाजिक न्याय प्रदान करने के लिए इसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(७) महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार गुरुकुलों के आचार्यों का एक कार्य यह भी है कि वे अपने शिष्यों के विवाह-सम्बन्ध निश्चित करें। महर्षि के शब्दों में "जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको फोटोग्राफ कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवे। जिस-जिस का रूप मिल जाय उस-उसके इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्म-चरित्र का पुस्तक हो उसको अध्यापक लोग मँगवा के देखें। जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस-जिसके साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें तुम्हारा जो अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना। जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे।" महर्षि को यह अभिप्रेत था कि गुरुकुलों में सब विद्यार्थियों के जन्म-चरित्र की पुस्तकें रखी जाया करें, जिनमें उनकी गतिविधि, रुचि, गुण, प्रवृत्ति आदि का उल्लेख रहे। इन जन्मचरित्र-पुस्तकों के आधार पर ही गुरुजन यह निर्धारित करेंगे कि कौन विद्यार्थी किस वर्ण का है और कौन-सा पेशा या व्यवसाय उसके योग्य है। इन्हीं के आधार पर गुरुजन यह निश्चय करेंगे कि किस कुमार का विवाह किस कन्या के साथ होना चाहिए, यद्यपि इस सम्बन्ध में अन्तिम स्वीकृति वर और कन्या की होगी। विवाह-सम्बन्ध के निर्धारण में न जात-पाँत देखी जानी चाहिए और न माता-पिता की इच्छा व सम्मति का उनमें कोई महत्त्व होना चाहिए। महर्षि के मन्तव्य में यह कार्य भी गुरुकुलों के आचार्य या अध्यापक लोगों द्वारा ही सम्पादित किया जाना उचित है।

शिक्षा के सम्बन्ध में जो ये सात सिद्धान्त महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रतिपादित किये थे, उन्हीं को दृष्टि में रखकर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज (महात्मा मुंशीराम जी) ने बीसवीं सदी के प्रथम वर्ष में गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की थी। आधुनिक युग में यह पहला ऐसा शिक्षणालय था, जिसमें भारत की प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-पद्धति को अपनाया गया था, और जिसमें महर्षि के मन्तव्यों को क्रियात्मक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया था। गुरुकुल काँगड़ी के लिए जो स्थान चुना गया था, वह हरिद्वार से चार-पाँच मील दूर एक सुरम्य वन में था और नगरों के वातावरण से उसका कोई सम्पर्क नहीं था। सात-आठ साल की आयु के बालक गुरुकुल में शिक्षा के लिए प्रविष्ट किये जाते थे, और वे वहाँ के ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुजनों के साथ निवास करते थे। अपने माता-पिता के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। ब्रह्मचारी अपने घर कभी जा ही नहीं सकते थे, गुरुकुल ही उनका घर हो जाता था। यदि कभी माता-पिता अपने बालक से मिलने के लिए आते, तो अध्यापक की उपस्थिति में ही वे उससे मिल सकते थे, और वह भी केवल घण्टे-आध घण्टे के लिए। सब ब्रह्मचारी एक-जैसे वस्त्र पहनते थे, एक-जैसा भोजन करते थे और एक-समान शिक्षा प्राप्त करते थे। सबका रहन-सहन और खान-पान एक-सदृश था। वे यह भी नहीं जानते थे कि कौन किस जाति का है, किसके घर में क्या कारोबार होता है, और किसके कुटुम्ब की क्या सामाजिक व आर्थिक स्थिति है। ब्राह्मण और अछूत कुलों में उत्पन्न बालक एक आश्रम में एक साथ निवास

करते थे और साथ रहते हुए उनमें बन्धुत्व का पूर्ण रूप से विकास हो जाता था। गुरुकुल काँगड़ी के ब्रह्मचारियों में कुछ के पिता अत्यन्त सम्पन्न थे और उनकी सामाजिक स्थिति बहुत ऊँची थी। साथ ही, ऐसे ब्रह्मचारी भी वहाँ थे जो अत्यन्त निर्धन परिवारों से आये थे और समाज जिन्हें अस्पृश्य समझता था। पर गुरुकुल में रहते हुए उनमें गरीब-अमीर व छूत-अछूत की भावना रह ही नहीं जाती थी। वे एक समान शिक्षा प्राप्त करते थे, जिसके कारण सबको अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास का पूरा-पूरा अवसर मिल जाता था। इसी का यह परिणाम हुआ कि अस्पृश्य कुलों के बालक भी गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर संस्कृत तथा वेद-शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित बन गये, और वे अध्यापक एवं पुरोहित के पद प्राप्त करने में समर्थ हुए। उनका जन्म किसी हीन कुल में हुआ था, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती थी।

नगरों के कोलाहल से बहुत दूर शान्त वातावरण में रहते हुए गुरुकुल के विद्यार्थी सादा तथा तपस्वी जीवन बिताते थे, और अपना सब समय विद्या के अध्ययन तथा अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति में लगाते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के अनुसार गुरुकुल में संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया गया, पर साथ ही वहाँ हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं तथा गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, पाश्चात्य दर्शन, भौतिक विज्ञान व रसायन शास्त्र आदि की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। उस समय में भारत के प्रायः सभी शिक्षणालयों में शिक्षा तथा परीक्षा के लिए अंग्रेजी भाषा को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता था। गुरुकुल काँगड़ी ऐसी शिक्षा-संस्था थी, जिसमें हिन्दी भाषा को शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम बनाया गया था। भारतीय संस्कृति, देशभक्ति और राष्ट्रीयता को गुरुकुल में बहुत महत्त्व दिया जाता था, और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आधुनिक समय में गुरुकुल काँगड़ी ही भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था थी और उसी द्वारा एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली का आरम्भ किया गया था, जो विदेशी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त थी और जिस द्वारा विद्यार्थियों को राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का बोध होता था।

यह सर्वथा स्वाभाविक था कि देश के विद्वानों, शिक्षाशास्त्रियों, नेताओं और सर्वसाधारण जनता का ध्यान गुरुकुल काँगड़ी की ओर आकृष्ट हो। उस युग के प्रायः सभी गण्यमान्य व्यक्ति गुरुकुल आये और वहाँ के सदाचारमय वातावरण, तपस्वी जीवन और शिक्षा के ढंग को देखकर बहुत प्रभावित हुए। सरकार का ध्यान भी इस संस्था की ओर गया, और संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के गवर्नर, भारत के गवर्नर-जनरल, तथा अन्य विविध राजपदाधिकारी समय-समय पर गुरुकुल आते रहे। सर्वसाधारण जनता में गुरुकुल के प्रति जो उत्साह था, उसकी तो कल्पना भी आज नहीं की जा सकती। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों से हजारों नर-नारी गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ करते, और वहाँ ब्रह्मचारियों तथा गुरुजनों को देखकर देश के उज्ज्वल भविष्य का उन्हें विश्वास हो जाता।

गुरुकुल काँगड़ी के अनुकरण में शीघ्र ही अन्यत्र भी गुरुकुलों की स्थापना प्रारम्भ हुई। वृन्दावन, मुलतान, रायकोट, सूरत आदि कितने ही स्थानों पर गुरुकुल खोले गये, और सनातनी तथा जैन लोगों ने भी गुरुकुल-प्रणाली को अपनाकर अनेक

शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की। कन्याओं के लिए देहरादून, सासनी, कनखल आदि में पृथक् गुरुकुल खुले, और चौथाई सदी से भी कम समय में सर्वत्र गुरुकुलों का एक जाल-सा बिछ गया। इन गुरुकुलों को सरकार से मान्यता प्राप्त नहीं थी, उनकी डिग्रियों का बाजार में कोई मूल्य नहीं था, और सरकार द्वारा इन्हें कोई आर्थिक सहायता नहीं दी जाती थी। फिर भी हजारों विद्यार्थी इन शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे, और इनका खर्च चलाने के लिए जो धन अपेक्षित था जनता श्रद्धापूर्वक उसे प्रदान किया करती थी। बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में जब भारत में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हुआ और देश के नेताओं ने सरकारी शिक्षा के दूषित परिणामों को अनुभव कर राष्ट्रीय शिक्षणालय स्थापित करने प्रारम्भ किये, तो गुरुकुलों को उन्होंने अपना आदर्श बनाया और यह स्वीकार किया कि भारत के लिए वही शिक्षा-प्रणाली उपयुक्त है जिसका सूत्रपात गुरुकुल काँगड़ी द्वारा किया गया था।

सन् १९४७ ई० में भारत स्वतन्त्र हुआ। चाहिए तो यह था कि स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली अधिक लोकप्रिय होती और सरकारी स्कूल व कॉलिज भी इस प्रणाली के मूल तत्त्वों को अपना लेते। पर हुआ इससे उलटा। धीरे-धीरे विविध गुरुकुल सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हायर सेकण्डरी स्कूलों और इण्टर कॉलेजों के रूप में परिवर्तित होने लगे, और गुरुकुल काँगड़ी ने यूनिवर्सिटी की स्थिति प्राप्त कर ली। स्वतन्त्र भारत की सरकार गुरुकुलों को मान्यता प्रदान करे, यह सर्वथा उचित था। पर सरकार से आर्थिक सहायता एवं मान्यता प्राप्त करने के लिए गुरुकुल अपनी मौलिक विशेषताओं को छोड़ दें और अपने आदर्शों की उपेक्षा करने लगे, इसे कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। देश में अब भी अनेक ऐसी शिक्षा-संस्थाएँ विद्यमान हैं, जो गुरुकुल कहाती हैं, पर इनमें बहुसंख्यक ऐसी हैं जो अपनी विशेषताएँ खो चुकी हैं। गुरुकुलों की यह दुर्दशा क्यों हो गई, इस पर यहाँ विचार नहीं करना है। विचारणीय बात यह है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रतिपादित किये थे, उन्हें किस प्रकार क्रियान्वित किया जा सकता है और देश के सम्मुख जो विकट समस्याएँ इस समय विद्यमान हैं उन्हें हल करने के लिए महर्षि के मन्तव्य कैसे सहायक हो सकते हैं। यदि वर्तमान गुरुकुल अपने उद्देश्य में असफल हो गये हैं, तो इससे निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं। इन गुरुकुलों का सुधार कर सकना भी असम्भव नहीं है, और देश की शिक्षा-नीति में भी ऐसे परिवर्तन किये जा सकते हैं जो महर्षि के मन्तव्यों के अनुरूप हों, और जिनके कारण सभी शिक्षणालय गुरुकुलों का रूप प्राप्त कर लें।

वर्तमान समय में संसार की सबसे बड़ी समस्या समाज के संगठन के सम्बन्ध में है। समाज का कौन-सा ऐसा रूप हो सकता है, जिसमें सबके प्रति न्याय हो, कोई किसी का शोषण न कर सके, गरीब और अमीर तथा नीच और ऊँच का भेदभाव जिसमें न रहे और सब कोई परस्पर बन्धुत्व की भावना के साथ आपस में मिलकर एक साथ रहा करें। इसी समस्या के समाधान के लिए विविध समाजवादी आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ है, और विश्व के आधे के लगभग निवासी ऐसी व्यवस्था अपना भी चुके हैं। जो समाजवाद के कम्युनिज्म सदृश उग्र रूप के विरोधी हैं, वे भी इस बात की आवश्यकता अनुभव करते हैं कि समाज के संगठन में ऐसे परिवर्तन किये जाने चाहिएँ जिनके कारण आर्थिक विषमता दूर होकर सबके प्रति न्याय हो सके। भारत ने कम्युनिस्ट-व्यवस्था को नहीं

अपनाया है, पर अपने संविधान की प्रस्तावना में स्थिति और अवसर की समानता एवं सबके प्रति आर्थिक व सामाजिक न्याय की स्थापना के आदर्श को स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि संविधान में स्वीकृत इन उद्देश्यों व आदर्शों को कैसे क्रियान्वित किया जाए। हरिजनों के लिए सरकारी सेवाओं में जो स्थान सुरक्षित रखे गये हैं, और पिछड़ी हुई अन्य जातियों के लिए भी स्थान आरक्षित रखने की जो नीति कतिपय प्रादेशिक सरकारों द्वारा अपनायी जा रही है, उसका प्रयोजन यही कहा जाता है कि सबके प्रति न्याय हो सके और पिछड़े हुए वर्गों के व्यक्तियों को भी समाज तथा शासन में समुचित स्थान प्राप्त करने का अवसर मिल सके। यह नीति कहाँ तक उपयोगी है, इस पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली उन समस्याओं के समाधान में अत्यधिक सहायक हो सकती है जो कि इस समय न केवल भारत अपितु प्रायः सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख विद्यमान हैं। इस प्रणाली का प्रथम सिद्धान्त यह है कि सबको शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त कराया जाये। समाज में जो विषमता पायी जाती है, उसकी आधी समस्या इससे हल हो जाती है। यदि किशोरावस्था में सबको एक-जैसे रहन-सहन, एक-सदृश भोजन और एक-समान शिक्षा का अवसर मिले, तो प्रत्येक बालक व बालिका को अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास का समुचित अवसर प्राप्त हो जाएगा और सब कोई ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेंगे जो उनकी प्रतिभा, शक्ति एवं रुचि के अनुरूप हो। माता-पिता तथा कुटुम्बी जनों से पूर्णतया पृथक् गुरुकुलाश्रमों में निवास करते हुए विद्यार्थियों में जात-पाँत, छूत-अछूत और ऊँच-नीच का भेद-भाव भी नहीं रहेगा। न किसी को हरिजन वर्ग में रखने की आवश्यकता रहेगी, और न किसी को पिछड़ी हुई जातियों के अन्तर्गत करने की। विद्यार्थी-जीवन में सबकी स्थिति एक-समान होगी। यदि उनमें कोई भेद होगा, तो केवल उनकी अपनी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर। पर यह सर्वथा सम्भव है कि गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् कोई युवक अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुरूप कार्य न पा सके। धनी व्यापारी का बालक सादे एवं तपस्यामय वातावरण से शिक्षा प्राप्त कर जब अपने घर वापस जायेगा, तो वह एक समृद्ध व्यापारिक व औद्योगिक प्रतिष्ठान का स्वामी हो जायगा। इसी प्रकार एक गरीब कारीगर या श्रमिक या पुत्र गुरुकुल से स्नातक बनकर जब अपने घर लौटेगा, तो रोजगार प्राप्त करने की विकट समस्या उसके सम्मुख होगी और उसे रहन-सहन के ऐसे स्तर को अपनाने के लिए विवश होना होगा, जो गुरुकुलों के सादे रहन-सहन की तुलना में भी हीन होगा। पर महर्षि द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में यह समस्या उत्पन्न नहीं होती। उसके अनुसार गुरुजनों द्वारा यह निश्चित किया जायगा कि किस विद्यार्थी को कौन-सा वर्ण दिया जाए। जिसका जो वर्ण हो उसके अनुसार सर्विस, रोजगार व कार्य उसे प्रदान करने की उत्तरदायिता विद्यासभा तथा राजसभा (अर्थात् शासन) की होगी। सबकी योग्यता एक-समान नहीं होती। शिक्षा का एक-सदृश अवसर प्राप्त होने पर भी योग्यता व क्षमता में सब कोई एक-समान नहीं हो पायेंगे। इस दशा में सबकी आमदनी व पारिश्रमिक भी एक-बराबर नहीं हो सकेंगे। पर उनमें जो भेद रहेगा, उसका आधार उनकी योग्यता व कार्यक्षमता में अन्तर ही होगा। यदि किसी गरीब व अशिक्षित माता-पिता का बालक गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त

कर अत्यन्त योग्य हो जाए, और गुरुजनों की सम्मति में वह किसी औद्योगिक व व्यापारिक प्रतिष्ठान का प्रबन्धक या स्वामी होने के योग्य हो, तो उसे अपने माता-पिता के परिवार में रहने की आवश्यकता नहीं होगी। महर्षि की व्यवस्था के अनुसार उसे ऐसे माता-पिता के परिवार का अंग बनने का अवसर मिलेगा, जो समृद्ध औद्योगिक व व्यापारिक प्रतिष्ठान के साथ सम्बन्ध रखता हो।

इस प्रसंग में यह भी दृष्टि में रखना चाहिये कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर जिस सामाजिक संगठन का प्रतिपादन किया है, उसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का आधार धन व आर्थिक आमदनी नहीं है। उसमें ब्राह्मण (जन्म से नहीं, अपितु कर्म से) का स्थान सबसे ऊँचा है, ऐसे ब्राह्मण का जो अकिंचनता को अपना आदर्श मानता है। गुण और कर्म के अनुसार गुरु लोग उन व्यक्तियों को ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित करेंगे, जो अध्यापन, ग्रन्थ-प्रणयन, न्याय, वैज्ञानिक शोध आदि के कार्य करेंगे। आर्थिक रूप से वे समृद्ध तो नहीं होंगे, पर समाज में उनकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक होगी। राजपदाधिकारी और राजपुरुष भी उनके सम्मुख उठकर खड़े हो जाएँगे और उनका समुचित आदर करेंगे। क्षत्रिय वर्ण के व्यक्तियों का स्थान भी समाज में ऊँचा रहेगा, यद्यपि वैश्य वर्ण की तुलना में उनकी आमदनी बहुत कम होगी। वर्तमान समय में मनुष्य की सामाजिक स्थिति उसकी आर्थिक दशा पर निर्भर रहती है। वही व्यक्ति सम्मान प्राप्त करता है, जो धनी हो। शक्ति भी उसी में केन्द्रित रहती है। वह राजपुरुषों को भी अपनी मुट्ठी में रख सकता है, और विद्वानों तथा विज्ञानवेत्ताओं को भी। यही कारण है, जो सब कोई धन के पीछे भागते हैं। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संगठन में वैश्य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद है। व्यापार, उद्योग और कृषि द्वारा वह धन का उपार्जन करता है, पर उसे न ब्राह्मण के समान सर्वाधिक सम्मान प्राप्त होता है, और न क्षत्रिय के समान शक्ति ही उसके हाथों में रहती है। जो सिपाही सेना में भरती होते हैं, उसका कारण वहाँ दिया जाने वाला वेतन ही नहीं होता। लाखों सैनिक देश की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति दे देते हैं। इसके लिए जो तत्त्व उन्हें प्रेरित करता है, वह आर्थिक लाभ न होकर एक उच्च आदर्श होता है। समाज में ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं, जो ब्राह्मण-वृत्ति या क्षात्र जीवन को अपनाने में गौरव अनुभव करें, और धन की तुलना में अन्य बातों को अधिक महत्त्व दें। यदि इन्हें समुचित सम्मान प्राप्त हो और शक्ति भी इनके हाथों में रहे, तो इस बात से इन्हें असंतोष नहीं होगा कि वैश्यों की तुलना में इनकी आर्थिक आमदनी कम है। शूद्र वर्ण में केवल ऐसे व्यक्तियों को अन्तर्गत किया जायगा, शिक्षा के सब अवसर प्राप्त होने पर भी जो अधिक योग्यता प्राप्त न कर सके हों। यदि इनकी आर्थिक आमदनी कम रहे या समाज में इन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त न हो सके, तो इसमें किसी अन्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पर ऐसे लोगों की संख्या अधिक नहीं होगी। व्यापार, उद्योग, शिल्प, कृषि, पशुपालन व आर्थिक उत्पादन के साथ सम्बन्ध रखने वाले ये सब कार्य वैश्य वर्ण के हैं। गुरुजनों ने अपने शिष्यों की रुचि, प्रवृत्ति, योग्यता आदि के रिकार्ड को देखकर उन्हें जिस कार्य के योग्य पाया होगा, उसी के अनुसार वे उसे वर्ण प्रदान करेंगे और राजसभा या शासन द्वारा उन्हें उसी वर्ण का ऐसा कार्य दिया जायगा जो उनकी रुचि एवं योग्यता के अनुरूप हो। इस दशा में उनकी

आर्थिक आमदनी में अन्तर रह सकता है, पर इस विषमता का आधार उनकी योग्यता व क्षमता में भेद ही होगा, कोई अन्य तत्त्व नहीं। इस प्रकार की विषमता को कदापि अनुचित नहीं कहा जा सकता। यदि इस ढंग से व्यक्तियों की आमदनी में अन्तर भी रहे तो उन्हें कोई शिकायत भी नहीं होनी चाहिये। आठ साल की आयु के पश्चात् सन्तान का भार माता-पिता पर नहीं रहेगा, समाज या राज्य उनकी पूरी उत्तरदायिता ले लेगा। इस दशा में आमदनी की कमी उन्हें बहुत खलेगी भी नहीं, विशेषतया जब वे जानते होंगे कि उन्हें भी शिक्षा प्राप्त कर योग्य बनने का वही अवसर मिला था, जो उनके अधिक धनी व अधिक सम्मानित साथियों को प्राप्त था, और यदि वे जीवन-संघर्ष में अपने साथियों से पीछे रह गये, तो इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो शिक्षा-प्रणाली प्रतिपादित की है, उसे अपना लेने पर सामाजिक-आर्थिक न्याय स्थापित हो सकता है, और आर्थिक विषमता के प्रश्न को लेकर समाज में जो अशान्ति विद्यमान है उसे दूर किया जा सकता है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि यह क्रियात्मक नहीं है। माता-पिता यह कभी नहीं चाहेंगे कि आठ वर्ष की आयु के पश्चात् सन्तान का उनके साथ कोई सम्बन्ध न रहे, और वे यह भी स्वीकार नहीं करेंगे कि यदि उनकी सन्तान गुण, रुचि एवं योग्यता की भिन्नता के कारण किसी अन्य परिवार का अंग बनने के योग्य समझी जाए, तो उनके अपने परिवार से उसका सम्बन्ध सदा के लिए टूट जाए। निस्सन्देह, महर्षि के ये मन्तव्य अत्यधिक क्रान्तिकारी हैं। पर कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित कम्युनिज्म के सिद्धान्त कम क्रान्तिकारी नहीं हैं। कम्युनिस्ट व्यवस्था में आर्थिक उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का स्वत्व रह ही नहीं जाता, और भूमि भी किसानों के स्वत्व में न रहकर समाज की सम्पत्ति हो जाती है। उत्तराधिकार उस व्यवस्था में रहता ही नहीं है। यदि संसार की आधी के लगभग जनता कम्युनिज्म जैसी क्रान्तिकारी व्यवस्था को अपना सकती है, तो महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों को अक्रियात्मक कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः, महर्षि के मन्तव्य कम्युनिज्म की तुलना में जनता को अधिक ग्राह्य होने चाहियें। उनमें सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार भी बना रहता है, और उत्तराधिकार भी। पर सम्पत्ति (व्यापार, उद्योग, खेत आदि) पर उसी व्यक्ति का स्वत्व रहता है, जो वैश्य-वर्ण के आदर्श के अनुसार सार्वजनिक हित की दृष्टि से उसके उपयोग की क्षमता रखता हो। पूँजीपति और भूमिपति सम्पत्ति के स्वामी न होकर उसके ट्रस्टी मात्र हैं, यह सिद्धान्त महर्षि की व्यवस्था द्वारा ही क्रियान्वित हो सकता है।

वर्तमान समय में भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है, उसके दोषों की ओर ध्यान खींचने की कोई आवश्यकता नहीं है। उससे न बच्चों का चरित्र निर्माण होता है, न वे अनुशासित होते हैं और न वे अच्छी शिक्षा ही प्राप्त करते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों के अनुसार जो गुरुकुल स्थापित किये जाएँगे, वे जहाँ बच्चों को सच्चरित्र, तपस्वी व उत्तम नागरिक बनायेंगे, वहाँ साथ ही उन द्वारा उन समस्याओं का समाधान भी सम्भव होगा जो आज समाज में अशान्ति उत्पन्न कर रही हैं। स्वतन्त्र भारत के संविधान के उद्देश्यों की पूर्ति गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली को अपनाने पर ही सम्भव होगी, क्योंकि आर्थिक व सामाजिक न्याय की स्थापना उसी द्वारा की जा सकती है।

परिशिष्ट

आज से तीन-चौथाई सदी पहले गुरुकुल काँगड़ी का क्या स्वरूप था, और देश-विदेश के बुद्धिजीवी शिक्षाविज्ञ लोग उसे किस दृष्टि से देखते थे, यह प्रदर्शित करने के लिए यहाँ दो लेख उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१) एक लेख रेवेरेण्ड श्री सी० एफ० एण्ड्रूज का है, जो २१ एप्रिल सन् १९१३ को लाहौर के अंग्रेजी दैनिक ट्रिब्यून में प्रकाशित हुआ था।

(२) दूसरा लेख श्री डी० एन० बैनर्जी की पुस्तक 'Indian's Nation Builders' से लिया गया है, जो सन् १९१९ में हेडले ब्रादर्स, लण्डन द्वारा प्रकाशित की गई थी।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का क्या स्वरूप था, यह इन दो लेखों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। वर्तमान समय के गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से यह पुराना गुरुकुल कितना भिन्न था?

(१)

The Gurukula and its Ideals

(by The Rev. C.F. Andrews, Delhi)

During the recent delightful visit to Hardwar, I was invited to write an article on the Institution. I do this with the utmost readiness, not only on account of the inexpressible kindness which I received from every member of the Staff, but also because I was allowed the fullest possible opportunities of seeing clearly with my own eyes the whole system of education which was in vogue, and could thus form my own unbiased opinion about it. I would say, at the very outset, that I was immensely impressed, and have far more praise than criticism to offer. My dear friend and host, Mahatmaji, has asked me specially to give whatever criticism I feel to be necessary, and I shall do so faithfully but as I have said, my impressions were in nearly all respects so favourable that criticism must take a minor, instead of a major place.

When I sit down to think out carefully the reasons for the success in the Gurukula education which I witnessed during my visit, it become clear to me that it springs directly out of the ideals and principles on which the School and College have been founded, rather than on any happy and fortunate combination of circums-

tances which have been in op:ration. This is clear from the fact, that the outer circumstances have been again and again, from the very first, adverse in the extreme—shortage of funds, difficulties of administration, lack of adequate equipment-indeed an uphill struggle all the way. Success, that is to say, has been rested out of seeming failure, what has been accomplished has been never easily attained ; sacrifice and fortitude have been demanded every step of the way ; the work has had to stand the test of opposition and discouragement of almost overwhelming obstacles only ultimately surmounted by a persistent pursuit of high ideas.

The path forward, indeed, has not been unlike the clearing of the land on which the Gurukula is now situated. Mahatmaji told me that when he first came to the spot he lost his way for a time in the jungle, so beset with obstables was the path he had to traverse. When, after great difficulty, he found the spot, it was quite unfit for human habitation. The undergrowth was so thick, that for days and weeks the workers had to go on cutting it away. The wild beasts were so numerous, that the workers would not stay on the spot unless he himself kept with them all the while. In this way, after long delays, the place was made habitable. Each step forward had meant bringing out of chaos.

Today the result of all this past labour is to be seen in the broad playing fields and the splendid open space ; in a dry and healthy site, with abundance of good and wholesome water ; and above all in buildings well laid out and carefully planned with ample courtyards and sanitary surroundings. Though the school is near the bed of the river Ganges there are very few mosquitos, and malaria practically does not exist.

(*The TRIBUNE, Lahore, April 29, 1913*)

(२)

Swami Dayanand Saraswati

(1824-1883)

European travellers in India are naturally impressed with the stateliness and beauty of the Taj Mahal, that noble monument of Indian art. There is another building, which is quite likely to escape their notice, being far, far less imposing in point of architectural design and idea, situated some three miles below Hardwar and built on 900 acres of redeemed jungle track, that stands as a permanent memorial to the unique services to India of an enthusiatic Hindu reformer. It were sheer sacrilege to compare the two buildings in reference to their artistic pretensions. The institution to which we refer is the Gurukula(literary seat of learning) established

in 1902, mainly through the efforts of Mahatma Munshi Ram a successful pleader of Jullundhur and one of the most prominent members of the vegetarian section of the Arya Samaj. At the moment of writing this Gurukula contains more than 300 students, about 40 in the college classes and the remaining in the various forms of the school Department. There are thirteen superintendents and a full complement of most competent teachers, who together with the governor, Mr. Munshi Ram, stand committed to vows of chastity, poverty and obedience. The scholars are admitted to the school when only seven or eight years of age, and must remain on the rolls for sixteen years.

Before admission they must have vows of chastity, obedience, and poverty and renew these vows ten years later. During this period, the students must he Brahmacharis i.e. celibates. They can associate with no women and indeed their own relations visit them usually about twice a year, with the permission of the governor and in the presence of one of the superintendents.

The governor draws no salary for his services, and in fact has given away to the school almost the entire earnings of a lifetime and the value of his estate. The teachers, that are distinguished graduates of Indian universities, are only given maintenance allowance. The staff work in cordial cooperation and in complete loyalty to the governor, who has won their confidence through his winsome manners and selfless devotion to duty. The scholars lead a completely communal life, having all things in common. Even presents and gifts brought by their parents or guardians are equally divided among the scholars. In seasons of sickness, the various students gladly take up nursing by rotation. Till the age of fourteen, the pupil are exclusively well-ground in Sanskrit and in the central ideas of Hindu philosophy and religion, through the medium of Hindi or Sanskrit. As yet they are not introduced to the culture or ideas of Western civilisation. When this preliminary discipline is over, they are then tought English, the Physical science, Philosophy and Economics and related subjects, in accordance with the curriculum of universities on the English model. There is a well equipped library attached to the Gurukul as also physical and chemical laboratories. There are industrial and technological classes connected with the school for the benefit of all. Strenuous physical exercise in insisted on as part of the training.

The scholars pay no tuition fees but only a mere pittance for board and residence. They dress in saffron robes of the devotee. The College Board of Control has decided to abolish even these nominal charges with a view to bringing the institution into line with

say she ancient Hindu University of Taxila. But paucity of funds, the writer understands, was the only barrier to the proposed abolition.

This remarkable institution, whose promoters rightly believe in religious discipline as the bedrock of a national system of education, is a living momento to the hero of our present little sketch. It is a unique educational experiment, combining a revived Hindu monasticism with European culture of an advanced type. The main idea is to instil into the impressionable minds of the young the wealth and magnificence of their own religious and cultural heritage, thus trying to avoid the mental disturbance which might otherwise result as the central ideas of western science and philosophy came into violent conflict with crude animistic religious notions. The school is so situated that the minds of the young are in constant touch with nature, the snow-clad peak of the Himalayas rising in proud and solitary splendour above the lower hills at the foot of the Upper Ganges. The students are thus in communion with the freshness and varicoloured beauties of nature, as were the Munis and Rishis of ancient India, that were inspired to write the sublime hymns of the Rigveda, long before the dogmas and creeds of a alter priestvidden Hinduism become a clogging material to the flow of soul.

It is under these surroundings that the institution professes to train and equip boys to be useful citizens and religions and national leaders. The general atmosphere may impress the Westerners as somewhat confining and restricting, isolated from the facts and realities of the surrounding world. The institution even undertakes to provide suitable wives, sharing common ideals with the scholars, when the prolonged probation and novitiate are over.

चौबीसवाँ अध्याय

वानप्रस्थ आश्रम और योग धाम

(१) वानप्रस्थ आश्रमों की आवश्यकता

जैसे मानव-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों (वर्गों) में विभक्त है, वैसे ही मानव-जीवन के चार भाग या आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य को विद्या पढ़कर तथा अनुशासित रूप से जीवन बिताकर अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करना होता है, और फिर युवा हो जाने पर सांसारिक अभ्युदय के लिए प्रयत्न करना होता है। इस प्रयोजन से मनुष्य विवाह करता है, सन्तान उत्पन्न करता है और अपने-अपने परिवार तथा समाज के लिए आर्थिक साधनों को जुटाने के प्रयोजन से अपनी योग्यता व क्षमता के अनुसार किसी काम-धन्धे (खेती, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, शिल्प आदि) का अनुसरण करता है। मनुष्यों की अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं। उसे भोजन और वस्त्र चाहिएँ, रहने के लिए मकान चाहिए, जीवन को सुखी व सम्पन्न बनाने के लिए अनेकविध साधन चाहिएँ। इन सबकी प्राप्ति अर्थ (धन) द्वारा ही सम्भव है। अत: यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए आर्थिक साधनों को जुटाने का प्रयत्न करे। यह सब उसे गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही करना है। अपनी आयु का एक-चौथाई भाग मनुष्य को धन कमाने, पारिवारिक सुख भोगने तथा सांसारिक उन्नति एवं समृद्धि के लिए प्रयत्न करने में लगाना चाहिए। पर मानव-जीवन का उद्देश्य केवल लौकिक अभ्युदय ही नहीं है। इससे ऊँचा भी एक उद्देश्य है, जिसे शास्त्रों में "नि:श्रेयस" (मोक्ष) कहा गया है। इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को गृहस्थ आश्रम का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना होता है। मनुस्मृति के अनुसार जब मनुष्य के बाल श्वेत होने लगें, और पुत्र की भी सन्तान उत्पन्न हो जाए, तो परिवार से विदा होकर उसे अरण्य (आरण्यक आश्रम) में प्रवेश कर लेना चाहिए, और पुत्र-कलत्र आदि की सब चिन्ताओं से मुक्त होकर अपना सब समय अध्यात्म-चिन्तन, जनसेवा तथा परोपकार में लगाना चाहिए। इस आश्रम में प्रवेश कर लेने पर मनुष्य को इस योग्य बनने का प्रयत्न करना होता है कि वह अधिक व्यापक क्षेत्र में मानव-हित व कल्याण कर सके और साथ ही उस मार्ग पर भी अग्रसर हो सके, जिस पर चलकर वह जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होकर नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति कर सकता है।

प्राचीन समय में भारत में बहुत-से ऐसे आश्रम हुआ करते थे, जहाँ वृद्ध हो जाने पर मनुष्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर निवास कर सकते थे। ये आश्रम नगरों से दूर प्राय: जंगलों में स्थित होते थे, इसी कारण इन्हें आरण्यक आश्रम भी कहा जाता था।

इनमें सब आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध रहती थीं, और वहाँ रहते हुए मनुष्य भोगमय जीवन का परित्याग कर सादगी तथा तपस्या से जीवन बिता सकते थे। ये वानप्रस्थ आश्रम जहाँ व्यक्तियों के लिए अत्यन्त उपयोगी थे, वहाँ साथ ही एक गम्भीर सामाजिक समस्या का भी इन द्वारा समाधान हो जाता था। जब सन्तान बड़ी हो जाती है, और पुत्र विवाह कर गृहस्थ जीवन बिताने लगते हैं, तो माता-पिता के लिए उनके साथ रह सकने में अनेकविध कठिनाइयाँ आने लगती हैं। उनके रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार व आदतों में अन्तर आने लगता है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। युवा दम्पती की कितनी ही बातें उनके बृद्ध माता-पिता को समुचित प्रतीत नहीं होतीं, जिसके कारण उनके मन में एक प्रकार की बेचैनी उत्पन्न होने लगती है। यदि परिवार का कोई अपना काम-धन्धा हो, और पुत्र भी पिता के साथ उसी धन्धे (व्यापार, शिल्प, व्यवसाय आदि) में लग गया हो, तो उसकी व्यवस्था, संचालन-नीति व कार्यविधि आदि के सम्बन्ध में भी उनमें मतभेद उत्पन्न होने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके लिए साथ रहकर काम कर सकना कठिन हो जाता है। युवा पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के व्यक्तियों के विचारों व दृष्टिकोण में अन्तर होना सर्वथा स्वाभाविक है। इसके कारण माता-पिता के लिए अपने युवा पुत्र के साथ काम-धन्धा कर सकना व रह सकना सुगम नहीं रह पाता। मनु महाराज ने इसीलिए यह विधान किया था कि बृद्ध हो जाने पर मनुष्य स्वेच्छापूर्वक सब काम-धन्धा पुत्र के सुपुर्द कर स्वयं वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर ले।

माता-पिता तथा युवा सन्तान के परिवारों के एक-साथ न रह सकने की समस्या आधुनिक समय में और भी अधिक उग्र रूप धारण करती जा रही है। गत एक सदी में विज्ञान की जिस तेजी के साथ उन्नति हुई है, उसके कारण मनुष्यों के आचार-विचार, रहन-सहन तथा मान्यताओं में भी तेजी से परिवर्तन आने लगे हैं। युवा-वर्ग अब पुरानी मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र व स्वच्छन्द जीवन बिताना चाहता है, जिसे पुरानी पीढ़ी के लोग पसन्द नहीं करते। इसीलिए परिवारों में अनेकविध समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं, और पारिवारिक सम्बन्धों में कटुता भी आने लगती है। पुरानी मान्यता के अनुसार माता-पिता की सेवा करना सन्तान का कर्तव्य है। बृद्ध हो जाने पर मनुष्य के लिए धन का उपार्जन कर सकना सम्भव नहीं रहता। अतः अपने निर्वाह के लिए भी उसे सन्तान पर निर्भर करना पड़ता है। पर आधुनिक युग में आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि युवा दम्पती के लिए अपनी कमाई से उन्हें पूरा कर सकना भी सुगम नहीं होता, फिर बृद्ध माता-पिता की सीमित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धन की व्यवस्था कर सकना उन्हें कठिन लगने लगता है। यही कारण है कि कतिपय पाश्चात्य देशों में बृद्ध व्यक्तियों के लिए पृथक् गृह (Home) स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू हुई है, जिसमें साधारण शुल्क देकर बृद्ध लोग रह सकते हैं। वहाँ के अन्य निवासी भी उन्हीं की आयु के होते हैं, उनके आचार-विचार, रहन-सहन आदि में भी समानता होती है। ये एक प्रकार के वानप्रस्थ आश्रम ही हैं, जिनमें बृद्ध व्यक्ति गृहस्थी व पारिवारिक जीवन के झंझटों से मुक्त होकर शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकते हैं। पर इस प्रकार के "बृद्ध गृह" अभी कुछ ही देशों में स्थापित हुए हैं, और वे भी बहुत कम संख्या में। ग्रेट ब्रिटेन सदृश पाश्चात्य देशों में बृद्ध व्यक्तियों के लिए बृद्ध-गृहों में जीवन बिता सकना विशेष कठिन नहीं होता, क्योंकि कमाई के योग्य न रहने पर सरकार द्वारा

उन्हें वृत्ति(dole)दी जाती है, और इस वृत्ति से वे अपना खर्च सुगमता से चला सकते हैं।

पर भारत में अभी न वृद्ध-गृह हैं, और न वृद्धावस्था में वृत्ति दिये जाने की ही व्यवस्था है। जिन लोगों को पैंशन मिलती है, वे अपना निर्वाह तो कर सकते हैं, पर युवा व्यक्तियों के साथ एक परिवार में रहने की समस्याएँ उनके सम्मुख भी आती रहती हैं। भारत में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है, पैंशन के रूप में जिनकी सुनिश्चित आमदनी हो। बहुत बड़ी संख्या ऐसे व्यक्तियों की है, जिन्हें वृद्धावस्था में अपने निर्वाह के लिए आर्थिक समस्या का भी सामना करना पड़ता है। इन सब समस्याओं के समाधान का एक उपाय प्राचीन आश्रम-व्यवस्था को फिर से अपनाकर ऐसे वानप्रस्थ आश्रमों को स्थापित करना है, जिनमें बड़ी आयु के नर-नारी सुखपूर्वक रहते हुए अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सकें, और साथ ही अपनी योग्यता व सामर्थ्य के अनुसार समाज-सेवा व परोपकार के लिए भी समय दे सकें। अध्यात्म-चिन्तन तथा साधना द्वारा "निःश्रेयस" का आदर्श तो उन्हें सम्मुख रखना ही होगा। पर आश्रम-व्यवस्था का पुनरुद्धार कर वृद्ध नर-नारियों के लिए आरण्यक व पृथक् आश्रमों की स्थापना कोई सरल कार्य नहीं है। आधुनिक काल में मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं, सादे-से-सादे ढंग से जीवन-यापन के लिए भी पर्याप्त धन अपेक्षित है। वानप्रस्थ आश्रमों में निवास करनेवाले व्यक्ति धन का उपार्जन तो कर नहीं सकते। यदि उन्हें ही कमाना होता, तो वे गृहस्थ आश्रम का परित्याग कर वानप्रस्थ की दीक्षा क्यों ग्रहण करते। पर वानप्रस्थ होते हुए भी अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो धन अपेक्षित है, उसकी व्यवस्था तो उन्हें करनी ही होगी। जो व्यक्ति किसी सर्विस से अवकाश प्राप्त कर पैंशन पा रहा है, उसके लिए धन की समस्या नहीं होती, क्योंकि वानप्रस्थ आश्रम में रहते हुए वे अपनी पैंशन से निर्वाह कर सकते हैं। पर जिन व्यक्तियों ने अपना कारोबार (कारखाना, दुकानें, व्यवसाय व खेती आदि) सन्तान के सुपुर्द कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया हो, उन्हें ऐसी व्यवस्था करनी होगी, जिससे कि उनकी सन्तान एक सुनिश्चित धनराशि उन्हें निर्वाह के लिए देती रहें। तभी आश्रम-व्यवस्था की पुनःस्थापना की अनेकविध समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। इसमें चाहे क्रियात्मक दृष्टि से अनेकविध कठिनाइयाँ क्यों न हों, पर यह निर्विवाद है कि इसे अपनाना उपयोगी व वांछनीय है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वर्णाश्रम-व्यवस्था का भी निरूपण किया है, अतः आर्यसमाज के नेताओं के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे महर्षि की अन्य शिक्षाओं के समान आश्रम-व्यवस्था का पुनरुद्धार करने का भी प्रयत्न करें और इसी प्रयोजन से वानप्रस्थ आश्रमों की स्थापना पर भी ध्यान दें।

गत वर्षों में न केवल भारत, अपितु संसार के अन्य देशों में भी योग के प्रति रुचि बढ़ रही है। आर्यों द्वारा भी योग में लोगों को प्रशिक्षित करने के प्रयोजन से उनके योगधामों तथा योगसाधना-शिविरों की स्थापना की गई है।

(२) वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर की स्थापना

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित आश्रम-व्यवस्था को पुनः स्थापित करने के लिए आर्यसमाज द्वारा जहाँ गुरुकुलों के रूप में अनेक ब्रह्मचर्याश्रमों की स्थापना की गई, वहाँ साथ ही वृद्ध नर-नारियों के लिए विरक्त (वानप्रस्थ व संन्यास) आश्रम

भी खोले गये। इनमें सबसे प्रसिद्ध व महत्त्वपूर्ण ज्वालापुर (हरिद्वार) का विरक्त वानप्रस्थ आश्रम है।

वानप्रस्थ-आश्रम स्थापित करने का विचार सबसे पहले लाला खुशीराम ने प्रस्तुत किया था। लाला जी सन् १८९२ के लगभग कई वर्षों तक आर्यसमाज वच्छोवाली, लाहौर के मन्त्री रहे थे। लाहौर में वे पोस्ट मास्टर के पद पर कार्यरत थे। सर्विस से अवकाश प्राप्त कर जब उन्होंने लाहौर छोड़ा, तो कुछ समय गुरुकुल काँगड़ी में कार्य किया, और फिर देहरादून जाकर रहने लगे। वहीं उनके मन में वानप्रस्थ आश्रम खोलने का विचार उत्पन्न हुआ, और इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किया। पर अन्य आर्य जनों से मतभेद होने के कारण वे अपने विचार को क्रियान्वित नहीं कर सके। उनके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम के विचार को पुनर्जीवित करने और उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए पण्डित तुलसीराम स्वामी अग्रसर हुए। वे मेरठ से "वेद प्रकाश" नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया करते थे। वानप्रस्थ आश्रम की आवश्यकता पर उन्होंने "वेदप्रकाश" में अनेक लेख लिखे। इसी प्रयोजन से वे कई बार हरिद्वार गये, और आश्रम के लिए भूमि प्राप्त करने का प्रयत्न किया। पर वे भी सफल नहीं हो सके।

सन् १९२६ ई० में महात्मा नारायण स्वामी जी ने वानप्रस्थ आश्रम की योजना को क्रियान्वित करने का बीड़ा उठाया, और इसी कार्य के लिए वे दिल्ली से हरिद्वार गये। उन्हें आश्रम के लिए उपयुक्त भूखण्ड की तलाश थी। इस कार्य में पण्डित गंगाप्रसाद (चीफ जज, टिहरी) ने उनकी सहायता की। हरिद्वार, कनखल, मायापुर और ज्वालापुर, में उन्होंने अनेक जमीनें देखीं। अन्त में ज्वालापुर तथा हरिद्वार के बीच में उस भूमिखण्ड को पसन्द कर लिया गया, जहाँ अब वानप्रस्थ आश्रम विद्यमान है। भूमि को पसन्द कर लेने पर उसे खरीदने का प्रबन्ध किया गया। इसमें कठिनाइयाँ अवश्य आयीं, पर अन्त में सफलता प्राप्त हो ही गई। प्रश्न यह था कि जमीन की रजिस्ट्री किसके नाम की जाए? क्योंकि इस आश्रम का स्वरूप अखिल भारतीय व सार्वदेशिक था, अत: स्वाभाविक रूप से जमीन की रजिस्ट्री सार्वदेशिक सभा के नाम होनी चाहिए थी। पर उन दिनों सार्वदेशिक सभा की दशा कुछ डाँवाडोल थी, अत: जमीन का सेल डीड संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम कराया गया। भूमि प्राप्त हो जाने पर वानप्रस्थ आश्रम की स्थापना कर दी गई। आश्रम में पहली कुटी श्री नारायणस्वामी जी ने बनवाई, और उनके साथ ही चार अन्य सज्जनों ने भी अपनी-अपनी कुटियाँ बनवा लीं। कुटियाँ बनवाने के बारे में यह शर्त रखी गई कि जब तक कुटी बनवानेवाला व्यक्ति जीवित रहे, उसमें निवास कर सके। पर उसकी मृत्यु हो जाने पर कुटी आश्रम की हो जाए। इस शर्त को स्वीकार करने पर ही कोई व्यक्ति आश्रम में कुटी बना सकता था। इस प्रकार ज्वालापुर के वानप्रस्थ आश्रम की स्थापना हुई, और उसमें निवास करनेवाले वानप्रस्थियों की दिनचर्या आदि का भी निर्धारण कर दिया गया, ताकि वे अपना समय ईश्वर की उपासना तथा सेवा के कार्यों में भलीभाँति लगा सकें।

मार्च, सन् १९२८ ई० तक आश्रम की भूमि की रजिस्ट्री आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के नाम हो चुकी थी, और उस पर कब्जा भी प्राप्त हो गया था। ३० मार्च, सन् १९२८ ई० को रामनवमी के शुभ दिन आश्रम की भूमि का प्रवेश-यज्ञ किया गया और १५ नवम्बर, १९२८ ई० को यज्ञ के पश्चात् महात्मा नारायण-

स्वामी जी द्वारा आश्रम की आधारशिला रखी गई। भवन-निर्माण का कार्य महाशय जुगल किशोर को सौंपा गया, और ३० नवम्बर, १६२८ ई० को उनकी देखरेख में भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया। वानप्रस्थ-आश्रम में निवास के लिए बारह महानुभावों ने वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश की दीक्षा ग्रहण की, और आठ सज्जनों ने संन्यास आश्रम की। इस प्रकार सन् १६२८ ई० में जिस आश्रम का बीजारोपण किया गया था, बाद में वह एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो गया। इस आश्रम का विकास इतनी तेजी के साथ हुआ कि ६० से भी कम वर्षों में इसमें कुटियों की संख्या ३८४ तक पहुँच गई।

आश्रम की कुटियाँ तीन प्रकार की हैं—

१. केवल पुरुषों के लिए।
२. केवल महिलाओं के लिए।
३. पति-पत्नी के लिए

सब कुटियों में बिजली व पानी की सुविधा है। प्रथम दो प्रकार की कुटियों में पृथक् शौचालय, स्नानगृह तथा रसोई की व्यवस्था नहीं है। पर तीसरे प्रकार की कुटियों में पृथक् शौचालय आदि की सुविधा है। आश्रम का एक भोजनालय है, जहाँ लागत मात्र मूल्य पर सात्त्विक व पौष्टिक भोजन प्राप्त किया जा सकता है।

आश्रम में स्थायी रूप से निवास करनेवाले व्यक्तियों की संख्या २५० के लगभग है। इनके अतिरिक्त अनेक वानप्रस्थ, संन्यासी तथा गृहस्थ समय-समय पर आश्रम में आकर सत्संग का लाभ उठाते हैं। जिन लोगों ने आश्रम में अपने लिए कुटियाँ बनवाई हों या बाद में मूल्य देकर प्राप्त की हों, उन्हें जीवन-पर्यन्त उनमें रहने का अधिकार होता है। अन्य व्यक्तियों को भी स्थायी व अस्थायी रूप से निवास की सुविधा प्रदान की जाती है। सबके लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मानना, एवं आचार-व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि के सम्बन्ध में आश्रम के नियमों का पालन आवश्यक है। आश्रम में कुटियों का कोई किराया नहीं लिया जाता, पर बिजली, पानी, यज्ञ, सफाई-कर्मचारी आदि के खर्च के लिए नाममात्र धनराशि अवश्य ली जाती है।

आश्रम के उद्देश्य

१. आर्य विरक्त (वानप्रस्थ संन्यासी) नर-नारियों के एकांतवास एवं चिन्तन, वेदादि शास्त्रों के पढ़ने, पढ़ाने, मन और इन्द्रियों को जीतकर योगाभ्यास करने, आत्मा-परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार के उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों के विचार की व्यवस्था करना।

२. (क) आश्रम-वासियों को वैदिक धर्म एवं संस्कृति का सैद्धान्तिक एवं वैदिक कर्मकाण्ड का क्रियात्मक बोध कराना और उनका साधारण जनता में प्रचार करना।

(ख) आश्रमवासियों को रहन-सहन, खान-पान एवं वेश-भूषा में सादगी व मितव्ययता अपनाने के लिए प्रेरित करना और साधारण जनता के नैतिक उत्थान के लिए प्रचार करना।

(ग) छूतछात का निवारण करने एवं जाति-भेदों को दूर करने की दृष्टि से अन्दर तथा बाहर ग्रामादि में प्रचार करना।

३. आश्रमवासियों तथा आगत महानुभावों को संस्कृत तथा हिन्दी का बोध कराने के तथा साधारण ज्ञान-वर्धन की दृष्टि से ज्ञान-गोष्ठियों, पुस्तकालय तथा वाचनालय की व्यवस्था करना।

४. आश्रमवासियों एवं साधारण जनता के हितार्थ वर्तमान औषधालयों के संचालन एवं उन्नति और विस्तार के लिए प्रयत्न करना।

५. निर्धन छात्रों को शिक्षा दिलाने में सहायता करना तथा छात्रों में अनुशासन, राष्ट्रीयता, नैतिक एवं वैदिक संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करना।

६. वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक साहित्य का सृजन एवं प्रकाशन कराना और उसे जनता में पहुँचाना।

७. उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त विभिन्न स्रोतों से दान प्राप्त करना और उसके उचित उपयोग की व्यवस्था करना।

आश्रम में प्रवेश के नियम

१. इस आश्रम में चालीस वर्ष की आयु से अधिक आयुवाले केवल वे नर-नारी ही प्रवेश पा सकते हैं जो किसी आर्यसमाज के सदस्य रहे हों और वैदिक कर्म-कांड, सन्ध्या-हवन आदि नित्य करते हों।

२. आश्रमवासियों के अतिरिक्त कोई व्यक्ति प्रधान या उनके द्वारा नियुक्त व्यक्ति की आज्ञा के बिना आश्रम में नहीं ठहर सकता।

३. आश्रम में कोई व्यक्ति प्रधान की आज्ञा से केवल एक मास तक निवास कर सकता है, उससे अधिक अवधि के लिए आश्रम की अन्तरंग सभा की स्वीकृति से आज्ञा दी जा सकती है।

४. आश्रम में मद्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ खाना और सेवन करना, किसी प्रकार का जुआ, ताश, चौपड़ आदि खेलना सर्वथा वर्जित है। मद्य के अन्तर्गत समस्त प्रकार के नशे सम्मिलित हैं। तम्बाकू खाना, पीना, सूँघना भी निषिद्ध है।

५. आश्रमवास के इच्छुक नर-नारियों का स्वस्थ होना अनिवार्य है, क्योंकि यथा-सम्भव अपना कार्य स्वयं करना होता है। आश्रम का सेवक किसी विशेष अवस्था में ही उनकी सहायता कर सकता है।

६. आश्रमवासियों की अपनी रुचि, सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार आश्रम-प्रधान के अनुरोध पर आश्रम में सेवा कार्य करना एवं अपनी कुटिया के बाहर सफाई आदि रखना आवश्यक है।

७. आश्रमवास के इच्छुक नर-नारियों में मधुर एवं सत्य-भाषण आदि आर्योचित गुण अधिक-से-अधिक मात्रा में होना अनिवार्य है।

आश्रमवासियों की दिनचर्या

१. प्रत्येक आश्रमवासी को उषाकाल से पूर्व ३.५० बजे घण्टी बजने पर उठकर ५.५० बजे तक तथा सायं ऋतु के अनुसार निर्धारित एक घण्टा मौन रखना

होता है और मौन बेला में ईश्वर-चिन्तन, अभ्यास, सन्ध्या, स्वाध्याय, नित्य-कर्म करने होते हैं।

२. प्रत्येक आश्रमवासी को आश्रम में होनेवाले प्रातः दो घण्टे और सायं एक घंटा यज्ञ और सत्संग में सम्मिलित होना अनिवार्य है। विशेष रुग्णावस्था में तथा प्रधान की अनुमति से कार्यरत रहने की अवस्था में नियम का विकल्प माना जायगा।

३. अपनी रुचि अनुसार आश्रमवासियों को संस्कृत और हिन्दी की कक्षाओं में सम्मिलित होकर ज्ञानवर्धन करना चाहिए।

आश्रम की अन्य सम्पत्ति व अन्य कार्य-कलाप—वानप्रस्थ-आश्रम में कुटियों के अतिरिक्त एक भव्य यज्ञशाला, एक सत्संग भवन, एक पुस्तकालय भवन, चौदह फ्लश शौचालय, सात स्नानगृह, गोदाम आदि सहित एक भोजन भण्डार, टंकी-सहित एक नल-कूप, ६फव्वारे और चौदह दुकानें हैं। आश्रम के पुस्तकालय में छः हजार से अधिक पुस्तकें हैं, जो प्रायः सब धार्मिक विषयों पर हैं। पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय भी है। आश्रम में धार्मिक पुस्तकों के विक्रय की भी व्यवस्था है। वहाँ एक संस्कृत विद्यालय भी है, जिसमें संस्कृत तथा हिन्दी की शिक्षा दी जाती है, और वेद-मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण सिखाया जाता है। "महात्मा हरप्रकाश संस्कृत विद्यालय" के नाम से इसके लिए एक पृथक् इमारत भी बनायी गई है। आश्रम में चिकित्सा की भी समुचित व्यवस्था है। होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक और एलोपैथिक तीनों प्रकार की चिकित्सा के लिए डिस्पेंसरियाँ विद्यमान हैं, जिनसे आश्रमवासियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी लाभ उठाते हैं। आश्रम का मुख्य प्रवेशद्वार 'महात्मा नारायण स्वामी द्वार' कहलाता है, जहाँ पोस्ट आफिस भी खुल गया है। आश्रम के साथ ही गंगा की नहर बहती है, जिस पर सुन्दर घाट बना हुआ है, और उस पर पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए स्नान की पृथक् रूप से व्यवस्था है।

वानप्रस्थ आश्रम में एक 'ब्रह्मचारी आवास' भी है, जिसमें गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के वेद महाविद्यालय के निर्धन छात्र निवास कर सकते हैं। इन्हें वहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। यह क्रम सन् १९६२ ई० में प्रारम्भ हुआ था, जबकि ३ विद्यार्थियों को वहाँ निवास की अनुमति दी गई थी। यह संख्या निरन्तर बढ़ती गई और १९६४ में ५ तथा १९८५ में ९ तक पहुँच गई। वानप्रस्थ-आश्रम में गुरुकुल काँगड़ी के विद्यार्थियों के लिए इस सुविधा का महत्त्व उस समय बहुत अधिक बढ़ गया, जबकि सन् १९८० ई० में गुरुकुल विश्वविद्यालय का छात्रावास प्रान्तीय सशस्त्र बल (पी०ए०सी०)को दे दिया गया, और गुरुकुल के परिसर में विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के निवास के लिए कोई भी स्थान नहीं रह गया। इस दशा में गुरुकुल के विद्यार्थियों के सम्मुख केवल यह मार्ग रह गया कि वे कनखल, ज्वालापुर या हरिद्वार में कहीं कमरे किराये पर लेकर रहा करें। इन नगरों में उचित किराये पर कमरे प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं था। वानप्रस्थ आश्रम इस समय विद्यार्थियों के लिए वरदान सिद्ध हुआ, वहाँ २० से भी अधिक विद्यार्थियों को निवास की सुविधा दी जाने लगी। निःशुल्क निवास के अतिरिक्त निर्धन विद्यार्थियों को आश्रम द्वारा छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की गईं, और इसके लिए २२,४५० रुपये की स्थायी निधि स्थापित की गई।

संस्कृत, हिन्दी तथा धर्म-शिक्षा के अध्यापन की भी आश्रम में व्यवस्था है। इसके

लिए वहाँ एक शिक्षणालय विद्यमान है, जिसमें आश्रमवासी निःशुल्क अध्ययन और अध्यापन करते हैं।

वानप्रस्थ आश्रम के प्रमुख संचालक—महात्मा नारायण स्वामी जी ने ज्वालापुर के आर्य विरक्त आश्रम की स्थापना की थी। इस कार्य में उनके प्रधान सहायक तीतरों (जिला सहारनपुर)-निवासी श्री वेदमित्र जिज्ञासु, स्वामी शुक्लानन्द, स्वामी वेदानन्द, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री ज्योतिप्रसाद थे। इनमें स्वामी वेदानन्द महात्मा नारायण-स्वामी जी के पश्चात् तीन साल तक आश्रम के प्रधान रहे, और श्री ज्योतिप्रसाद अनेक वर्षों तक मन्त्री, उपमन्त्री तथा कोषाध्यक्ष के पदों पर रहकर आश्रम की उन्नति में तत्पर रहे।

महात्मा नारायण स्वामी जी के पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रम के विकास में महात्मा हरप्रकाश जी का कर्तृत्व सबसे अधिक है। हरप्रकाश जी जालन्धर जिले के राहों नामक कस्बे के एक समृद्ध परिवार में सन् १८८८ ई० में उत्पन्न हुए थे। आरम्भ से ही वे आर्य-समाजी थे, और राहों में आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे। हैदराबाद सत्याग्रह में उन्होंने एक जत्थे का नेतृत्व किया था। १९४५ ई० में गृहस्थाश्रम का परित्याग कर उन्होंने वानप्रस्थ की दीक्षा ग्रहण की, और निवास के लिए आर्य विरक्त आश्रम ज्वालापुर में चले आए। वहाँ शीघ्र ही वे महात्मा नारायण स्वामीजी के दायें हाथ बन गए और आश्रम की सुव्यवस्था व उन्नति के लिए अपनी सब शक्ति लगा दी। २३ दिसम्बर १९७४ ई० तक वे जीवित रहे और ३० वर्ष के लगभग आश्रम का संचालन करते रहे। महात्मा नारायण स्वामी जी ने आश्रम को जितना बड़ा छोड़ा था, महात्मा हरप्रकाश जी ने अपने गुणों तथा परिश्रम से उसे लगभग चार गुणा बढ़ा दिया। हरप्रकाश जी के पश्चात् जिन महानुभावों ने वानप्रस्थ आश्रम के संचालन तथा उन्नति में विशेष तत्परता प्रदर्शित की, उनमें महात्मा आर्यभिक्षुजी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने सन् १९७३ में स्वामी धर्मानन्द सरस्वती से वानप्रस्थ की दीक्षा ग्रहण की थी और आश्रम की उन्नति में विशेष रूप से सक्रिय हो गये थे।

आर्यसमाज के कितने ही विद्वानों, साहित्यकारों, सरकारी पदाधिकारियों, न्यायाधीशों, व्यवसायियों आदि के साथ इस आश्रम का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वृद्ध हो जाने पर व अपनी सर्विस या व्यवसाय से अवकाश प्राप्त कर लेने पर वे इस आश्रम में निवास करते रहे हैं। प्राचीन भारत के आरण्यक आश्रमों की पुनः स्थापना के सम्बन्ध में आर्यसमाज का यह निःसन्देह एक सफल प्रयत्न है।

(३) पातञ्जल योगधाम, ज्वालापुर

योग का शुद्ध वैदिक स्वरूप जनता के सन्मुख उपस्थित करने के लिए आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता महात्मा आनन्द स्वामी जी (पूर्व नाम ला० खुशहालचन्द जी खुर्सन्द) तथा स्वामी सच्चिदानन्द जी (पूर्व नाम पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री) ने सन् १९७२ में एक संस्था खोलने का निश्चय किया। महात्मा आनन्द स्वामी जी ने ८०० वर्ग गज भूमि आर्य नगर ज्वालापुर में गंग नहर के दक्षिण तट पर प्रदान की तथा स्वामी सच्चिदानन्द जी ने योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग-प्रणाली का उद्धार करने का बीड़ा उठाया। संस्था के नाम भूमि का पंजीकरण २१ एप्रिल १९७२ ई० को हुआ और

संस्था का शिलान्यास महात्मा आनन्द स्वामीजी के करकमलों से ६ मई १९७२ को एक साधारण समारोह में किया गया। संस्था का नाम पातंजल योग साधना संघ निश्चित किया गया, और उसके प्रतिष्ठान-पत्र, नियम व उपनियम आदि बनाये गये। उसका पंजीकरण १९-१२-७३ को हुआ। निम्न महानुभाव कार्यकारिणी के सदस्य मनोनीत किये गये—

१. स्वामी सच्चिदानन्द जी (संरक्षक)
२. आचार्य लक्ष्मीनारायण जी चतुर्वेद (प्रधान)
३. श्री मित्रसेन जी, सहारनपुर (उपप्रधान)
४. श्री कल्याणस्वरूप जी (मन्त्री)
५. डॉ० वेदव्रत जी, दिल्ली (संयुक्त मन्त्री)
६. श्री परसराम जी राँघड़वाला (कोषाध्यक्ष)
७. श्री जितेन्द्रकुमार जी एडवोकेट (प्रचार मन्त्री)

कार्यकारिणी ने २१-४-७५ की अपनी बैठक में श्री मित्रसेनजी की जगह स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती(पूर्वनाम श्री योगेन्द्र पुरुषार्थी) को उपप्रधान नियुक्त कर दिया। मई, ७२ में स्थापित यह योगधाम निरन्तर उन्नति करता गया। इसकी प्रगति को तीन चरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

प्रथम चरण—मई १९७२ से अगस्त १९७८ तक

इस काल में निर्माण-कार्य धीमी गति से चलता रहा, क्योंकि उसके लिए एक बड़ी धनराशि की आवश्यकता थी, जो तत्काल उपलब्ध नहीं थी। इन ६ वर्षों में केवल ६ कुटिया बन पायीं, जिन पर कुल ४०२४४ रुपये व्यय हुए। निम्न महानुभावों का इस कार्य के लिए सहयोग प्राप्त हुआ—

(१) महात्मा आनन्द स्वामी जी ५,३१० रुपये, (२) स्वामी सच्चिदानन्द जी १९,२८६ रुपये, (३) भारत चैरिटी ट्रस्ट कलकत्ता ६००० रुपये, (४) माता रामप्यारी जी, योगनिकेतन ऋषिकेश ५००० रुपये, (५) श्री प्रेमदेव जी २७५० रुपये, (६) श्रीमती खेमादेवी जी, कानपुर २००० रुपये, (७) श्री लक्ष्मीनारायण चौधरी, गौहाटी १२०० रुपये, (८) फुटकर दान १००) से कम, १६९८ रुपये, कुल ४०२४४ रुपये

कालभैरव गुफा की यात्रा—महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती कलकत्ता के वरिष्ठ नेताओं के आमन्त्रण पर चार मास (१६ दिसम्बर १८७२ ई० से १६ एप्रिल १८७३ ई० तक) कलकत्ता में रहे थे। उन नेताओं के आग्रह से इस काल में उन्होंने अपने जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं तथा योग-विषयक ज्ञान जो अपने गुरुओं—स्वामी ज्वालानन्द पुरी एवं स्वामी शिवानन्द गिरि—से प्राप्त किया था, उसका संक्षिप्त परिचय दिया। इन नेताओं में पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री ब्रह्मानन्द जी तथा श्री केशवचन्द्र सेन प्रभृति तत्कालीन उच्च कोटि के विद्वान् सम्मिलित थे। महर्षि के प्रवचन बंगालियों ने संस्कृत में नोट कर लिये, तदनन्तर बंगला भाषा में उनका अनुवाद कर लिया। उन्हीं लेखों के आधार पर कलकत्ता के आचार्य दीनबन्धु शास्त्री जी ने हिन्दी में उन्हें सार्वदेशिक सभा के पत्र 'सार्वदेशिक' में क्रमशः दो वर्ष तक प्रकाशित किया। उन सब लेखों का संग्रह करके तथा कलकत्ता जाकर अपनी शंकाएँ दूर करके

'योगी का आत्मचरित्र' नामक पुस्तक १९७२ ई० में स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती ने प्रकाशित की।

उस पुस्तक में कालभैरव गुफा का वर्णन आता है जो मध्यप्रदेश के खण्डवा जिले के अन्तर्गत नर्मदा के तट पर स्थित है। उसमें मौनी अमावस को प्रतिवर्ष एक ब्राह्मण-कुमार की बलि चढ़ाई जाती थी। सन् १८४७ में स्वामी दयानन्द (उस समय ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य) उस प्रदेश में योगियों की खोज में घूम रहे थे। उन्होंने बालक की बलि के स्थान पर अपनी बलि देने का आग्रह किया और सिर धड़ से अलग किया ही जानेवाला था कि मरहठे सैनिकों ने आकर सब पण्डे-पुजारियों को भगा दिया। इस तरह वह नर-बलि का अमानुषीय नाटक सदा के लिए बन्द हो गया।

उस स्थान के महत्त्व को ध्यान में रखकर स्वामी सच्चिदानन्द जी ने उस (भैरव गुफा) का दर्शन करने के लिए एक सामूहिक यात्रा का आयोजन किया, जो २०-९-७३ ई० से १-१०-७३ ई० तक सकुशल सम्पन्न हुई। इसपर ३१४३ रुपये व्यय हुआ और इसमें डेढ़ दर्जन व्यक्तियों ने भाग लिया।

प्रतिवर्ष दो बार योग साधना शिविर योगधाम में लगाये जाते रहे। अन्य नगरों में भी शिविर आयोजित किये गए, जिनकी संख्या २०० से ऊपर है। आश्रम में प्रतिदिन प्रातः-सायं साधना का कार्यक्रम भी चलता रहा। उत्तरप्रदेश सरकार के आग्रह पर पातञ्जल योग साधना संघ का नाम परिवर्तन करना पड़ा। ५ मई १९७८ ई० से संस्था का नाम 'पातञ्जल योग साधक समाज' रख दिया गया।

द्वितीय चरण—सितम्बर १९७८ से सितम्बर १९८६ तक

स्वामी सच्चिदानन्द जी हैदराबाद के योगाभिलाषी महानुभावों के निमन्त्रण पर सितम्बर १९७८ ई० में हैदराबाद प्रस्थान कर गये और २२ सितम्बर १९७८ ई० को स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती (पूर्वनाम श्री योगेन्द्र पुरुषार्थी) को आश्रम का प्रबन्धक नियुक्त कर गये। पुनः ४ मार्च १९८४ में एक विशेष आयोजन में उन्होंने घोषणा की कि वह अपने प्रिय शिष्य दिव्यानन्द सरस्वती को योगधाम का पूर्ण उत्तराधिकार सौंप रहे हैं।

इस काल में दो कुटियों का निर्माण हुआ, जिन पर ११७८१ रुपये व्यय हुआ।

संस्था के पंजीकरण का नवीनीकरण २६ फरवरी १९७६ ई० को हुआ। संस्था की कार्यकारिणी ने दो एप्रिल १९८१ ई० को अपनी बैठक में निश्चय किया कि स्वामी सच्चिदानन्द योगमिशन (आन्ध्र प्रदेश) पंजीकरण हो चुका है। उसी के अन्तर्गत यह संस्था कार्य करती रहेगी, अतः अलग से इसके पंजीकरण की आवश्यकता नहीं है।

साधकों की संख्या में वृद्धि को देखते हुए योगधाम के साथ लगती भूमि (४०० वर्ग गज) क्रय कर ली गई। इसपर ४०,००० रु० व्यय हुए। इसमें मुख्य योगदान (२०,००० रु०) स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती तथा एक हजार रुपये की सहायता स्त्री आर्यसमाज कलकत्ता से प्राप्त हुई।

आश्रम में प्रतिदिन यज्ञ करने के लिए तथा विशेष अवसरों पर बृहद् यज्ञ आयोजित करने के लिए यज्ञशाला की आवश्यकता थी। आर्य वानप्रस्थाश्रम के साधक-

साधिकाओं तथा अन्य महानुभावों के सहयोग से एक छोटी यज्ञशाला बन गई है। अब तक इसपर २५००० रु० से अधिक व्यय हो चुका है। साधकों के लिए तथा आगन्तुकों के लिए शुद्ध गौदुग्ध की समुचित व्यवस्था के लिए गौशाला-निर्माण की योजना बनाई गई। इस पर अबतक ३०,००० रु० से अधिक व्यय हो चुका है।

वैदिक तथा यौगिक अनुसन्धान का कार्य इस संस्था में आरम्भ से ही चल रहा है। इसके फलस्वरूप श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी, स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती तथा पण्डित कल्याण स्वरूप जी की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

कुम्भ मेला १९८६ के अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय विरक्त मण्डल शक्तिनगर दिल्ली की ओर से 'कुम्भ-मेला हरिद्वार वेद-प्रचार आयोजन समिति' का गठन किया गया था। इसके प्रधान स्वामी इन्द्रवेश जी तथा संयोजक स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती प्रधान योगधाम न्यास निश्चित किये गए थे। इस अवसर पर ८ मार्च १९८६ से १६ एप्रिल १९८६ तक चालीस दिवसीय एक विशाल प्रचार एवं साधना शिविर हर की पौड़ी के समीप पन्त द्वीप में आयोजित किया गया था। इसमें प्रतिदिन प्रातः-सायं साधना, चारों वेदों से ब्रह्मपारायण महायज्ञ तथा वेद-प्रचार के अतिरिक्त शिविर में भाग लेने-वाले सैकड़ों व्यक्तियों तथा अन्य दर्शक आगंतुकों के लिए ४० दिन तक दोनों समय भोजन की उत्तम व्यवस्था थी। इसमें पातंजल योग संस्थान के सभी साधकों ने तन-मन-धन से सहायता देकर इस विशाल शिविर को सफल बनाया, जिसकी प्रशंसा सबने मुक्तकण्ठ से की।

योग-प्रशिक्षण के लिए साधकों की शारीरिक स्थिति सुदृढ़ होनी आवश्यक है। उनके स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देने के लिए एक अभनुवी वैद्य की आवश्यकता प्रारम्भ से ही अनुभव की जाती रही है। वैद्य मुनिदेव जी आश्रम के इस विभाग में सेवा करते रहे। इस समय एक वीतराग अनुभवी वैद्य स्वामी योगानन्द जी सरस्वती की सेवाएँ आश्रम को उपलब्ध हैं। वैद्य जी की सेवाएँ केवल साधकों के लिए ही नहीं, अपितु जन-साधारण के लिए भी उपलब्ध हैं। इसमें ओषधि-निर्माण का कार्य भी थोड़ी मात्रा में चलता है, जिससे जनता को शुद्ध ओषधियाँ उपलब्ध हो सकें। यह ओषधि-निर्माण किसी प्रकार का लाभ अर्जित करने के लिए नहीं है। इससे यदि कुछ लाभ प्राप्त होता है, तो यह साधकों के कुशल-क्षेम पर ही व्यय हो जाता है।

तृतीय चरण—सितम्बर १९८६ से एप्रिल १९८८ तक

इस संस्था की कार्यकारिणी ने अनुभव किया कि संस्था का अपना पंजीकरण करवाना आवश्यक है। पृथक् पंजीकरण के बिना दानियों को दानराशि पर आय-कर से छूट नहीं मिल सकती, अतः अच्छी मात्रा में दान उपलब्ध नहीं हो पाता। संस्था का कार्यकलाप दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है, इसके लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। इस विचार से संस्था को 'पातंजल योगधाम न्यास' के नाम से २७ फरवरी १९८६ ई० को दिल्ली में पंजीकृत करा लिया गया, और इसके संविधान के अनुसार प्रथम अक्टूबर १९८६ से कार्य आरम्भ कर दिया गया। इसके लिए सात सदस्यों का निम्न न्यासी मण्डल गठित किया गया है :—(१) श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी, (२) श्री स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती, (३) डॉ० वेदव्रत जी, दिल्ली। (४) श्री कल्याणस्वरूप जी

वानप्रस्थ, (५) स्वामी इन्द्रवेश जी निगमाश्रम गंज, बिजनौर, (६) स्वामी ब्रह्मानन्द जी, (७) चौ० पृथ्वीसिंह जी ठेकेदार, सहारनपुर।

स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती को आजीवन न्यासी प्रबन्धक एवं प्रधान घोषित किया गया है।

प्रतिवर्ष एप्रिल के प्रथम सप्ताह तथा अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में योगधाम में शिविरों का आयोजन किया जाता है। इनमें योगाभिलाषी साधक-साधिकायें पर्याप्त संख्या में भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न स्थानों पर भी साधना-शिविर यथासमय लगाये जाते हैं।

इस संस्था की अभी तक तीन शाखायें हैं—ज्ञान मन्दिर, सिरसागंज मैनपुरी, साधनाश्रम अंगूरी बाग फर्रुखाबाद और आत्म शुद्धि आश्रम बहादुरगढ़ (हरियाणा)। इन शाखाओं में दैनिक योग-सम्बन्धी कार्यक्रम चलते हैं और वर्ष में एक या दो बार सामूहिक शिविरों का आयोजन किया जाता है।

योगधाम ज्वालापुर के समान अन्य भी अनेक ऐसे संस्थान व धाम आर्य महात्माओं द्वारा स्थापित किये गये हैं, जिनमें योग का विधिवत् प्रशिक्षण होता है।

(४) योगप्रशिक्षण शिविर रोजड़ (जिला साबरकांठा, गुजरात)

चैत्र शुक्ला १ प्रतिपदा सं० २०४३ विक्रमी (१० एप्रिल १९८६) के दिन रोजड़ में योग प्रशिक्षण शिविर प्रारंभ किया गया, जिसमें देश के विभिन्न प्रान्तों के पठित, धार्मिक, तपस्वी व आजीवन ब्रह्मचारी रहनेवाले युवक भाग ले रहे हैं।

शिविर का प्रयोजन व लक्ष्य—(१) विशिष्ट योग्यतावाले वैदिक दार्शनिक विद्वानों का निर्माण करना, जो ऋषियों के आदर्श, सार्वभौमिक, युक्ति-प्रमाण से युक्त, अकाट्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों को बुद्धिजीवी-वर्ग के समक्ष प्रतिपादित कर उन्हें वैदिक धर्मानुयायी बना सकें।

(२) पतंजलि ऋषि प्रणीत अष्टाङ्गयोग की पद्धति से उच्च स्तर के योग-प्रशिक्षकों को तैयार करना जो देश व विदेश में प्रचलित मिथ्या योग के स्थान पर सच्चे योग का प्रशिक्षण दे सकें।

(३) निष्काम भावना से युक्त होकर तन-मन-धन से संपूर्ण जीवन की आहुति देनेवाले व्यक्तित्व का निर्माण करना जो अपनी व संसार की अविद्या, अधर्म व क्लेशों का नाश करके उनके स्थान पर विद्या, धर्म व आनन्द की स्थापना पर सकें।

शिविर के मुख्य कार्यक्रमों से सम्बन्धित गतिविधियाँ—(१) प्रातः काल ४ बजे से रात्रि ९-३० बजे तक आदर्श व व्यस्त गुरुकुलीय दिनचर्या।

(२) प्रत्येक ब्रह्मचारी को पक्षपात-रहित समान रूप से पुस्तक, वस्त्र, भोजन, घी, दूध, फल, आसन आदि निःशुल्क उपलब्ध कराये जाते हैं।

(३) दोपहर ११½ बजे से रात्रि ७-३० बजे तक व्यवहार की भाषा केवल संस्कृत है।

(४) दिन में ६ घण्टे का मौन अनिवार्य है जिसमें योग-साधना का काल भी सम्मिलित है।

(५) प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए कम-से-कम दो घण्टे योगाभ्यास करना

आवश्यक है।

(६) दिन में दो बार क्रियात्मक योग-प्रशिक्षण दिया जाता है।

(७) दर्शनों की लिखित व मौखिक परीक्षाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं।

(८) यम-नियमों का पालन मनसा-वाचा कर्मणा सूक्ष्मता से किया व कराया जाता है।

(९) रात्रि में आत्म-निरीक्षण के समय दिन-भर के दोषों का सबके समक्ष ज्ञापन तथा भविष्य में सुधार के लिए संकल्प किया जाता है।

(१०) सप्ताह में एक विशिष्ट आसन-प्रशिक्षण व पक्ष में एक बार प्रवचन-अभ्यास कराया जाता है।

(११) प्रतिदिन विवेक, वैराग्य, अभ्यास, ईश्वरप्रणिधान, वृत्ति-निरोध, समाधि व स्व-स्वामि-सम्बन्ध को तोड़ने से सम्बन्धित सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

शिविर की अब तक की उपलब्धियाँ—(१) साढ़े छः मास के अल्पकाल में ब्रह्मचारियों ने अपने जीवन के लक्ष्य व मार्ग को समझकर उसकी प्राप्ति के लिए साधनों व व बाधकों पर गंभीर मनन-चिन्तन किया है तथा अपने पूर्व के लौकिक विचार व व्यवहार-पद्धति को मिटाने व आध्यात्मिक संयमित जीवन को बनाने के लिए पर्याप्य प्रयास किया है।

(२) अबतक पतंजलि ऋषिरचित योगदर्शन, जिसपर व्यास मुनि का भाष्य है तथा कपिल ऋषि प्रणीत सांख्य दर्शन, जिसपर स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने संस्कृत में भाष्य किया है, दो दर्शनों को पढ़ा दिया गया है जिसकी लिखित व मौखिक परीक्षाएँ भी ले ली गयी हैं। अनेक ब्रह्मचारी इन दोनों दर्शनों को वैदिक मान्यताओं के अनुसार पढ़ाने में भी समर्थ हो गये हैं। वर्तमान में अब कणाद ऋषि निर्मित वैशेषिक दर्शन पढ़ाया जा रहा है जिसके दो मास में समाप्त होने की संभावना है। तत्पश्चात् महर्षि गौतम कृत न्यायदर्शन (जिसपर वात्स्यायन ऋषि ने भाष्य लिखा है) का अध्ययन चलेगा।

(३) अनेक ब्रह्मचारी यम-नियमादि अष्टांग योग का अनुष्ठान करके मन व इन्द्रियों के जड़पन को समझते हुए उपासना काल में उठनेवाली वृत्तियों को रोकने में समर्थ होते हुए प्रतीत हो रहे हैं।

स्वामी सत्यपति जी इस शिविर के संस्थापक तथा संचालक हैं।

पच्चीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय, टंकारा

(१) श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट

अफ्रीका के प्रसिद्ध दानवीर सेठ श्री नानजी कालीदास मेहता ने छः लाख रुपये की लागत से पोरबन्दर (गुजरात) में महात्मा गांधी के स्मारक का निर्माण कराया था। जब मह कतिपय आर्य सज्जनों को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के इसी प्रकार के स्मारक के निर्माण के लिए सेठजी को प्रेरित करने का विचार किया। "आर्य सन्देश" बड़ौदा के सम्पादक श्री नानजी भाई आर्य ने इस सम्बन्ध में सेठजी से निवेदन किया, जिस पर उन्होंने समुचित ध्यान दिया। महर्षि का जन्म टंकारा (गुजरात) में हुआ था, और आर्य जन चाहते थे कि सेठजी वहाँ महर्षि का उसी प्रकार का भव्य स्मारक बनवाएँ, जैसा कि उन्होंने पोरबन्दर में महात्मा गांधी के लिए बनवाया था। इसी विचार को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से श्री नानजी भाई आर्य और श्री चतुरभाई बड़ौदा से टंकारा गये, और वहाँ से श्री गिरधारीलाल गोविन्द जी मेहता तथा श्रीमती चंचल बहिन पाठक के साथ पोरबन्दर गये। इन आर्य जनों की प्रेरणा से सेठ श्री नानजी कालीदास मेहता ने टंकारा में महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्मारक के लिए डेढ़ लाख रुपया प्रदान करना स्वीकार कर लिया।

सन् १९२६ ई० में टंकारा में महर्षि दयानन्द की निर्वाण अर्ध-शताब्दी का महोत्सव आयोजित किया जा चुका था, जिसमें आर्यसमाज के बहुत-से मूर्धन्य नेता सम्मिलित हुए थे। वहाँ निश्चय हुआ था कि महर्षि की जन्म-भूमि टंकारा में उनके एक स्मारक का निर्माण किया जाए। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा शंकरानन्द तथा स्वामी सर्वदानन्द सदृश अनेक प्रभावशाली व सशक्त आर्य नेताओं का आशीर्वाद व समर्थन इस निश्चय को प्राप्त था, पर सन् १९२६ ई० व उसके बाद के वर्षों में इस निश्चम को क्रियान्वित करने के लिए कोई ठोस पग नहीं उठाया जा सका। पर १९२६ में टंकारा में आयोजित दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी समारोह का यह लाभ अवश्य हुआ कि वहाँ के निवासियों का ध्यान आर्यसमाज की ओर गया, और श्री गिरिधर लाल मेहता, श्रीमती चंचल बेन तथा श्रीमती शान्ता बेन के पुरुषार्थ से वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई, और समाज मन्दिर के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया गया। इस प्रकार आर्यसमाज की स्थापना के कारण टंकारा में महर्षि के स्मारक बनाने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

जब आर्य सज्जनों की प्रेरणा से सेठ श्री नानजी कालीदास मेहता ने टंकारा में महर्षि का स्मारक बनवाने के लिए १,५०,००० रु०प्रदान करने की घोषणा कर दी, तो आर्यों में नये उत्साह का संचार हुआ। सेठ जी का विचार था कि उन द्वारा दी जाने वाली यह धनराशि केवल स्मारक के निर्माण में ही खर्च की जाए, उसके कार्य-संचालन के लिए नहीं। इस राशि से स्मारक के लिए जमीन खरीदी जा सकती थी, और उस पर भवन का निर्माण भी कराया जा सकता था। पर वहाँ जो संस्था स्थापित हो, उसके संचालन के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था आर्यसमाज को करनी थी। सेठ जी द्वारा प्रदत्त धनराशि को आधार बनाकर महर्षि के स्मारक के लिए जिस ट्रस्ट का गठन किया गया, उसके निम्नलिखित पदाधिकारी व सदस्य थे—

प्रधान—श्री सेठ नानजी कालीदास मेहता

मन्त्री—श्री चाँदकरण जी शारदा

सभासद—पण्डित आनन्दप्रिय जी, कुमारी सविता बेन नानजी भाई पोरबन्दर, श्री अर्जुन कुँवर जी पटेल राजकोट, श्री अर्जुनदेव जी आचार्य चौकी सोरठ, श्री गिरधरलाल जी गोविन्द जी मेहता टंकारा और प्रधान परोपकारिणी सभा (पदेन)।

ट्रस्ट के लिए जो डीड रजिस्टर्ड कराया गया, उसमें ट्रस्ट के ये उद्देश्य निरूपित किये गये थे—"महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्मस्थल की भूमि पर स्मारक भवन का निर्माण कराना और आर्य सिद्धान्तों तथा वैदिक धर्म के अनुकूल आवश्यक प्रवृत्तियों का प्रचलन कराना।" इन कार्यों के लिए ट्रस्ट को धन के संग्रह की भी व्यवस्था करनी थी। १६ जुलाई, सन् १९५१ ई० को ट्रस्ट की पहली बैठक हुई। इसमें भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में निर्णय लिये गये, और धन-संग्रह के लिए आर्य जनता से अपील की गई, जिसके परिणामस्वरूप १८,५०० रुपये एकत्र हो गये। इस राशि में ५००० रुपये श्री राजा नारायण लाल जी पित्ती ने, २५०० रुपये सेठ श्री अर्जुन कुँवर जी ने और १००० रुपये श्री राजा गोविन्दलाल जी ने प्रदान किये थे। इसी समय टंकारा की नगरपालिका से ५००० रुपये की जमीन प्राप्त की गई, और इस जमीन के साथ की आठ बीघा भूमि टंकारा आर्यसमाज ने दान में दी। परोपकारिणी सभा ने निश्चय किया कि स्मारक का कार्य प्रारम्भ होने पर पचास हजार रुपये का ब्याज ट्रस्ट को कार्य-संचालन करने के लिए दिया जाता रहे।

११ मार्च, सन् १९५४ ई० को ट्रस्ट के मन्त्री श्री चाँदकरण जी शारदा धन-संग्रह के लिए अफ्रीका गये, और उनकी अफ्रीका-यात्रा के लिए ५००० रुपये ट्रस्ट ने स्वीकृत किये। पर शारदा जी देर तक अफ्रीका नहीं रह सके। हृदय रोग से पीड़ित हो जाने के कारण उन्हें शीघ्र ही स्वदेश वापस लौटना पड़ा। पर इस बीच में ही वे तीस हजार रुपये एकत्र करने में सफल हो गये थे।

दिसम्बर, १९५४ ई० में ट्रस्टियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सेठ नानजी कालीदास मेहता, कुमारी सविता बेन नानजी भाई, श्री अर्जुन कुँवर जी पटेल तथा श्री अर्जुनदेव जी आचार्य ने ट्रस्ट से त्यागपत्र दे दिये, और जो व्यक्ति इस समय ट्रस्ट के ट्रस्टी बने, वे निम्नलिखित थे—

(१) महाशय कृष्ण (परोपकारिणी सभा के प्रधान के रूप में)।

(२) स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती (सार्वदेशिक सभा के प्रधान के रूप में)।

(३) श्री चतुरभाई पटेल, मन्त्री आर्य कन्या गुरुकुल पोरबन्दर।
(४) डॉ० मथुरादास मोगा (पंजाब)।
(५) श्रीमती चंचल बहिन पाठक टंकारा।
(६) श्री मगनभाई जोशी जामनगर।
(७) श्री लाला हंसराज गुप्ता नई दिल्ली।

श्री चाँदकरण शारदा के रोगी होने के कारण पण्डित आनन्दप्रिय को ट्रस्ट का संयुक्त मन्त्री नियुक्त किया गया, और उन्होंने उसका कार्यभार संभाल लिया।

४ दिसम्बर, १९५५ ई० को ट्रस्ट की एक विशेष बैठक दिल्ली में हुई, जिसमें ट्रस्ट के सदस्यों के अतिरिक्त डेढ़ सौ के लगभग अन्य आर्य सज्जन उपस्थित थे। इस बैठक में ट्रस्ट के कार्यकलाप की रूपरेखा निर्धारित की गई, जो इस प्रकार थी—

(१) स्मारक में एक अनुसन्धान विभाग तथा एक उत्तम पुस्तकालय हो, जिसमें चार विद्वान् कार्य करें।
(२) वहाँ संन्यास आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और विद्यार्थीगृह स्थापित किये जाएँ।
(३) महर्षि दयानन्द सरस्वती के चित्रों का संग्रह किया जाए।
(४) महर्षि के सब ग्रन्थों का संग्रह कर उन्हें सुरक्षित रखा जाए।
(५) सत्यार्थप्रकाश का अन्य भाषाओं में अनुवाद कराया जाए और उनके प्रकाशन की व्यवस्था की जाए।
(६) महर्षि के स्मारक रूप में एक स्तूप का निर्माण कराया जाए।
(७) महर्षि के जन्मस्थान पर एक घण्टाघर बनाया जाए।
(८) महर्षि की पुण्यस्मृति को सुरक्षित रखने के लिए अन्य आवश्यक कार्य किये जाएँ।

ट्रस्ट का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि श्री पण्डित आनन्दप्रिय ने बम्बई जाकर मोरवी-नरेश के एक्जीक्यूटरों से मोरवी रियासत के टंकारा में विद्यमान राजमहल का सौदा डेढ़ लाख रुपयों में कर लिया। १० जनवरी १९५९ ई० को श्री मगन भाई जोशी ने मोरवी-नरेश के कारभारी से महल का कब्जा ले लिया और वहाँ "ओ३म्" का झण्डा फहरा दिया गया। इसी समय ट्रस्ट के संस्थापक सदस्य श्री नानजी भाई कालीदास मेहता ने २५ हजार रुपयों की लागत से राजमहल के मुख्यद्वार पर एक भव्य घण्टाघर का भी निर्माण करा दिया। इस प्रकार जनवरी, १९५९ ईसवी में महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक टंकारा की विधिवत् स्थापना हो गई और उसके प्रारम्भिक कार्यकलाप के संचालन के लिए जेतपुर के श्री अम्बा लालजी को नियुक्त कर दिया गया, जिन्होंने अवैतनिक रूप से तथा पूर्ण लगन के साथ अपने कार्य का सम्पादन किया।

टंकारा में विधिवत् महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक की स्थापना हो जाने पर वहाँ शिवरात्रि का उत्सव धूमधाम के साथ मनाये जाने की परम्परा प्रारम्भ हुई। शिवरात्रि पर बालक मूलशंकर को बोध हुआ था और वह घर-बार व सुख-सम्पत्ति को त्यागकर सच्चे शिव की खोज में तत्पर हो गया था। आर्यसमाज ऋषि-बोधोत्सव के रूप में शिवरात्रि मनाता है और यह उसका सबसे महत्त्वपूर्ण पर्व या त्यौहार है। टंकारा के राजप्रासाद में, जो अब स्मारक ट्रस्ट की सम्पत्ति हो गया था, ६, ७, ८ मार्च, सन् १९५९ ई० को शिवरात्रि उत्सव मनाया गया। उत्सव का प्रारम्भ यजुर्वेद पारायण यज्ञ के साथ हुआ, जिसका ब्रह्मा पद पण्डित ब्रह्मा दत्त जी जिज्ञासु ने ग्रहण किया था।

लोकसभा के अध्यक्ष (स्पीकर) श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने स्मारक का उद्घाटन किया और सुप्रीम कोर्ट के अवकाशप्राप्त चीफ जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन ने ध्वजारोहण का भव्य कार्य सम्पन्न किया।

सन् १९५९ से १९६५ ई० तक के छ: वर्षों को महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट टंकारा के इतिहास का प्रारम्भिक व प्रथम युग कहा जाता है। इसमें मोरवी के नरेश से टंकारा का राजमहल स्मारक के लिए क्रय किया गया और अन्य कार्यकलाप के साथ शिवरात्रि उत्सव बड़े पैमाने पर तथा धूमधाम से मनाया जाना प्रारम्भ किया गया। इस काल में पण्डित आनन्दप्रिय ने मन्त्री के रूप में स्मारक का संचालन किया और प्रधान के पद पर पहले जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन तथा बाद में श्री हंसराज गुप्त रहे। इनके साथ जिन महानुभावों ने स्मारक के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक हाथ बँटाया, उनमें श्री नानालाल उपाध्याय, श्री मगनलाल जोशी और श्री बालकृष्ण शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं।

सन् १९६६ से १९७८ ई० तक के काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट उन्नति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता गया, उसके कार्यकलाप में वृद्धि होती गई और वह आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण आकर्षण-केन्द्र बन गया। न केवल भारत अपितु अन्य देशों से भी आर्य नर-नारी टंकारा आकर उन स्थानों का अवलोकन करने लगे, जहाँ महर्षि का जन्म हुआ था और जहाँ उन्हें सच्चे शिव का बोध हुआ था। इस काल में ट्रस्ट के प्रमुख संचालक श्री लाला दीवानचन्द, श्री गंडाराम, श्री ओंकारनाथ और रतनचन्द सूद थे।

सन् १९७८ ई० में श्री गंडाराम का निधन हो जाने पर दिल्ली के श्री रामनाथ सहगल ने उनका स्थान ले लिया और वे श्री ओंकारनाथ तथा श्री रतनचन्द सूद के सहयोग से स्मारक ट्रस्ट का संचालन करने लगे। वर्तमान समय में नई दिल्ली ट्रस्ट का प्रधान केन्द्र है, और आर्यसमाज, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में उसका मुख्य कार्यालय विद्यमान है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय

महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक टंकारा के कार्यकलाप में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय है। इसकी स्थापना ७ जुलाई, १९६६ ई० के दिन हुई थी। उस समय ट्रस्ट के प्रधान सुप्रीम कोर्ट के अवकाशप्राप्त चीफ जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन थे। उनका विचार था कि एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय की स्थापना की जाए, जो महर्षि की विचारधारा व मन्तव्यों के अध्ययन का केन्द्र हो और जहाँ उच्चकोटि के उपदेशक तैयार किये जाएँ। इसके लिए उन्होंने दस लाख रुपयों की अपील की और इस राशि को एकत्र करने के लिए दिल्ली, बम्बई, बड़ौदा, सूरत आदि नगरों का दौरा किया। महाशय कृष्ण, पं० आनन्दप्रिय और श्री देवराज चड्ढा इस दौरे में उनके साथ थे। पर दुर्भाग्यवश हृदयरोग के कारण जस्टिस महाजन का असामयिक स्वर्गवास हो गया और धनसंग्रह का कार्य बीच में ही रुक गया।

पर जस्टिस महाजन के दिवंगत हो जाने पर भी उपदेशक महाविद्यालय का कार्य आगे बढ़ता गया। मृत्यु से पूर्व ही इस शिक्षण-संस्था के संचालक-पद के लिए जस्टिस

महाजन ने श्री सत्यदेव विद्यालंकार की नियुक्ति कर दी थी। पण्डित सत्यदेव गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक हैं, और १४ वर्ष वहाँ नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त कर सन् १९२६ में विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की थी। बाद में उन्होंने शास्त्री और एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं और २७ वर्ष तक डी० ए० वी० कॉलेज जालन्धर में अध्यापन का कार्य किया। वे संस्कृत तथा वेदशास्त्रों के गम्भीर विद्वान् हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में प्रगाढ़ आस्था रखते हैं। उपदेशक महाविद्यालय के आचार्य व संचालक होने की उनकी योग्यता व क्षमता निर्विवाद थी। जस्टिस महाजन ने एक सुयोग्य व्यक्ति को ही नवस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय के कर्णधार के रूप में चुना था। शीघ्र ही इस महाविद्यालय ने ट्रस्ट के कार्यकलाप में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया और दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ अध्ययन के लिए आने लगे। महाविद्यालय का अध्ययनकाल सामान्यतया चार वर्ष का है, और वहाँ शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों को सिद्धान्त परिचय, सिद्धान्त विशारद, सिद्धान्त-शास्त्री और सिद्धान्ताचार्य के प्रमाणपत्र दिये जाते हैं।

महाविद्यालय के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) वैदिक धर्म के प्रचारार्थ उपदेशक, प्रचारक, लेखक तथा पुरोहित तैयार करना।
(२) वैदिक तथा संस्कृत साहित्य का प्रचार।
(३) धर्मसम्बन्धी ऋषि दयानन्द के विशिष्ट समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रचार।
(४) उत्तम शासनकर्ता तथा लेखक तैयार करना।
(५) अनुसन्धान-कार्य को प्रोत्साहन।

महाविद्यालय के पाठ्यक्रम में संस्कृत व्याकरण, संस्कृत साहित्य, दर्शन और महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों को समुचित स्थान दिया गया है और वहाँ पढ़े हुए विद्यार्थी वैदिक धर्म के प्रतिपादन एवं प्रचार के पर्याप्त रूप से योग्य हो जाते हैं। यही कारण है कि इस महाविद्यालय के स्नातक न केवल भारत के विविध नगरों में ही, अपितु केनिया तथा तंजानिया सदृश अफ्रीकन देशों में भी वैदिक धर्म का सफलतापूर्वक प्रचार कर रहे हैं। कतिपय स्नातक ऐसे भी हैं जिन्होंने टंकारा के महाविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर अन्यत्र उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश ग्रहण किया, और शिक्षा तथा धर्मप्रचार के क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की। ऐसे ही एक स्नातक श्री मेघश्याम हैं, जिन्होंने टंकारा की पढ़ाई पूरी कर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की और फिर दिल्ली यूनिवर्सिटी से एम० ए० तथा पी-एच० डी० की।

महाविद्यालय में १६ से २५ वर्ष की आयु के निर्व्यसनी, सदाचारी व स्वस्थ विद्यार्थी ही प्रविष्ट किये जाते हैं। उन्हें वहाँ निश्चित वेश में रहना होता है, और छात्रावास के अनुशासन व नियमों का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है। विद्यार्थियों को सादे भोजन, सादे निर्धारित वस्त्र, आवास तथा शिक्षा की निःशुल्क सुविधा दी जाती है। उन्हें प्रतिदिन कम-से-कम एक घण्टा निर्दिष्ट शारीरिक श्रम करना होता है और अध्ययन-काल में वे कोई बाह्य परीक्षा नहीं दे सकते। विद्यार्थी जहाँ सुयोग्य उपदेशक व प्रचारक होने के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करते हैं, वहाँ साथ ही प्रचार-कार्य का क्रियात्मक अनुभव पाने का भी उन्हें अवसर मिलता है। महाविद्यालय के विद्यार्थी तथा अध्यापक टंकारा में तथा अन्यत्र यज्ञ कराने, संस्कार कराने और प्रचार के लिए जाते रहते हैं।

वहाँ एक भजनमण्डली भी है, जो आर्यसमाजों के निमन्त्रण पर प्रचार के लिए भेजी जाती है।

१५ वर्ष के लगभग पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय के आचार्य पद पर रहे और इस संस्था को सुदृढ़ आधार पर स्थापित कर तथा सुव्यवस्थित रूप देकर उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। उनके बाद श्री हरिप्रसाद शास्त्री और पण्डित धर्मवीर विद्यालंकार आदि अनेक विद्वान् इस महाविद्यालय के आचार्य पद को सुशोभित कर चुके हैं। उन सबके नाम व कार्य का विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि टंकारा के उपदेशक महाविद्यालय ने आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं में अपने लिए विशिष्ट स्थान बना लिया है।

(३) स्मारक ट्रस्ट का अन्य कार्यकलाप

अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय के संचालन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कार्य हैं, जो महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट द्वारा सम्पादित किये गये या किये जा रहे हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(१) **दयानन्द बहुलक्षी हाई स्कूल**—इस स्कूल की स्थापना उपदेशक महाविद्यालय से पहले हुई थी। इसके संचालन एवं व्यवस्था के लिए एक पृथक् समिति है। स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या ४०० के लगभग है, जिन्हें हाई स्कूल स्तर की शिक्षा दी जाती है। वहाँ एन० सी० सी० का केन्द्र भी है, और क्रीड़ा के लिए उपयुक्त स्थान भी विद्यमान है।

(२) **अनुसंधान कार्य**—पण्डित युधिष्ठिर जी के निर्देशन में टंकारा ट्रस्ट द्वारा अनुसन्धान (शोध) कार्य का भी प्रारम्भ किया गया था। पण्डित धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य उनकी सहायता के लिए नियुक्त थे। पर अस्वस्थ हो जाने के कारण मीमांसक जी देर तक इसका संचालन नहीं कर सके, और तीन वर्ष बाद इसे बन्द कर देना पड़ा।

(३) **शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय**—गुजरात सरकार के अन्यतम मन्त्री श्री मोहनलाल व्यास ने शुद्ध आयुर्वेद का आन्दोलन चलवाया था, और उसकी शिक्षा के लिए दस आयुर्वेद विद्यालयों की स्थापना की थी। व्यास जी का विचार था कि देश के आयुर्वेद महाविद्यालयों में शुद्ध आयुर्वेद की शिक्षा की व्यवस्था न होकर ऐसी चिकित्सा-पद्धति का अध्यापन किया जा रहा है, जिसमें एलोपैथी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उन्होंने ऐसी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना पर जोर दिया, जिनमें आयुर्वेद की शुद्ध चिकित्सा-पद्धति की शिक्षा दी जाती हो और जिनके पढ़े हुए विद्यार्थी पुरानी भारतीय परम्परा के अनुसार आयुर्वेदिक ओषधियों द्वारा रोगों का निवारण किया करें। सन् १९६२-६३ ई० में महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट के तत्त्वावधान में टंकारा में भी एक शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हुई। पर यह विद्यालय देर तक चल नहीं सका। चार वर्ष पश्चात् इसे बन्द कर देना पड़ा।

(४) **गौशाला**—महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में गोरक्षा तथा गोपालन का बहुत महत्त्व था। गोहत्या को बन्द कराने के लिए उन्होंने महान् उद्योग किया था और आधुनिक युग के भारत में पहली गौशाला भी उन्हीं की प्रेरणा से स्थापित हुई थी। अतः महर्षि के स्मारक ट्रस्ट के सम्मुख शुरू से ही एक कार्य गौशाला की स्थापना का

भी था। इसके लिए प्रारम्भ में गुजरात सरकार की ओर से दस गायें, एक साँड तथा पाँच हजार रुपये प्रदान किये गये और बाद में भी सरकार तथा जनता से सहायता प्राप्त होती रही। गौशाला अब भी विद्यमान है और उससे स्मारक के निवासियों को शुद्ध दूध प्राप्त होता है।

(५) **महर्षि जीवन चित्रालय**—महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट टंकारा का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आकर्षण है। इसमें कलाकार श्री नानूभाई कालीदास के सोलह बड़े आकार के ऐसे रंगीन पेण्टिंग्स प्रदर्शित हैं जिनका सम्बन्ध महर्षि के जीवन के साथ है। इनके अतिरिक्त कलकत्ता के कलाकार श्री चारुचन्द्र खाम द्वारा निर्मित ८० बड़े साइज के फोटोग्राफों तथा १० रंगीन चित्रों का भी ट्रस्ट द्वारा संग्रह किया गया है। 'दयानन्द दिव्य दर्शन' नाम से प्रसिद्ध यह चित्रालय टंकारा के यात्रियों, अभ्यागतों व आर्य नर-नारियों के लिए न केवल आकर्षण का केन्द्र है अपितु ज्ञानवर्धक भी है। प्रति-वर्ष हजारों दर्शक इसका अवलोकन करते हैं।

(६) **पुस्तकालय**—ट्रस्ट के पास हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी और गुजराती पुस्तकों का एक अच्छा पुस्तकालय भी है, जिसका प्रारम्भ कलकत्ता के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पण्डित अयोध्याप्रसाद जी द्वारा प्रदान किये गये पुस्तकभण्डार से हुआ था। इस पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या बीस हजार के लगभग है, और इस संख्या में प्रति वर्ष निरन्तर वृद्धि होती जाती है। पुस्तकालय के साथ ही एक सार्वजनिक वाचनालय भी है, जिसमें हिन्दी और गुजराती के अनेक दैनिक, साप्ताहिक व मासिक पत्र नियमित रूप से आते हैं और सैकड़ों पाठक उनसे लाभ उठाते हैं।

(७) **अतिथिशाला**—टंकारा एक छोटा-सा कस्बा है, जहाँ न कोई होटल है और न कोई धर्मशाला। महर्षि के जन्मस्थान से आकृष्ट होकर वर्ष-भर श्रद्धालु यात्री वहाँ आते रहते हैं जिनके लिए कस्बे में निवास व भोजन की कोई सुविधा नहीं है। इस कारण ट्रस्ट के लिए यह आवश्यक हो गया कि जन्मस्थान के दर्शन के लिए टंकारा आने वाले यात्रियों के निवास एवं भोजन की व्यवस्था की जाए। इसलिये स्मारक के परिसर में ही एक अतिथिशाला बनवा दी गई है, जहाँ यात्री निःशुल्क निवास के साथ-साथ तीन दिन तक भोजन भी निःशुल्क प्राप्त कर सकते हैं।

(८) **शिवरात्रि महोत्सव**—स्मारक ट्रस्ट के कार्यकलाप में शिवरात्रि महोत्सव का आयोजन विशेष महत्त्व का है। टंकारा महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्मस्थान तथा बोधस्थान है। उनके जीवन के साथ जिन स्थानों—मथुरा, अजमेर आदि का सम्बन्ध है टंकारा उनमें प्रधान है। स्मारक ट्रस्ट की ओर से शिवरात्रि को टंकारा में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया जाता है जबकि वहाँ हजारों ऋषि-भक्त दूर-दूर से एकत्र होते हैं, और कुछ दिनों के लिए गुजरात का यह छोटा-सा कस्बा महर्षि के जयजयकारों गूँज उठता है। ट्रस्ट के उत्साही एवं कर्मठ मन्त्री श्री रामनाथ सहगल के प्रयत्न से टंकारा के इस समारोह का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है और प्रतिवर्ष हजारों नर-नारी इस अवसर पर रेल, मोटर तथा हवाई जहाज से टंकारा की यात्रा करने लगे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि भविष्य में टंकारा आर्यों का सबसे प्रसिद्ध तीर्थस्थान बन जाए, और यात्रियों का जाना-आना वहाँ वर्ष-भर होता रहा करे।

(४) श्रीमती इन्दिरा गांधी की टंकारा यात्रा

भारत की स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्मस्थान से आकृष्ट होकर टंकारा गई थीं, और स्मारक ट्रस्ट द्वारा उनका अभिनन्दन किया गया था। ट्रस्ट के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी, अतः इस यात्रा का संक्षिप्त विवरण यहाँ देना उपयोगी होगा। इन्दिरा जी ने महर्षि के स्मारक के परिसर में पधारने पर सर्वप्रथम उपदेशक विद्यालय के आचार्य श्री सत्यदेव विद्यालंकार की धर्मपत्नी श्रीमती शांतिदेवीजी ने उन्हें महालय की ओर से चन्दन का हार पहनाया। तदनन्तर क्रम से श्री प्रकाशवीर शास्त्री, पण्डित आनन्दप्रिय, श्री सहगल, और श्री नन्दवाणा आदि ने उन्हें पुष्प-स्तबक भेंट किये।

स्वागत के अनन्तर प्रधानमन्त्री जी महालय की सुसज्जित यज्ञशाला में पधारीं। उन्होंने आचार्य जी तथा उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा किये गये गायत्री-मन्त्रोच्चारण के साथ आहुतियाँ दीं। पूर्णाहुति के बाद आचार्य जी ने उन्हें वेदमन्त्रों के साथ आशीर्वाद दिया तथा उपस्थित सज्जनों ने पुष्प-वर्षा की।

ट्रस्ट की ओर से आचार्य जी ने उनकी सेवा में अभिनन्दन पत्र अर्पित किया जिसमें टंकारा तथा सौराष्ट्र में पानी के भयंकर कष्ट की ओर तथा ऋषि के जन्म-स्थान के व्यक्तिगत सम्पत्ति होने की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया।

इसके बाद प्रधानमन्त्री जी पूर्व-नियोजित एक विशाल जनसभा में भाषण देने गयीं। वहाँ भी सर्वप्रथम आश्रम में दिये गये अभिनन्दन-पत्र को पढ़कर सुनाया गया।

छब्बीसवाँ अध्याय

उड़ीसा और मध्य प्रदेश व विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभाएँ

(१) उड़ीसा आर्य प्रतिनिधि सभा

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा इस प्रदेश में भी प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के गठन का प्रयास लम्बे समय से कर रही थी। इस सम्बन्ध में आर्यवीर दल के संचालक श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने भी इस प्रान्त की यात्रा की थी। उनके बाद श्री वाचस्पति शास्त्री को उड़ीसा भेजा गया। उन्होंने भी प्रयत्न किया। एक-दो बार प्रतिनिधि सभा का गठन भी किया गया, परन्तु वह नाम-मात्र का ही रहा। यहाँ के कर्ताधर्ता श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी (गुरुकुल पानपोस) ही बने रहे। इसी प्रकार चलते-चलते आर्यसमाज स्थापना-शताब्दी वर्ष आ गया। इस वर्ष सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा यत्न कर रही थी कि आर्यसमाज के प्रचार को गति देने के लिए सभी प्रान्तों में ऐसा विधिवत् संगठन हो जो क्रियाशील भी हो। अतः श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी से सार्वदेशिक सभा ने आग्रह किया कि यदि आप प्रान्तीय सभा का संचालन नहीं कर पा रहे हों, तो हम इंजीनियर श्री प्रियव्रतदास से आग्रह करें। इस विषय में स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने अपनी अनुकूल सम्मति सार्वदेशिक सभा को दे दी। सभा ने इंजीनियर श्री प्रियव्रतदास से आग्रह किया। उन्होंने आर्यसमाज हीराकुड के महोत्सव पर आर्यसमाजों के अधिकारियों को बुलाकर सारी स्थिति सबके सामने रखी। तदनुसार श्री स्वामी धर्मानन्द जी आचार्य गुरुकुल आमसेना को प्रधान तथा इंजीनियर प्रियव्रतदास को मन्त्री बनाया गया और सार्वदेशिक सभा को सूचना देकर प्रान्तीय सभा के अधिकारियों ने अपना कार्य शुरू कर दिया। इस सभा ने दिल्ली के शताब्दी समारोह में भी संगठित रूप से भाग लिया।

परन्तु सार्वदेशिक सभा का आग्रह था कि आर्यसमाजों को भी नये सिरे से व्यवस्थित किया जाए और तब उन्हीं समाजों के निर्वाचित प्रतिनिधि सभा का गठन करें। इसी बात को लक्ष्य में रखकर प्रधान श्री धर्मानन्द, मन्त्री श्री प्रियव्रतदास और उपमन्त्री श्री विशिकेसन शास्त्री आदि ने पहले समाजों को व्यवस्थित किया। उनसे प्रतिनिधियों की सूची माँगी गई। इस बीच भुवनेश्वर में आर्यसमाज का गठन एवं भव्य मंदिर का निर्माण भी हो गया था। अतः वहाँ प्रधान कार्यालय स्थापित कर दिया गया।

४-५ जून १९८३ ई० को आर्यसमाज मन्दिर बलांगीर में प्रान्तीय सभा का अधिवेशन समारोहपूर्वक श्री पृथ्वीराज शास्त्री उपमन्त्री सार्वदेशिक सभा की देख-रेख में हुआ, जिसमें सर्व-सम्मति से इस प्रकार निर्वाचन सम्पन्न हुआ—

प्रधान	—श्री स्वामी धर्मानन्द सरस्वती	आमसेना कालाहाण्डी
उपप्रधान	—श्री पी० के० वहिदार	बलांगीर
मन्त्री	—श्री इंजीनियर प्रियव्रतदास	भुवनेश्वर
उपमन्त्री	—श्री पं० विशिकेसन शास्त्री	वरिकेल (सम्बलपुर)
कोषाध्यक्ष	—श्री गोपालदास रावल एडवोकेट	सम्बलपुर

ईसाइयत की बाढ़ को रोकना—देश के इन पिछड़े क्षेत्रों को ईसाइयों ने अपनी चरागाह माना हुआ है। अंग्रेजों के शासनकाल में तो उन्होंने इधर ईसाइयत का जाल फैलाया ही, स्वाधीनता के बाद भी इसे तीव्र गति दी। फलस्वरूप उड़ीसा में भी काफी आदिवासी हरिजन ईसाई बन गये।

आर्यसमाज का जहाँ भी प्रचार हुआ, उसने वहाँ इस समस्या की ओर भी ध्यान दिया। इसी प्रकार उड़ीसा में भी बीसवीं सदी के सातवें दशक में श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने गुरुकुल झज्झर के स्नातकों के सहयोग से कुछ समय शुद्धि का कार्य किया। बाद में जब स्नातक वापस अपने क्षेत्र में चले गये और श्री स्वामी जी बीमार हो गये, तो कार्य ठण्डा पड़ गया। १९८१ ई० से आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री स्वामी धर्मानन्द जी ने इसे पुनः अपने हाथ में लिया। प्रत्येक आर्यसमाज को भी प्रेरणा दी। फलस्वरूप, गुरुकुल आमसेना, पटनागढ़, बलांगीर, सम्बलपुर आदि स्थानों पर शुद्धियों का तांता लग गया। इसे देखकर बाहर से आये विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

प्रान्तीय सभा के नव-निर्वाचन के अवसर पर ६ जून, १९८३ को एक विशाल शुद्धि-समारोह ग्राम कुमुण्डे (बलांगीर) में हुआ। इसमें एक हजार से अधिक व्यक्ति शुद्ध हुए। इस अवसर पर श्री पृथ्वीराज शास्त्री उपमन्त्री सार्वदेशिक सभा भी उपस्थित थे। इसके बाद भी कई बड़े कार्यक्रम हुए। इसी बीच फरवरी १९८६ ई० में पोप पाल के आगमन पर ईसाई पादरियों ने लाखों हिन्दुओं को ईसाई बनाने का षड्यन्त्र किया। उसका क्रियात्मक उत्तर श्री स्वामी धर्मानन्द जी ने देने का निश्चय किया और गुरुकुल आमसेना में उस अवसर पर एक विशाल समारोह रखा गया। वैदिक यति मण्डल ने भी अपना अधिवेशन यहाँ रखा, जिसमें आर्यसमाज के अनेक प्रतिष्ठित साधु संन्यासी पधारे। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले भी आये।

२ फरवरी १९८६ ई० को सभा ने अपने से बिछुड़े २५०० बन्धुओं को आशीर्वाद देकर अपने गले लगाया, जो अपूर्व दृश्य था। इस शुद्धि-समारोह का सारे देश में व्यापक प्रभाव पड़ा।

उड़ीसा आर्य प्रतिनिधि सभा का यही विशेष कार्य है। इसमें सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रशंसनीय सहयोग मिल रहा है।

गोरक्षा सत्याग्रह—गोरक्षा सत्याग्रह में गुरुकुल पानपोस (राउरकेला) के ब्रह्मचारियों एवं आर्यसमाज राउरकेला के सदस्यों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया था।

दलित उद्धार—उड़ीसा में आर्यसमाज के प्रथम प्रचारक श्री वत्स पण्डा ने एक हरिजन कन्या को गोद लेकर उसका विवाह किया था। अब भी इस प्रान्त में आर्यसमाज के सभी गुरुकुल आदिवासी हरिजन बच्चों को ही शिक्षा देने में प्रमुखता रखते हैं। कई योग्य स्नातक भी तैयार हुए हैं।

समाज का विस्तार—जब प्रतिनिधि सभा का गठन हुआ, तो १५-१६

आर्यसमाज थे, अब सभा के प्रयत्न से लगभग १०० आर्यसमाज हैं। इनमें कई समाज ऐसे स्थानों पर हैं जहाँ पहले ईसाइयत का बोलबाला था। अब उन्हें शुद्ध करके वहाँ आर्यसमाज का गठन किया गया है। वे निष्ठावान् आर्य हैं।

अकाल व बाढ़—सन् १९६५ ई० के अकाल में गुरुकुल पानपोस की ओर से सहायता-केन्द्र चलाया गया था। १९७४ में फिर अकाल पड़ा। तब गुरुकुल आमसेना की ओर से दो सहायता-केन्द्र लम्बे समय तक चलाये गये।

१९८४ ई० में बलांगीर जिले के, १९८५ में सम्बलपुर जिले के बाढ़-पीड़ितों को सभा की तरफ से अन्न एवं वस्त्र की सहायता प्रायः सभी पीड़ित ग्रामों को दी गई।

प्रमुख आर्यसमाज

(१) **आर्यसमाज, भुवनेश्वर**—सभा-मन्त्री इंजीनियर श्री प्रियव्रतदास के प्रयत्न से राजधानी भुवनेश्वर में अत्यन्त भव्य मन्दिर एवं यज्ञशाला का निर्माण हुआ है। यज्ञ-शाला का उद्घाटन एप्रिल १९८५ में श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी ने किया था। इसकी गिनती वहाँ के दर्शनीय स्थानों में होती है। संस्कारों एवं समाज-सुधार के कार्यों का भी वह केन्द्र बन गया है।

(२) **आर्यसमाज, हिराकुद**—पश्चिमी उड़ीसा के बाँध के कारण हिराकुद सारे देश में प्रसिद्ध है। वहाँ की संस्थाओं में आर्यसमाज का भी विशेष स्थान है। १९५५ से १९७० तक यह आर्यसमाज की गतिविधियों का केन्द्र रहा है।

(३) **आर्यसमाज, बलांगीर**—१९४४ से १९५५ तक यह आर्यसमाज भी इस प्रान्त की गतिविधियों का केन्द्र रहा है। वहाँ समाज का पुराना बड़ा मन्दिर है।

(४) **आर्यसमाज, पोलसरा**—श्री वेदव्रत शास्त्री उपदेशक विद्यालय लाहौर के स्नातक हैं। उनके पुरुषार्थ से ग्राम पोलसरा (गंजाम) में भव्य वेदमन्दिर एवं यज्ञशाला का निर्माण हुआ है। १९८६ ई० में इसका उद्घाटन हुआ है। गंजाम जिले में समाज के प्रचार का केन्द्र है। इस समाज के माध्यम से उस क्षेत्र में जागृति आ रही है।

(५) **आर्यसमाज, सरगड़**—१९८० ईसवी में यहाँ समाज का गठन हुआ था। श्रीराम भक्त अग्रवाल ने अपना भवन दान करके वेदमन्दिर की स्थापना की। यह समाज इस क्षेत्र के लोगों की सहायता-सेवा करने में अग्रसर है। इस क्षेत्र में गर्मी में झोपड़ियों में आग लग जाती है; उन सभी को यहाँ से सहायता दी जाती है।

इसी प्रकार और भी अनेक समाज ग्रामों में होते हुए भी उत्साहपूर्वक प्रचार-कार्य में संलग्न हैं। अनेक ग्रामीण समाजों में भी यज्ञशालायें बनी हुई हैं।

आर्य संन्यासी एवं विद्वान्

(१) **श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी**—गुरुकुल वैदिक आश्रम पानपोस राउरकेला-४, के संस्थापक।

(२) **श्री स्वामी धर्मानन्द सरस्वती**—गुरुकुल आश्रम आमसेना (कालाहाण्डी) के आचार्य, उत्कल आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान, वेदशास्त्रों के विद्वान्।

(३) **श्री स्वामी विश्वमित्रानन्द**—उड़ीया-भाषी ओजस्वी वक्ता, स्वाध्यायशील विद्वान्।

(४) **श्री स्वामी प्रणवानन्द जी**— उड़िया भाषा के प्रभावशाली वक्ता हैं। इनका प्रचार-क्षेत्र पश्चिम उड़ीसा है।

(५) **श्री स्वामी ज्ञानानन्द जी**—नृसिंहनाथ तीर्थ (सम्बलपुर) को केन्द्र बनाके प्रचार कर रहे हैं।

(६) **इंजीनियर श्री प्रियव्रतदास**—उच्च पदस्थ अधिकारी होते हुए भी वैदिक साहित्य के गम्भीर विद्वान्, ओजस्वी वक्ता, प्रतिनिधि सभा के मन्त्री।

(७) **श्री पं० विशिकेसन शास्त्री**—प्रतिनिधि सभा के संयुक्त मंत्री, उड़िया-भाषी, भाषा के अधिकार-प्राप्त लेखक।

(८) **श्री पण्डित भगवान दास**—प्रतिनिधि सभा के महोपदेशक, प्रभावशाली वक्ता।

(९) **श्री मुक्तेश्वर पण्डा**—पश्चिम उड़ीसा के पुराने प्रचारक, मधुर तर्क द्वारा विरोधियों के छक्के छुड़ाने वाले वक्ता हैं।

(१०) **श्री देवव्रत नैष्ठिक**—पौराणिक समाज से आर्यसमाज में आकर प्रचार-क्षेत्र में अच्छा प्रभाव बनाया हुआ है।

(२) आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य प्रदेश व विदर्भ

वर्तमान समय में प्रायः सब आर्य प्रतिनिधि सभाओं का क्षेत्र उन राज्यों की सीमाओं तक सीमित है, जिनमें वे स्थापित हैं। पहले पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा के क्षेत्र में हरियाणा राज्य तथा दिल्ली संघ-क्षेत्र के प्रदेश भी अन्तर्गत थे। पर अब इस सभा का त्रिशाखन कर हरियाणा और दिल्ली के लिए पृथक् प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना कर दी गई है। इसी प्रकार गुजरात के बंबई राज्य से पृथक् हो जाने पर वहाँ भी पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा गठित हो गई है। पर राज्य की सीमा के अनुसार मध्य प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का अभी पुनर्गठन नहीं हुआ। सन् १९४७ ई० से पूर्व ब्रिटेन के शासन-काल में मध्य प्रदेश में बरार (विदर्भ) भी अन्तर्गत था। यह क्षेत्र अब महाराष्ट्र में सम्मिलित कर दिया गया है। उस समय के मध्यप्रदेश में इन्दौर, ग्वालियर आदि रियासतें अन्तर्गत नहीं थीं। स्वराज्य के पश्चात् रियासतों के भारत में विलीन होने के बाद भी कुछ समय तक ये रियासतें मध्यप्रदेश के अन्तर्गत नहीं की गई और इन्हें मिलाकर 'मध्य भारत' नाम से एक पृथक् राज्य का निर्माण किया गया। पर बाद में राज्यों के पुनर्निर्माण के समय मध्य भारत की रियासतों को मध्यप्रदेश राज्य के अन्तर्गत कर दिया गया। समुचित तो यह था कि मध्यप्रदेश राज्य की सीमाओं के अनुसार इस क्षेत्र के आर्यसभाओं का भी केन्द्रीय संगठन (आर्य प्रतिनिधि सभा) बना दिया जाता। पर अभी इस क्षेत्र में दो आर्य प्रतिनिधि सभाओं की सत्ता है—आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ और आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य भारत। विदर्भ का मध्यप्रदेश से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह महाराष्ट्र के अन्तर्गत है। पर आर्यसमाज के संगठन के अनुसार वह अब भी मध्यप्रदेश में है और वहाँ के आर्यसमाजों का सम्बन्ध मध्यप्रदेश की उस आर्य प्रतिनिधि के साथ है, जिसे 'आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ' कहा जाता है। इस प्रतिनिधि सभा की स्थापना २६ दिसम्बर १८६६ ई० के दिन आर्यसमाज नरसिंहपुर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर हुई थी। स्थापना-समारोह की

अध्यक्षता श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज द्वारा की गई थी। २६ मार्च, १६०७ ई० को यह सभा पंजीकृत भी करा दी गई थी।

इस सभा का कार्य-क्षेत्र मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र राज्यों के निम्नलिखित जिलों में है—(१) मध्यप्रदेश की जबलपुर, सागर, होशंगाबाद, रायपुर, बिलासपुर, बस्तर और रीवा कमिश्नरियों के सब जिले। (२) मध्य प्रदेश की भोपाल कमिश्नरी का बैतूल जिला। (३) मध्यप्रदेश की इन्दौर कमिश्नरी का खण्डवा जिला। (४) महाराष्ट्र राज्य के बरार (विदर्भ) क्षेत्र के सब जिले। ब्रिटिश युग के बम्बई प्रान्त के गुजरात और महाराष्ट्र नामक दो राज्यों में विभक्त हो जाने पर जब इस क्षेत्र के लिए सार्वदेशिक सभा द्वारा तीन आर्य प्रतिनिधि सभाओं (बंबई, महाराष्ट्र और गुजरात) का पृथक् रूप से गठन कर उनके सीमा-क्षेत्र निर्धारित किए गये, तो विदर्भ के आर्यसमाजों के प्रश्न पर भी विचार किया गया। सार्वदेशिक सभा ने इन्हें महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के क्षेत्र के अन्तर्गत न कर पूर्ववत् मध्यप्रदेश के साथ रखने का निर्णय किया और इसके लिए निम्नलिखित प्रस्ताव सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा की २३ मई, १६८२ ई० की बैठक में स्वीकार किया गया—"महाराष्ट्र राज्य की आर्य प्रतिनिधि सभा सार्वदेशिक सभा द्वारा पहले ही स्वीकृत की जा चुकी है। बम्बई महानगर के कारपोरेशन क्षेत्र को निकालकर एवं आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ के वर्तमान सीमा-क्षेत्र को छोड़कर वर्तमान महाराष्ट्र राज्य का शेष भाग उसका कार्य-क्षेत्र होगा।" इस प्रकार सार्वदेशिक सभा के निर्णय के अनुसार विदर्भ के आर्यसमाजों को महाराष्ट्र और प्रतिनिधि सभा के साथ संबद्ध न कर पूर्ववत् मध्यप्रदेश की सभा के साथ संबद्ध रखा गया।

इस सभा का प्रधान कार्यालय नागपुर में है। नागपुर बरार (विदर्भ) का मुख्य नगर है और इस प्रकार महाराष्ट्र के अन्तर्गत है। पर वहाँ हिन्दीभाषा-भाषी लोगों की संख्या भी कम नहीं है और वह शुरू से ही आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। नागपुर में सभा का निजी भवन है, जो मंगलवारी बाजार में स्थित है, और 'दयानंद भवन' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पुस्तकालय, वाचनालय, यज्ञशाला और सत्संग-भवन—सब विद्यमान हैं। सभा द्वारा संचालित 'दयानन्द बाल विद्या मन्दिर' नामक शिक्षणालय भी वहाँ चल रहा है। नागपुर के स्थानीय आर्यसमाज के समस्त कार्यक्रम दयानन्द भवन में ही सम्पन्न होते हैं। सन् १६८३ ई० से वहाँ एक होम्योपैथिक औषधालय भी स्थापित है। अतिथियों के निवास के लिए दयानन्द भवन के पृष्ठभाग में दो कमरों का भी निर्माण कर दिया गया है।

सन् १६८३ में मध्यप्रदेश व विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभा के क्षेत्र में २६६ आर्यसमाजों की सत्ता थी। पर इनमें केवल १२३ समाज आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ संबद्ध थे। बहुत-से आर्यसमाजों के पास अपने मन्दिर व भवन भी नहीं थे। उनका कार्य या तो किराये के भवनों में चलता था या सभासदों के घरों में। ऐसे आर्यसमाजों की संख्या कवल ४३ थी जिनके अपने भवन थे। सन् १६८३ ई० के बाद मध्यप्रदेश में आर्यसमाज की गतिविधि में सराहनीय उन्नति हुई है; आर्यसमाजों की संख्या बढ़ी है और प्रतिनिधि सभा के साथ अन्य भी अनेक आर्यसमाजों ने अपने को संबद्ध किया है। इस क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रसार-प्रचार के लिए श्रीमती कौशल्या देवी सिंधवानी, श्री आनन्दस्वरूप चावला, श्री सत्यवीर शास्त्री, श्री सदाशिव गुप्ता, श्री रमेश चन्द्र,

श्री गयादीन, श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा, श्री विजयसिंह गायकवाड़ और श्रीमती पद्मावती गायकवाड़ आदि का विशेष कर्तृत्व रहा है। श्रीमती कौशल्या देवी सिंघवानी सुदीर्घकाल तक प्रतिनिधि-सभा की प्रधाना के रूप में इस क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए सराहनीय प्रयत्न करती रही हैं। वर्तमान समय में श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव सभा के प्रधान हैं। इससे पूर्व दस वर्ष के लगभग वे मंत्री पद पर रहकर सभा के कार्यकलाप का योग्यतापूर्वक संचालन करते रहे हैं।

वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सभा द्वारा जहाँ आर्यसमाजों को अपने वार्षिकोत्सव धूमधाम के साथ मनाने के लिए प्रेरणा दी जाती है, वहाँ अनेक उपदेशक भी सभा की ओर से प्रचार-कार्य कर रहे हैं। चार उपदेशक पिछड़े हुए वनवासी जातियों के क्षेत्र में विशेष रूप से कार्यरत हैं। आर्य परिवारों को वैदिक धर्म में निष्णात करने तथा कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने के प्रयोजन से सभा द्वारा शिविरों का भी आयोजन किया जाता है। इनमें आर्य वीर दल के स्वयंसेवकों को भी ट्रेनिंग दी जाती है। देश में आर्यसमाज के जो भी आन्दोलन(गोरक्षा, शुद्धि, धर्म-रक्षाभियान आदि)चले, आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश द्वारा उनमें उत्साह के साथ भाग लिया गया। मध्यप्रदेश में अनुसूचित जनजातियों का बड़ी संख्या में निवास है। इनकी गरीबी, अशिक्षा तथा पिछड़ेपन से लाभ उठाकर क्रिश्चियन मिशनरी उन्हें ईसाई बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं और गत वर्षों में मुसलमानों ने भी उनमें कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। सार्वदेशिक सभा ने विधर्मियों के इस प्रयत्न का प्रतिरोध करने के लिए जो धर्मरक्षाभियान चलाया था, आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ ने उनमें उत्साह के साथ भाग लिया और प्रदेश में स्थान-स्थान पर हरिजन स्नेह सम्मेलन, जुलूस और प्रीतिभोजों का आयोजन कर हरिजनों तथा जनजातियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इसी का यह परिणाम हुआ कि बहुत-से हिन्दू जो ईसाई या मुसलमान हो गये थे, फिर से अपने 'पूर्वजों के धर्म में वापस आने को तैयार हो गये। सभा द्वारा जो वैदिक शुद्धि शिविर इसके लिए आयोजित किये गये, उनमें हरिजनों, गिरिजनों तथा आदिवासी स्त्री-पुरुषों ने सैकड़ों की संख्या में भाग लिया और शुद्ध होकर यज्ञोपवीत धारण किये।

मध्यप्रदेश में बहुत-सी ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ हैं, जिनका संचालन आर्यसमाजों द्वारा किया जा रहा है। इस 'इतिहास' के तीसरे भाग में आर्यसमाज के शिक्षा-विषयक कार्यकलाप का विवरण देते हुए इन संस्थाओं पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। पर कुछ शिक्षणालय ऐसे भी हैं जो आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में संचालित हैं। इनमें स्वामी अग्निवेश आर्य कन्या पाठशाला धमतरी, आर्य कन्या पाठशाला इटारसी, दयानन्द बाल विद्या मन्दिर नागपुर, तुलाराम आर्य कन्या माध्यमिक विद्यालय कूरा, तुलाराम आर्य कन्या विद्यालय दुर्ग, घनश्याम सिंह आर्य कन्या महाविद्यालय, व महर्षि दयानन्द आर्य विद्यालय भिलाई, बाल मन्दिर सरकंडा बिलासपुर, डी० ए० वी० स्कूल खापरखेड़ा, आर्य बाल मन्दिर खण्डवा, दयानन्द आर्य विद्यालय रीवाँ, दयानन्द बाल मन्दिर छिंदवाड़ा और दयानन्द आर्य कन्या विद्यालय नागपुर महत्त्व के हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश के प्रबन्ध एवं व्यवस्था में एकरूपता लाने के लिए प्रान्तीय विद्यार्य-सभा का गठन किया गया, जिसकी अध्यक्षा श्रीमती कौशल्या देवी जी सिंघवानी नियुक्त हुईं और श्री खेमचन्द सीसोदिया संयोजक। साथ ही आर्य शिक्षणालयों में धर्म-

शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिए भी एक समिति गठित की गई, जिसके मंत्री श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव को बनाया गया। श्रीवास्तव जी उस समय सभा के मंत्री भी थे।

मध्यप्रदेश का एकमात्र गुरुकुल होशंगाबाद में है, जिसकी स्थापना सन् १९१२ में सभा द्वारा की गई थी। इस गुरुकुल के संचालन के लिए भी एक पृथक् समिति गठित है, जिसकी मुख्याधिष्ठातृ श्रीमती कौशल्या देवी जी हैं। श्री पण्डित अमृतलाल शर्मा गुरुकुल के व्यवस्थापक एवं आचार्य हैं। गुरुकुल के संचालन में समय-समय पर अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ आती रहीं। पर प्रतिनिधि सभा आर्थिक घाटा उठाकर भी इस संस्था का संचालन कर रही है। देश के अन्य गुरुकुलों के समान गुरुकुल होशंगाबाद की वर्तमान दशा को भी संतोषजनक कह सकना संभव नहीं है। पर मध्यप्रदेश की आर्य जनता अपनी इस शिक्षण-संस्था की उन्नति के लिए पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है।

सत्ताईसवाँ अध्याय

विविध आर्य प्रतिनिधि सभाओं की गतिविधि व कार्यकलाप

हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, दिल्ली, मध्य प्रदेश व विदर्भ, बिहार और उड़ीसा आदि की आर्य प्रतिनिधि सभाओं के गत वर्षों के कार्यकलाप एवं गतिविधि पर पिछले अनेक अध्यायों में प्रकाश डाला जा चुका है। इस अध्याय में अब अन्य प्रतिनिधि सभाओं, विशेषतया उन सभाओं, जिनका गठन सन् १९४७ ई० के पश्चात् पृथक् रूप से हुआ है, के कर्तृत्व व विकास का विवरण दिया जा रहा है।

(१) बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा

बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा उन प्रारम्भिक छः आर्य प्रतिनिधि सभाओं में से एक है, जिन्होंने सन् १९०९ ई० में सार्वदेशिक सभा का गठन किया था। उस समय बम्बई केवल एक नगर ही नहीं था, अपितु एक पूरे प्रान्त का नाम था। इसकी सीमाओं में महाराष्ट्र का एक बहुत बड़ा भाग तथा गुजरात और कर्नाटक के भी कुछ भाग सम्मिलित थे। इस प्रतिनिधि सभा का कार्यालय बड़ौदा के दयानन्द भवन में था।

सन् १९५३ ई० में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना तथा उसके निर्णयों के कारण देश के अनेक राज्यों की सीमाओं में भारी परिवर्तन हो गये। १ मई, १९६० ई० को बम्बई प्रान्त महाराष्ट्र और गुजरात दो राज्यों मे बँट गया। राज्यों के पुनर्गठन के बाद आर्य प्रतिनिधि सभाओं का स्वरूप भी समय-समय पर बदलता रहा। पर बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा अपना कार्य पूर्ववत् करती रही तथा भूतपूर्व निजाम राज्य के कन्नड़-भाषी और मराठी-भाषी क्षेत्रों के क्रमशः कर्नाटक और महाराष्ट्र में विलय के बावजूद बम्बई प्रतिनिधि सभा का स्वरूप पूर्ववत् बना रहा।

परन्तु १९७४ ई० में कर्नाटक प्रदेश के आर्यसमाजों द्वारा अपनी पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा बना लेने के कारण तथा सार्वदेशिक सभा द्वारा उसे अपने से सम्बद्ध कर उसे वैधानिक स्वरूप देने के बाद महाराष्ट्र और गुजरात में भी पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभाएँ गठित करने का प्रयास शुरू हो गया। महाराष्ट्र और कर्नाटक के अनेक आर्यसमाज उस समय मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। महाराष्ट्र और गुजरात में पृथक् प्रतितिधि सभाओं के बन जाने से मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा के स्वरूप और क्षेत्र भी प्रभावित हुए।

बम्बई चूँकि महाराष्ट्र राज्य की राजधानी थी, अतः स्वभावतः ही बम्बई के आर्यसमाज महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत आते थे। राज्यों के नवगठन और आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुनर्गठन से बम्बई की प्रतिनिधि सभा भी मध्य-दक्षिण आर्य

प्रतिनिधि सभा की तरह निरर्थक-सी हो गई थी, क्योंकि बम्बई प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध आर्यसमाज कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात प्रतिनिधि समाजों से सम्बद्ध होना चाहते थे।

बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा ने सन् १९७४ ई० में बड़ौदा में बनाई गई गुजरात आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन का, जिसे सार्वदेशिक सभा ने मान्यता दे दी थी, घोर विरोध किया, तथा इसे बम्बई सभा के प्रति अन्याय की संज्ञा भी दे डाली। बम्बई प्रतिनिधि सभा की एक प्रकार से अस्तित्वहीनता की स्थिति हो गई थी। महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक प्रतिनिधि सभाओं के गठन से यह स्थिति और भी स्पष्ट हो गई। परन्तु विदर्भ के आर्यसमाजों को लेकर महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश में तथा बम्बई और गुजरात प्रतिनिधि सभाओं में जो विवाद चल रहे थे, उनके समाधान के लिए सार्वदेशिक सभा ने २३-५-८२ को एक नया फार्मूला स्वीकार किया। इसके अधीन बम्बई नगर क्षेत्र की एक अलग से बम्बई प्रतिनिधि सभा बनाने का निश्चय किया गया, तथा विदर्भ के आर्यसमाजों को 'मध्य प्रदेश व विदर्भ आर्य प्रतिनिधि सभा' के साथ ही सम्बद्ध रखा गया।

सार्वदेशिक सभा के इस निर्णय की भी एक पृष्ठभूमि है। बम्बई प्रतिनिधि सभा और गुजरात प्रतिनिधि सभा के विवाद ने काफी गंभीर रूप धारण कर लिया था। मामला न्यायालय तक में गया और एक समानान्तर गुजरात प्रतिनिधि सभा के गठन की भी घोषणा कर दी गई। यह विवाद बड़ौदा कन्या महाविद्यालय के संचालक पण्डित आनन्दप्रिय और बम्बई प्रतिनिधि सभा के मंत्री श्री नटवरलाल दवे के बीच में छिड़ा था। सार्वदेशिक सभा ने पण्डित आनन्दप्रिय के पक्ष को ठीक बताया और श्री दवे को अपनी २३-५-८२ की बैठक में एक प्रस्ताव द्वारा आर्यसमाज से ही निकाल दिया। ऐसी स्थिति में बम्बई प्रतिनिधि सभा के कार्य-संचालन के लिए श्री भगवती प्रसाद गुप्त की अध्यक्षता में एक तदर्थ समिति बना दी गई।

बम्बई-गुजरात-विवाद के समय बम्बई प्रतिनिधि सभा ने २९-५-७७ की बड़ौदा में हुई अपनी बैठक में एक प्रस्ताव स्वीकार कर महाराष्ट्र और गुजरात प्रतिनिधि सभाओं के पृथक् गठन की अनुमति देते हुए बम्बई की भी एक पृथक् प्रतिनिधि सभा बनाने का सुझाव दिया था। प्रस्ताव इस प्रकार था—"बम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के क्षेत्र से महाराष्ट्र, बम्बई तथा शेष प्रदेशों की महागुजरात आर्य प्रतिनिधि सभा रची जाए। इस प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करके सर्वसम्मति से यह निर्णय किया जाता है कि महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा तथा मुम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा इस प्रकार प्रतिनिधि सभा के दो विभाग करने के बाद शेष मुम्बई आर्य प्रतिनिधि के क्षेत्र को गुजरात आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से रचा जाय।"

इस प्रस्ताव को स्वयं बम्बई प्रतिनिधि सभा भी भूल-सी गई थी। सार्वदेशिक सभा ने तदर्थ समिति के अध्यक्ष श्री भगवती प्रसाद को इस प्रस्ताव की प्रति भेजने के के लिए लिखा। इसी प्रस्ताव के आधार पर सार्वदेशिक सभा ने २३ मई १९८२ ई० को पृथक् बम्बई प्रतिनिधि सभा के गठन की अनुमति दी। बम्बई की गठित तदर्थ समिति के बारे में एक पेंच पैदा हो गया। तदर्थ समिति में आर्य प्रचारिणी समिति नामक संस्था के लोगों को भी लेने के लिए कहा गया था। बम्बई केन्द्रीय आर्य सभा के मंत्री श्री ज्येष्ठ-वर्मन ने अपने ६-७-८२ के पत्र द्वारा सार्वदेशिक सभा को सूचित किया कि बम्बई में आर्य प्रचारिणी समिति नामक कोई संस्था नहीं है। अतः तदर्थ समिति का गठन कठिन हो

गया है। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि केन्द्रीय आर्य सभा के, जो कि बम्बई के आर्य-समाजों का केन्द्रीय संगठन है, पदाधिकारियों को लेकर तदर्थ समिति गठित की जाय। सार्वदेशिक सभा के मन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने इस सम्बन्ध में श्री भगवती प्रसाद गुप्त से विचार-विमर्श किया। श्री गुप्त ने श्री ज्येष्ठ वर्मन की बात का समर्थन किया। इस विचार-प्रसंग में श्री त्यागी ने यह भी सुझाव दिया कि क्यों न केन्द्रीय आर्य सभा को ही बम्बई प्रतिनिधि सभा का रूप दे दिया जाय।

श्री त्यागी के इस सुझाव को हरी झंडी समझकर केन्द्रीय आर्यसमाज की एक बैठक १५ मई, १९८३ ई० को की गई, जिससे बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन का विषय विचारार्थ रखा गया। इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद १० जुलाई, १९८३ ई० को इस प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों का चुनाव कर इसे मूर्तरूप दे दिया गया। इसके प्रधान श्री ओंकारलाल और मन्त्री श्री ज्येष्ठ वर्मन चुने गये। इस प्रकार नये रूप के साथ बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा का पुराना नाम और काम बना रहा। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा वहाँ प्रथम आर्यसमाज की स्थापना के कारण बम्बई की जो श्रेष्ठता एवं महत्ता थी, वह भी उसकी पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन से कायम रह गई।

(२) आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा

आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा इससे पूर्व दो अन्य नामों से वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य करती रही है। सर्वप्रथम ४ एप्रिल १९३१ ई० से हैदराबाद रियासत (निजाम राज्य) के आर्यसमाजों ने 'हैदराबाद आर्य प्रतिनिधि सभा' के रूप में कार्य किया। इसका कार्यालय पहले कभी हलीखेड़ में रहता था, तो कभी उदगीर में। उस समय हैदराबाद में आर्यसमाज के दो मुख्य नेता थे—श्री वंशीलाल और श्री श्यामलाल। उनका जहाँ कहीं पड़ाव होता, वहीं सभा का कार्यालय भी कायम हो जाता था। बाद में १९४१ ईसवी से सभा का कार्यालय बेगमपेठ में श्री विनायक राव विद्यालंकार की कोठी में कई वर्षों तक रहा।

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के कारण प्रान्तीय सभाओं के स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इससे जो राज्य विशेष रूप से प्रभावित हुए, वे बम्बई, मध्य भारत और हैदराबाद थे। ६ अक्टूबर १९५६ ईसवी को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा की बैठक में इस प्रश्न पर विचार किया गया। इस पर और अधिक व्यापक विचार के लिए दक्षिणी प्रान्तों के आर्य नेताओं का एक सम्मेलन हैदराबाद में करने का निश्चय किया गया। यह सम्मेलन १६ जनवरी १९५७ ई० को हुआ। इसमें यह महत्त्व-पूर्ण निर्णय किया गया कि हैदराबाद आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यक्षेत्र को दक्षिण के अन्य राज्यों में भी बढ़ाया जाय और इस सभा का नाम बदलकर 'मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा' रखा जाय। इसके अधीन आनेवाले राज्य थे—आन्ध्र, मद्रास, कर्नाटक और केरल।

इस प्रकार मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उसका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। इस विस्तार के साथ इसके कार्य में भी जटिलता आने लगी। उसे अपना प्रचार-कार्य पाँच भाषाओं—तमिल, तेलुगु, कन्नड़,

मलयालम और मराठी—में करना पड़ता था। इन भाषाओं में वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाले योग्य व्यक्ति प्राप्त करना बड़ा दुष्कर कार्य था, फिर भी निष्ठावान् आर्य-समाजियों की लगन से यह कार्य सम्पन्न होता रहा।

परन्तु मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा तथा हैदराबाद के मुख्य आर्यसमाज (मुल्तान बाजार) में कार्यालय के प्रश्न को लेकर जो विवाद शुरू हुआ, वह काफी लम्बा चला। अन्त में सार्वदेशिक सभा के हस्तक्षेप से इसका सन्तोषजनक समाधान निकाला गया। सन् १९६० ई० में सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन प्रधान बाबू पूर्णचन्द्र एडवोकेट तथा श्री रघुवीरसिंह शास्त्री (मन्त्री) इसी प्रयोजन से दो सप्ताह तक हैदराबाद में रहे। उनके निर्णय को दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया, और न्यायालय में दायर मुकद्दमे वापस ले लिये गए। इस निर्णय को रजिस्ट्रियाँ आदि कराकर वैधानिक स्वरूप प्रदान कर दिया गया।

इस विवाद के समाप्त होने के बाद मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा के दो गुटों में पदाधिकारियों के चुनाव को लेकर एक नया विवाद शुरू हो गया। इसे सुलझाने के लिए सार्वदेशिक सभा से प्रार्थना की गई। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल वानप्रस्थ (शालवाले) स्थिति का स्वयं निरीक्षण करने २१ मई १९७७ ई० को हैदराबाद गये। इस विवाद के कारण सभा के गत चार वर्ष से चुनाव नहीं हो सके थे।

सारी स्थिति का निरीक्षण कर तथा दोनों पक्षों के विचारों को जानने के बाद श्री रामगोपाल वानप्रस्थ (शालवाले) ने सार्वदेशिक सभा की नियमावली की धारा '१० ग' में दिये गए अधिकार से उक्त सभा का संगठन भंग करके कार्य-संचालन के लिए २२-५-७७ को एक तदर्थ समिति का निर्माण कर दिया, और १०-७-७७ की सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने इस निर्णय की पुष्टि कर दी।

इस विवाद को सुलझाने में सहयोग के लिए श्रीमान् छोटूसिंह जी एडवोकेट उपप्रधान सभा तथा प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान, पण्डित राजगुरु शर्मा, अन्तरंग-सदस्य सार्वदेशिक सभा एवं प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य भारत, तथा डॉ० सुरेशचन्द्र जी शास्त्री (झाँसी) भी उपस्थित थे। इन सभी महानुभावों ने इस मामले पर बड़ी गम्भीरता से अपने परामर्श दिये, जिनका उपस्थित अन्तरंग सदस्यों तथा अधिकारीगणों एवं आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य-दक्षिण ने स्वागत किया। श्री कौतूरसीत्तैया गुप्त प्रधान सभा एवं श्री छगनलाल जी विजयवर्गीय मन्त्री सभा ने बड़ी उदार भावना से प्रस्ताव किया कि हम लोग अपनी सभा के समस्त विवाद निपटाने के लिए सम्पूर्ण अधिकार सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल जी वानप्रस्थ को देते हैं। उपस्थित अन्तरंग-सदस्यों तथा आर्य भाइयों ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का अनुमोदन कर इसे पारित किया।

इस प्रस्ताव के आधार पर श्री शालवाले ने मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा को भंग कर उसके स्थान पर एक तदर्थ समिति बना दी। इस तदर्थ समिति के संयोजक हिन्दी कला महाविद्यालय के प्राचार्य श्री कृष्णदत्त को बनाया गया। समिति के अन्य सदस्य थे—श्री रामचन्द्रराव कल्याणी (प्रधान), श्री गुण्डेराव हरबड़ाकर, रिटायर्ड सेशन जज, पंडित बृजदिल (संयोजक), श्रीमती सुशीला देवी विद्यालंकार और श्री पुरुषोत्तमदेव आयुर्वेदालंकार। समिति से कहा गया कि वह नया चुनाव ६ मास के अन्दर करा दे।

समिति के संयोजक श्री कृष्णदत्त ने इस चुनाव को कराने के लिए बहुत प्रयास किये, पर हर बार कोई-न-कोई बाधा उपस्थित हो जाती थी। श्री कृष्णदत्त के संयोजन-काल से पूर्व ही महाराष्ट्र एवं कर्नाटक प्रतिनिधि सभाओं के पृथक् रूप से निर्माण का कार्य शुरू हो गया था। मद्रास आर्यसमाज भी इससे निकल गई थी। इससे मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थिति निरन्तर नाजुक होती जा रही थी। श्री कृष्णदत्त ने कहा कि मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा की जैसी स्थिति है, उससे उसका अस्तित्व ही समाप्त होना चाहता है, अतः मुझे इस पद से मुक्त किया जाये। पर तदर्थ समिति दो वर्ष तक कार्य करती रही तथा १४ एप्रिल १९७९ ई० को ही चुनाव सम्पन्न हो सका।

नये पदाधिकारियों ने १५ अक्टूबर १९८० ई० में एक प्रस्ताव स्वीकार कर मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा का नाम बदलकर आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा रखने का सुझाव दिया। इसे सार्वदेशिक सभा ने २२ फरवरी, १९८२ ई० को विधिवत् सम्पुष्ट कर दिया। इस प्रकार तीसरी बार इस सभा को नया नाम मिला।

आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या १९० है। सभा के निरीक्षण-निदेशन में १४ विद्यालय तथा एक गुरुकुल चल रहा है। २५ दयानन्द विद्यामन्दिर भी चल रहे हैं।

दक्षिण भारत में इस्लामीकरण की चुनौती का सामना करने के लिए आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा को मुख्य केन्द्र बनाया गया है। मीनाक्षीपुरम् सम्मेलन के समय इस सभा के अधिकारियों ने सर्वात्मना जो कार्य किया, वह सबको विदित ही है। दक्षिण का धर्म-रक्षा केन्द्र मीनाक्षीपुरम्, मदुराई और रामनाथपुरम् में धर्मान्तरण को रोकने के लिए सदैव सक्रिय रहा है।

इस सभा के अन्तर्गत एक वंशीलाल स्मारक पुस्तकालय है, जिसमें लगभग २० हजार पुस्तकों का संग्रह है। दक्षिण भारत में आर्यसमाज का यह सबसे बड़ा पुस्तकालय है। सभा का अपना प्रकाशन विभाग भी है, जिस द्वारा दक्षिण भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी और हिन्दी में साहित्य का प्रकाशन किया जाता है।

(३) कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा

कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना सर्वप्रथम २३ जनवरी, १९५६ ई० को बेंगलूर में की गई थी। सार्वदेशिक सभा के उस समय के प्रधान स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती दक्षिण भारत के दौरे के समय जब मैसूर गये, तब इस प्रकार की सभा की आवश्यकता अनुभव कर तत्काल उसका गठन कर दिया गया। इसके प्रथम प्रधान श्री जे० नारायण राव और मंत्री श्री आर्यमूर्ति चुने गए। उपप्रधान क्रमशः श्री मोहनप्पा तिगलाय और विजय कपूर तथा उपमंत्री श्री एस मरिमैया और वेंकट रामानुजैया चुने गए। इस सभा का कार्य-क्षेत्र तब मुख्यतः मैसूर राज्य तक सीमित था।

राज्यों के पुनर्गठन के कारण मैसूर रियासत, हैदराबाद रियासत के तीन जिलों—बीदर, गुलबर्गा, रायचूर—तथा बम्बई राज्य के कुछ कन्नड़-भाषी क्षेत्रों को मिलाकर नये कर्नाटक राज्य का निर्माण किया गया।

इसी नव-निर्मित कर्नाटक राज्य के आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन ३, ४ और ५ जून, ६४ को गुलबर्गा में सम्पन्न हुआ। इसमें यह निश्चय किया गया कि

कर्नाटक के आर्यसमाजों की, जो इस समय मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध हैं, एक पृथक् प्रतिनिधि सभा बनाई जाए। इस निश्चय को कर्नाटक के आर्यसमाजों के प्रधानों और मंत्रियों की १५ अगस्त, १९६४ को बेंगलूर में हुई सभा में सम्पुष्ट किया गया तथा, उसी दिन तार द्वारा कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन की सूचना देते हुए सार्वदेशिक सभा से इस नई सभा को मान्यता देने की प्रार्थना की गई। १६ सितम्बर ६४ को रायचूर में हुई बैठक में नई सभा के अधिकारियों का चुनाव भी कर लिया गया। इस सम्बन्ध में आवश्यक पत्र-व्यवहार के अनन्तर के सार्वदेशिक सभा ने अपनी २६-१०-६४ की बैठक में कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन को विधिवत् मान्यता प्रदान कर दी। सार्वदेशिक सभा ने उसे अपने से सम्बद्ध करने के निश्चय से भी सूचित कर दिया।

कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन के सम्बन्ध में भी कुछ वैधानिक या व्यावहारिक कठिनाइयाँ आईं। पुराने निजाम राज्य के तीन कन्नड़भाषी जिले रायचूर, बीदर और गुलबर्गा—कर्नाटक में मिलाये गए थे। इस जिलों के आर्यसमाज जहाँ मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध थे, वहाँ उनका अपना भी एक रजिस्टर्ड संगठन था। नव-गठित कर्नाटक में जहाँ आर्यसमाजों की कुल संख्या ६० थी, वहाँ अकेले इन तीन जिलों में स्थापित आर्यसमाजों की संख्या ४० थी। निजाम राज्य का अंग होने के कारण इनमें आर्यसमाज का अच्छा प्रचार था। परन्तु इस समस्या को भी परस्पर मिलकर सुलझा लिया गया तथा मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा ने इन आर्यसमाजों को अपने से अलग होकर कर्नाटक प्रतिनिधि सभा में मिलने की अनुमति दे दी।

कर्नाटक प्रतिनिधि सभा की सबसे पहली उपलब्धि यह रही कि उसने कन्नड़ भाषा में पण्डित संजीव कामथ के सम्पादकत्व में 'वेदप्रकाश' नाम से एक मासिक पत्र को प्रकाशित कर वैदिक सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य शुरू किया। इससे पूर्व कन्नड़ भाषा में इस प्रकार का कोई पत्र नहीं था। प्रतिनिधि सभा का कार्यालय, जो कुछ समय गुलबर्गा में रहा था, १ अक्टूबर १९७५ को स्वामी श्रद्धानन्द भवन, विश्वेश्वरपुरय्, बेंगलूर में आ गया। सभा की अन्य बड़ी उपलब्धि कन्नड़ भाषा में सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन है। इसका अनुवाद एवं प्रकाशन सभा ने अपने प्रधान श्री रामकृष्णप्पा के सहयोग से किया। इसका विमोचन पंडित सुधाकर चतुर्वेदी द्वारा किया गया। सत्यार्थप्रकाश के कन्नड़ अनुवाद की माँग बहुत दिनों से चली आ रही थी। सभा के अन्य कार्यों में श्रद्धानन्द भवन में दयानन्द औषधालय का संचालन, यादगीर में दयानन्द बाल मंदिर (विद्यालय) का संचालन और संस्कृत तथा वेद की परीक्षाओं की व्यवस्था मुख्य हैं।

सभा के प्रयास से इन्दिरानगर आर्यसमाज ने अपना भवन तैयार किया, जिसका उद्घाटन ८-५-७८ ई० को श्री के० रामकृष्णप्पा ने किया। समारोह की अध्यक्षता डॉ० एन० आर० शर्मा ने की तथा मुख्य वक्ता विधानसभा-सदस्या श्रीमती एस० प्रमिला थी। इस अवसर पर पूरे सप्ताह यज्ञ किया गया, तथा विद्वानों के भाषण आयोजित किये गये।

'वेदप्रकाश' मासिक पत्र के अतिरिक्त कर्नाटक प्रतिनिधि सभा ने अपनी गतिविधियों को आर्य सभासदों तक पहुँचाने के लिए हिन्दी में भी 'आर्यभूमि' नामक एक

पत्र का प्रकाशन शुरू किया है।

विश्वेश्वरपुरम्-स्थित श्रद्धानन्द भवन के बारे में १९८० ई० में समाज के ही सदस्यों में स्थान और कमरों के प्रश्न को लेकर विवाद शुरू हो गया। यह विवाद इस बात को लेकर हुआ था कि कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय श्रद्धानन्द भवन में रहे या न रहे। १९८० ई० में सभा के मंत्री तथा कोषाध्यक्ष आदि ने सभा के कार्यालय को वहाँ से हटाने का प्रयास किया। इस पर प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामकृष्णप्पा ने अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए श्रद्धानन्द भवन में आर्यसमाज की गतिविधियों का निरीक्षण-नियंत्रण करने के लिए तीन व्यक्तियों—सर्वश्री रामशरण आहूजा, श्री ब० एन० व्यकोबाराव और श्री एस० मारीयप्पा की एक समिति बना दी। इस बारे में कोर्ट में भी मामला गया, तथा बाद में १३ जनवरी १९८७ ई० को इस भवन में आर्यसमाज का सत्संग लगाने और भवन में ही कर्नाटक आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय रहने के बारे में भी समझौता हो गया।

श्रद्धानन्द भवन का निर्माण १९२८–३१ ई० में स्वामी सत्यानन्द जी के प्रयास से हुआ था, तथा उसी वर्ष बेंगलूर के इसी भवन में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। इससे पूर्व स्वामी जी ने ९ जनवरी, १९२१ को बेंगलौर बसवन्नगुड्डी में कनकहल्ली मार्ग पर पहले आर्यसमाज की स्थापना की थी। कर्नाटक (भूतपूर्व मैसूर राज्य) में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार करनेवालों में पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इन्हें विशेष रूप से आर्यसमाज के प्रचार के लिए इस क्षेत्र में भेजा था।

(४) महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा

दक्षिण भारत में आर्यसमाज के सुव्यवस्थित और सुगठित प्रचार के लिए सन् १९५६ ई० में सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के सुझाव पर आन्ध्र, महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिल क्षेत्रों की एक आर्य प्रतिनिधि सभा 'मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा' के नाम से गठित की गई थी तथा इन राज्यों के आर्यसमाजों को इससे सम्बद्ध कर दिया गया था। किन्तु राज्यों के पुनर्गठन के कारण सार्वदेशिक सभा ने राज्यों की राजनैतिक सीमाओं के आधार पर कर्नाटक, आन्ध्र, महाराष्ट्र, केरल और तमिलनाडु में पृथक्-पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभाओं को गठित करने का निर्णय किया।

इसी निर्णय के परिप्रेक्ष्य में तथा राज्यों के पुनर्गठन के कारण पूना की केन्द्रीय आर्य प्रचार समिति ने महाराष्ट्र में आर्यसमाज को सशक्त रूप देने की दृष्टि से १६ दिसम्बर १९७६ को पिम्बरी में निष्ठावान् आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं की एक बैठक बुलाई। इसमें महाराष्ट्र के समस्त आर्यसमाजों को पृथक् आर्य प्रनिनिधि सभा में गठित करने का निर्णय किया गया। इस निर्णय को व्यापक रूप से सम्पुष्ट करने के लिए उक्त समिति ने आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों की और बड़ी बैठक १६ जनवरी १९७७ को पुणे में बुलाई। इसने महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्माण के निश्चय को सर्व-सम्मति से सम्पुष्ट कर दिया। इस बैठक में यह भी निश्चय किया गया कि ४ से ६ मार्च ७७ को नान्देड़ में महाराष्ट्र के सभी आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों (प्रधान, मंत्री और कार्यकर्ताओं) की एक बैठक बुलाकर इस निर्णय को मूर्तरूप दे दिया जाए। नान्देड़ सम्मेलन

के लिए स्वामी सदानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में एक कृति (आयोजन) समिति गठित की गई। इसका कार्यालय नैतिक सेवा आश्रम बाजेगाँव, नान्देड़ में रखा गया। इसके संयोजक श्री निवृत्ति राव होलीकर नियुक्त हुए। नान्देड़ की इस बैठक में सर्वसम्मति से चुनाव कर महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन कर दिया गया। सभा के प्रधान स्वामी सदानन्द जी और मंत्री श्री धर्मवीर नियुक्त हुए। इस सभा के गठन के समय इसके अन्तर्गत आनेवाले आर्यसमाजों की संख्या १८५ थी।

महाराष्ट्र प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन जितनी आसानी से हो गया, उसमें उतनी ही पेचीदगियाँ भी पैदा हो गईं। 'मध्यप्रदेश व विदर्भ आर्य प्रतिनिधि सभा' ने इसे अपने क्षेत्र का अतिक्रमण बताया, क्योंकि विदर्भ के (जो अब महाराष्ट्र राज्य का अंग हो चुका था) आर्यसमाज इस सभा के साथ सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त मध्य-दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा के संयोजक श्री कृष्णदत्त ने भी बिना उनकी सभा की अनुमति लिये महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन को अवैधानिक बताया। इससे पूर्व कर्नाटक प्रतिनिधि सभा के गठन को भी इस सभा ने अवैधानिक बताया था। बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के अधीन आनेवाले समाजों को भी महाराष्ट्र प्रतिनिधि सभा में शामिल कर लेने से बम्बई प्रतिनिधि सभा भी इस बारे में कर्तव्यविमूढ़ हो गई थी। नवगठित महाराष्ट्र प्रतिनिधि सभा सार्वदेशिक सभा पर अपने को मान्यता देने के लिए दबाव डाल रही थी। विदर्भ और शेष महाराष्ट्र के आर्यसमाजों में एक रस्साकशी की स्थिति पैदा हो गई थी। मध्य प्रदेश एवं विदर्भ प्रतिनिधि सभा ने अपनी १०-५-७७ ई० की बैठक में यह प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया कि विदर्भ के आर्यसमाजों को मध्य-प्रदेश सभा के साथ ही रखा जाय।

इस विवाद को ध्यान में रखकर महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा ने सार्वदेशिक सभा को वस्तुस्थिति से अवगत कराने तथा आवश्यक मान्यता एवं वैधानिकता को प्राप्त करने के लिए एक समिति का गठन किया, जिसके सदस्य श्री सदाविजय आर्य, श्री कुशलदेव शास्त्री एवं श्री आर्यमुनि थे। सार्वदेशिक सभा ने इस बारे में शीघ्र निर्णय नहीं लिया, तथा २६ नवम्बर १९७६ को अन्तरंग सभा की बैठक ने यह मत प्रकट किया, क्योंकि "जब तक सम्बद्ध प्रतिनिधि सभाएँ इसके निर्माण के औचित्य को स्वीकार नहीं करतीं, तबतक सार्वदेशिक सभा महाराष्ट्र प्रतिनिधि सभा की मान्यता की प्रार्थना स्वीकार नहीं कर सकती।"

आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य-दक्षिण की अन्तरंग सभा ने अपनी १३ जनवरी १९८० ई० की बैठक में एक प्रस्ताव स्वीकार कर यह छूट दे दी कि सभा के अधीन आने-वाले मराठवाडा के आर्यसमाज सभा से सम्बन्ध विच्छेद कर अन्य प्रतिनिधि से अपने को सम्बद्ध कर सकते हैं। सभा को मराठावाडा के ४८ आर्यसमाजों ने इसके लिए आवेदन-पत्र भी भेजे थे। बाद में सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने अपनी २ अगस्त १९८० को हुई बैठक में लगभग साढ़े तीन वर्ष बाद महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन को मान्यता प्रदान कर दी। इस मान्यता के बाद महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपना प्रथम वार्षिक अधिवेशन २३-२४ एप्रिल १९८१ ई० को बाजेगाँव नान्देड़ में बड़ी धूमधाम से मनाया।

परन्तु सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा की एक और बैठक में, जो २३ मई

१९८३ को हुई थी, प्रतिनिधि सभाओं के पुनर्गठन में कुछ परिवर्तन किये गये। एक परिवर्तन के अनुसार बम्बई महानगर क्षेत्र की पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा बनाकर उसे महाराष्ट्र प्रतिनिधि सभा के क्षेत्र से बाहर कर दिया गया। इसी प्रकार मध्य प्रदेश व विदर्भ प्रतिनिधि सभा की वर्तमान सीमाओं को यथावत् रहने का निर्णय कर महाराष्ट्र सभा से विदर्भ क्षेत्र के आर्यसमाजों को भी अलग कर दिया गया। एक सीमित क्षेत्र में गुजरात प्रतिनिधि सभा पहले से ही विद्यमान थी।

सार्वदेशिक सभा के इस निर्णय से महाराष्ट्र प्रतिनिधि सभा का खिन्न होना स्वाभाविक था। अतः उसने एक प्रस्ताव पारित कर सार्वदेशिक सभा से पुनः आग्रह किया कि बम्बई महानगरी और विदर्भ क्षेत्र के आर्यसमाजों को आर्य प्रतिनिधि सभा महाराष्ट्र क्षेत्र के अन्तर्गत ले आया जाय। पर सार्वदेशिक सभा ने अभी इसे स्वीकार नहीं किया है। इनकी आर्य प्रतिनिधि सभाएँ अभी पूर्ववत् पृथक् विद्यमान हैं।

(५) आर्यसमाज मद्रास सेण्ट्रल

आर्यसमाज मद्रास सेण्ट्रल की स्थापना ३ फरवरी १९१४ ई० को हुई थी। इस समाज को तथा मद्रास की ही दो अन्य आर्यसमाजों—ट्रिप्लिकेन और सुले—को ११ मार्च १९३४ ई० को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने साथ सम्बद्ध कर लिया था। बाद में इन्हें दक्षिण-भारत आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध कर दिया गया। परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हुई उथल-पुथल में और १९५४ ई० में हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही के बाद दक्षिण-भारत प्रतिनिधि सभा का अस्तित्व एक प्रकार से समाप्त हो गया और नई प्रान्तीय संरचना के आधार पर नई प्रतिनिधि सभाएँ बनाने की प्रक्रिया शुरू हो गई।

इस स्थिति में आर्यसमाज मद्रास सेण्ट्रल ने ११ मार्च, १९५६ ई० को एक प्रस्ताव स्वीकार कर दक्षिण-भारत प्रतिनिधि सभा से अपना सम्बन्ध समाप्त कर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली से अपने को पुनः सीधा सम्बद्ध करने का निश्चय किया। इस प्रस्ताव की सूचना सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को दे दी गई। सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध किये जाने की प्रार्थना के साथ मद्रास आर्यसमाज का सार्वदेशिक सभा में प्रतिनिधित्व करने के लिए श्री टी० नारायण का नाम भी प्रेषित कर दिया गया। १९५६ ई० में मद्रास आर्यसमाज के सदस्यों की संख्या ५७ थी। श्री सत्यदेव उसके मन्त्री थे और प्रधान श्री इन्द्रसेन थे।

सेण्ट्रल मद्रास आर्यसमाज को सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध करने के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा की एक बैठक २८-४-१९५६ ई० को हुई। इसमें सदस्यता-प्रपत्र और प्रतिनिधि फॉर्म को उचित पाया गया तथा मद्रास आर्यसमाज को सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

मद्रास द्वारा पृथक् रूप से सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध होने से पूर्व मद्रास में आर्यसमाज के प्रचार का श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द जी के अथक प्रयासों तथा उनके द्वारा प्रेषित निष्ठावान् कार्यकर्ताओं को है, जिनमें श्री मानिकलाल शर्मा और श्री केशवदेव ज्ञानी विद्यालंकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सार्वदेशिक सभा ने १-८-१९५६ ई० को मद्रास आर्यसमाज के नियम और उप-नियम किस प्रकार के हों, इस बारे में उसे एक नियमावली का प्रारूप भेजा। इसे स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार मामूली परिवर्तन कर मद्रास आर्यसमाज ने स्वीकार कर लिया। सार्वदेशिक सभा ने अपने नियमों में समाज की कार्यवाही हिन्दी भाषा में रखने का सुझाव दिया था, पर मद्रास आर्यसमाज ने भाषा के प्रश्न पर स्थानीय तमिल भाषा या अंग्रेजी में कार्यवाही दर्ज करने की छूट माँगी, जिसे सार्वदेशिक सभा ने मान लिया, परन्तु साथ ही यह सुझाव भी दिया कि समाज अपने सदस्यों को हिन्दी सिखाने के लिए हिन्दी की कक्षाएँ प्रारम्भ करें। श्री टी० नारायण के बाद मद्रास आर्यसमाज ने सार्वदेशिक सभा में अपने प्रतिनिधि के रूप मे श्री धर्मजित् जिज्ञासु को नियुक्त किया। उसके बाद अगले तीन वर्षों के लिए मद्रास का प्रतिनिधित्व श्री पी० सी० कल्याण-सुन्दरम् ने किया। १९५६ ई० में मद्रास आर्यसमाज की सदस्य-संख्या ५७ थी, वह १९६२ ई० में बढ़कर १०९ हो गई थी। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस समाज के तीन-चौथाई सदस्य तमिल हैं। १९६३-१९६४ ई० की आर्यसमाज की वार्षिक रिपोर्ट में भी श्री धर्मजित् जिज्ञासु ने लिखा है—"हमारे समाज की एक विशेषता यह है कि इसके अधिकांश सदस्य स्थानीय भाई ही हैं तथा हमारे समाज की कार्यवाही हिन्दी, तमिल और अंग्रेजी तीनों भाषाओं में चलती है तथा इससे हम सभी लाभान्वित होते हैं।"

मद्रास आर्यसमाज ने १९६० ई० में समाज मन्दिर में एक कन्या पाठशाला भी शुरू की और १९६२ ई० में इसके लिए अलग से भूमि भी क्रय कर ली गई। १९६८ ई० में तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री व्यंकट गिरि ने आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव में स्वयं पधारकर इसका उद्घाटन किया। उन्होंने अपने भाषण में महर्षि दयानन्द को एक असाधारण हृदयवाला कर्मनिष्ठ समाज-सुधारक और वैदिक विद्वान् कहकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की।

इसी आर्यसमाज के प्रयास से ७ अगस्त १९५७ ई० को नगर के एक क्षेत्र तिरुवोट्टीयूर में भी आर्यसमाज की एक शाखा स्थापित की गई। इससे पूर्व समाज की एक शाखा १९६६ ई० में माउँट रोड पर खुल गई थी। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के आग्रह पर आर्यसमाज ने १९६७ ई० में ही सभा को अपना हिन्दी प्रचार केन्द्र समाज भवन में खोलने की अनुमति दे दी थी। इस केन्द्र में २०० से अधिक लोगों को हिन्दी पढ़ाई जाती है।

तमिलनाडु आर्यसमाज एजुकेशनल सोसायटी मद्रास, आर्यसमाज तथा आर्य-समाज ट्रस्ट बोर्ड के प्रयास से २८ सितम्बर १९६३ ई० को 'निर्मला बहिन चन्दूलाल पारीख आर्यसमाज गर्ल्स स्कूल' की विधिवत् स्थापना की गई। इस विद्यालय के नवीन भवन का उद्घाटन तमिलनाडु के तत्कालीन गवर्नर श्री के०के० शाह ने किया। इस उद्घाटन-समारोह की अध्यक्षता तमिलनाडु के तत्कालीन शिक्षामन्त्री श्री वी० आर० नेदुचेझियन ने की। सार्वदेशिक सभा के मन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने इस अवसर पर समाज को इस सत्कार्य के लिए बधाई दी। इस विद्यालय में अब छात्राओं की संख्या १००० हो गई है।

१९७३ ई० में कुछ सुधारवादी आर्यसमाजी तमिल युवकों ने वेदों का प्रचार-प्रसार करने के लिए 'दयानन्द मिशन' नामक एक संस्था का संगठन किया। इसके प्रथम मन्त्री श्री के० बेलायुधन थे। वैदिक साहित्य के प्रकाशन के साथ-साथ इस मिशन ने आर्यसमाज स्थापना शताब्दी पर एक रात्रि वेद पाठशाला शुरू की तथा एक आर्यसमाज की भी स्थापना की।

बालिकाओं के विद्यालय के अतिरिक्त आर्यसमाज के तत्त्वावधान में एक डी० ए० वी० स्कूल भी चल रहा है जो मद्रास नगर के सबसे अच्छे समझे जाने वाले स्कूलों में एक है। इस स्कूल के नये भवन का उद्‌घाटन १९७२ ई० में तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने १९ फरवरी को किमा था। प्राचार्य (कुलपति) श्री एस० बालकृष्ण जोशी के नेतृत्व में इस स्कूल ने अभूतपूर्व उन्नति की है। प्राचीन संस्कृति को आधुनिक शिक्षा के परिवेश में नवीन रूप में प्रस्तुत करने में इस स्कूल ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

इस समय डी० ए० वी० स्कूल में छात्रों की संख्या १५०० तथा स्टाफ की संख्या ७५ है। आल इण्डिया सैकण्डरी स्कूल और आल इण्डिया सीनियर स्कूल सर्टि-फिकेट परीक्षाओं में बैठनेवाले यहाँ के लगभग ९० प्रतिशत छात्र प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं। विज्ञान एवं मानवीय विषयों में विशेष दक्षता (डिस्टिंक्शन) पाने वालों छात्रों की संख्या २५ प्रतिशत होती है।

आर्यसमाज मद्रास के प्रयत्न से महर्षि दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का तमिल भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित किया गया। अनुवाद का कार्य योग समाज, मद्रास के योगी श्री शुद्धानन्द भारती ने तथा प्रकाशन मद्रास आर्यसमाज ने किया। इस तमिल सत्यार्थप्रकाश का विमोचन तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती ने ६ जनवरी १९७५ ई० को किया था।

मद्रास समाज के तत्त्वावधान में छः शाखा आर्यसमाज स्थापित हुए। इनमें एक महिला आर्यसमाज भी है। लाला इन्द्रसेन इसके शुरू से प्रधान रहे, तथा बाद में संरक्षक बनाये गये। ये शाखाएँ क्रमशः माउँट रोड, ओहेरी, कोदम्बकम्, ट्रिप्लिकेन तथा तिरु-वोट्टियूर में है।

समाज की ओर से बालिका विद्यालय और डी० ए० वी० स्कूल के अतिरिक्त ट्रिप्लिकेन में दयानन्द प्राथमिक पाठशाला भी चलाई गयी है, जिसमें ५०० छात्र-छात्राएँ हैं। इस स्कूल के ५० निर्धन वर्ग के बच्चों को भोजन भी पाठशाला की ओर से दिया जाता है। इसके अतिरिक्त व्यासरपाडी में सरकारी सहायता प्राप्त एक अन्य प्राथमिक पाठशाला भी चलाई जाती है, जिसमें छात्रों की संख्या १००० के लगभग है।

जरूरतमन्द लोगों की देखभाल, चिकित्सा और ओषधियाँ देने के लिए आर्य-समाज की एक मेडिकल रिलीफ सोसायटी भी काम कर रही है। मीनाक्षीपुरम् के सामूहिक धर्मान्तरण के बाद हिन्दुओं में चेतना जगाने के लिए आर्यसमाज मद्रास सेण्ट्रल ने १५-१६ जुलाई १९८१ को तथा २६-२७ जुलाई को रामनाथपुरम् में हिन्दू सम्मेलन आयोजित किये, जिनका परिणाम बड़ा आशातीत रहा।

मद्रास आर्यसमाज यद्यपि एक प्रकार से एक प्रतिनिधि सभा के रूप में सार्व-देशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध था, फिर भी इस बात की आवश्यकता अनुभव

की गई कि सारे तमिलनाडु का प्रतिनिधित्व करने वाली एक आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन किया जाना चाहिये। इस बात को ध्यान में रखकर सार्वदेशिक सभा ने मद्रास आर्यसमाज के सदस्यों से सम्पर्क कर इस विषय में कार्य करने का सुझाव दिया। आर्य-प्रतिनिधि सभा के गठन के लिए यह आवश्यक है कि उस राज्य में कम-से-कम १५ आर्य-समाज हों जो परस्पर मिलकर आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन करें। इस कार्य को गति देने के लिए सार्वदेशिक सभा के मन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने २६-५-१९८१ ई० को श्री जयदेव जी को आर्य प्रतिनिधि सभा गठित करने के लिए संयोजक नियुक्त किया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

सर्वप्रथम मदुरै में आर्यसमाज की स्थापना का प्रयास किया गया तथा वहाँ एक भवन किराये पर लेकर समाज स्थापित कर दिया गया। सार्वदेशिक सभा ने इस भवन का किराया देना स्वीकार कर लिया। प्रारम्भ में ४१ व्यक्ति इस आर्यसमाज के सभासद् बने। समाज के प्रथम मन्त्री श्री एम० एस० राममूर्ति बने तथा प्रचारक बी० आर० कृष्ण आर्य को बनाया गया। श्री कृष्ण आर्य को मान-धन सार्वदेशिक सभा से ही दिया गया। ८ नवम्बर १९८१ ई० को आर्यसमाज का विधवत् उद्घाटन भी सम्पन्न हुआ।

सन् १९७५ ई० में आर्यसमाज मद्रास की ओर से दो चरणों में एप्रिल, अगस्त तथा सितम्बर में आर्यसमाज का स्थापना शताब्दी-समारोह मनाया गया। प्रथम चरण में वैदिक साहित्य और आर्यसमाज की उपलब्धियों तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन से सम्बद्ध एक प्रदर्शनी आयोजित की गई। दूसरे चरण में प्रभात फेरियों, जलूसों एवं सभा-सम्मेलनों का आयोजन किया गया।

इसी प्रकार १९८२ ई० में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह भी बड़ी धूमधाम से तथा विशाल स्तर पर मनाया गया। इसका एक कारण यह भी था कि मद्रास सरकार ने तमिल में अनूदित सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम चार समुल्लासों पर यह कहकर आपत्ति प्रकट की थी कि इससे जाति-द्वेष फैलने तथा शान्ति-भंग होने की आशंका है। सरकार को इसका उत्तर देने के साथ आर्यसमाज ने शताब्दी समारोह के माध्यम से भी अपना उत्तर दे दिया।

(६) मध्य भारत आर्य प्रतिनिधि सभा

मध्य भारत आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना १९४९ ई० में इन्दौर में श्री महाशय मोतीलाल आर्य के अनथक प्रयासों से सम्पन्न हुई थी। इसका पंजीकरण १९५१ ई० में हुआ। यह प्रतिनिधि सभा भारत के परिवर्तित राजनैतिक स्वरूप का ही एक परिणाम है। मध्य भारत की तत्कालीन रियासतों—ग्वालियर, भोपाल और इन्दौर में विद्यमान आर्यसमाजों के एक शीर्ष संस्था के अन्तर्गत लाने के लिए इस सभा का गठन किया गया। इसके प्रथम प्रधान श्री त्रिलोकीनाथ भार्गव निर्वाचित हुए थे। इस समय इस सभा को सुविधा की दृष्टि से ६ संभागों में बाँटा गया है। ये संभाग हैं—ग्वालियर, गुना, भोपाल, इन्दौर, उज्जैन और रतलाम। पश्चिमी नीमाड और चम्बल क्षेत्र के भी दो पृथक् संभाग बनाने की प्रक्रिया चल रही है।

सभा का अब प्रधान कार्यालय तांत्या टोपे नगर भोपाल में है, तथा इसका अपना निजी भवन है। सभा से सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या १५५ है। सभा से सम्बद्ध आर्य-

समाजों द्वारा जो कार्य हो रहे हैं, उनका विवरण इस प्रकार से है—

१.	प्राथमिक विद्यालय	२०
२.	माध्यमिक विद्यालय	१२
३.	उच्चतर माध्यमिक विद्यालय	६
४.	कन्याशालाएँ	५
५.	वाचनालय	२०
६.	पुस्तकालय	३५
७.	होम्योपैथिक चिकित्सालय	८
८.	आयुर्वेदिक चिकित्सालय	५
९.	एलोपैथिक चिकित्सालय	३
१०.	कुष्ठरोग चिकित्सालय	१
११.	व्यायामशालाएँ	१०५
१२.	बाल बाड़ियाँ	१०
१३.	अनाथालय	१
१४.	गुरुकुल	१

सभा अपनी एक मासिक पत्रिका, जिसका नाम वैदिक रवि है, भी प्रकाशित करती है। मध्य भारत क्षेत्र में आर्य वीर दल का संगठन भी सुचारु रूप से है। आर्यवीर दल की वहाँ ७८ शाखायें हैं। १० आर्यकुमार सभाएँ भी गठित हैं। सभा ने वैदिक साहित्य की बिक्री के लिए १० केन्द्र खोल रखे हैं। सभा के अधीन १० उपदेशक वैदिक धर्म के प्रचार के लिए नियुक्त हैं। इनके अतिरिक्त ५ भजन-मंडलियाँ भी बनाई गई हैं। इस समय (१९८७-१९८८ ई० में) सभा के प्रधान शिवपुरी के श्री इन्द्रप्रकाश गांधी और मन्त्री गुना के श्री यशपाल आर्य हैं।

(७) उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा

उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा देश की प्रारम्भिक उन सभाओं में से एक है, जिन्होंने मिलकर सार्वदेशिक सभा के निर्माण को गति दी थी। इस सभा की स्थापना सन् १८८६ ई० में हुई थी तथा इसका पंजीकरण १८९६ ई० में हुआ। यह सभा अपना शताब्दी समारोह बड़ी धूमधाम से मना चुकी है।

जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा राज्य होने तथा स्वयं महर्षि दयानन्द द्वारा इस राज्य में व्यापक प्रचार के कारण आर्यसमाजों की सर्वाधिक संख्या, जो कि १७४० है, इसी राज्य में है। आर्यसमाज का कार्य भी इस राज्य में अपेक्षाकृत अच्छा है। सभा का मुख्य कार्यालय ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ में है। इसके अन्तर्गत चलने वाली गतिविधियों में इस समय १४६ शिक्षण-संस्थाएँ, ४० दयानन्द बाल मंदिर, २ अनाथालय, अनेक सेवागृह, ५० धर्मार्थ औषधालय (आयुर्वेदिक एवं होम्योपैथिक) तथा ऐलोपैथिक डिस्पैन्सरियाँ भी हैं। शिक्षा के क्षेत्र के अलावा धार्मिक साहित्य के प्रकाशन की ओर भी इस द्वारा विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। सभा का 'आर्यमित्र' नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित होता है। ज्वालापुर-स्थित आर्य वानप्रस्थाश्रम भी इसी सभा के अधीन कार्य कर रहा है। सभा की ओर से बहुत-से प्रचारक तथा सेवाभावी

कार्यकर्ता वैदिक धर्म के प्रचार में लगे हैं। यह प्रचार धार्मिक मेलों के अवसर पर विशेष रूप से किया जाता है।

इस प्रतिनिधि सभा का इतना व्यापक कार्य होने के बावजूद यह सभा १९८३ ई० से आपसी विवाद में ग्रस्त है, तथा इसी कारण चार वर्ष तक सभा के चुनाव भी नहीं हो सके। सन् १९८५ और १९८७ ई० में चुनाव कराये भी गये थे, पर विवाद के कारण रजिस्ट्रार ने उन्हें मान्यता नहीं दी।

उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्तमान विवाद से पूर्व भी १९७० से १९७५ ई० तक एक और विवाद भी वैधानिक संकट के रूप में चला था। तब दो समानान्तर प्रतिनिधि सभाएँ बन गई थीं। इनमें से एक के नेता श्री प्रकाशवीर शास्त्री और दूसरे के श्री सच्चिदानन्द शास्त्री थे। सार्वदेशिक सभा ने इस विवाद को सुलझाने के अनेक प्रयास किये और अन्त में उसे सफलता भी मिली। इस सफलता के लिए कार्य करनेवालों में पं० नरेन्द्र (हैदराबाद) और श्री छोटू सिंह एडवोकेट, अलवर के नाम उल्लेखनीय हैं।

दोनों विवादरत पक्षों की एक बैठक सार्वदेशिक सभा के आग्रह पर २१-२२ जून १९७५ ई० को डी० ए० वी० कॉलेज लखनऊ में हुई। इसमें दोनों पक्षों से सम्बद्ध आर्यसमाजों के प्रतिनिधि आये। एक प्रकार से यह सम्मिलित वार्षिक सम्मेलन था। उसकी अध्यक्षता श्री रामगोपाल शालवाले ने की थी।

प्रारम्भ में सांसद श्री प्रकाशवीर शास्त्री ने सभी प्रतिनिधियों से एकता की अपील की। उन्होंने सुझाव दिया कि दोनों पक्ष चुनाव के लिए अपने-अपने उम्मीदवारों के नाम सभा-प्रधान को दे दें तथा उनमें से सभा-प्रधान जिन्हें नियुक्त करें उनका सर्वसम्मति से अनुमोदन किया जाय। इस सुझाव को स्वीकार करने के बाद नामों की सूची सभा-प्रधान श्री शालवाले को दे दी गई और उन्होंने उन नामों में से पदाधिकारियों के नामों की घोषणा कर दी। इन नामों पर दोनों शास्त्रियों श्री प्रकाशवीर और श्री सच्चिदानन्द ने पूर्ण सन्तोष व्यक्त किया। १९७५-७६ ई० के इस प्रकार नियुक्त पदाधिकारियों के नाम इस प्रकार थे—

श्रीयुत पं० विद्याधर जी शर्मा प्रधान, श्री धर्मेन्द्रसिंह आर्य मंत्री। साथ ही, अन्तरंग सभा के नामों की भी घोषणा कर दी गई थी।

सार्वदेशिक सभा की १९-७-७५ को हुई अन्तरंग सभा की बैठक में तथा २०-७-७५ को हुई साधारण सभा में इस निर्वाचन की सम्पुष्टि कर दी गई। इस प्रकार ६ वर्ष से दो सभाओं की उठा-पटक समाप्त हो गई, और राज्य में एक ही सभा ने काम करना प्रारंभ कर दिया।

१-४-१९८३ में आर्य प्रतिनिधि सभा के चुनाव में श्री कैलाशनाथ सिंह प्रधान और श्री इन्द्रराज मंत्री चुने गये। इन दोनों के पारस्परिक विवाद ने गम्भीर रूप धारण कर लिया और सभा के कामकाज में रुकावट आने लगी। श्री कैलाशनाथ सिंह ने अन्तरंग सभा की बैठक बुलाकर श्री इन्द्रराज को समाज से निकाल दिया और उनके स्थान पर ८ मार्च ८४ को श्री खेमसिंह को मंत्री बनाया गया।

विवाद सार्वदेशिक सभा में पहुँचा। सभा के प्रयास से श्री कैलाशनाथसिंह और श्री इन्द्रराज ने दिल्ली आकर २५-१-८४ को आर्य प्रतिनिधि सभा के अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये। इनपर सभी पहलुओं से विचार कर उन्हें स्वीकार कर लिया गया।

सभा की नियमावली की धारा १० के अधीन सभा-प्रधान श्री शालवाले ने सभा का कार्य चलाने के लिए एक अस्थायी व्यवस्था कर दी, जिसके अनुसार राजा संजय सिंह को प्रधान, श्रीमती सन्तोष कुमारी कपूर को कार्यवाहक प्रधान तथा श्री मनमोहन तिवारी को मंत्री बनाया गया। इस व्यवस्था की सूचना उत्तर प्रदेश प्रतिनिधि सभा के कार्यालय को भी दे दी गई। श्री शालवाले ने अपने आदेश में आशा प्रकट की कि श्री कैलाशनाथ-सिंह और श्री इन्द्रराज नई व्यवस्था में समाज को अपना पूर्ण सहयोग देंगे।

सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री शालवाले की यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी। उन्हें सूचना मिली कि श्री कैलाशनाथ सिंह अस्थायी व्यवस्था में बाधा डालकर सभा के कार्य में न केवल अनियमिततायें कर रहे हैं अपितु समाज के धन का दुरुपयोग भी हो रहा है। अतः उन्होंने ८ फरवरी १९८४ को सार्वदेशिक सभा के अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए उत्तर प्रदेश प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा को भंग कर दिया तथा सभा के संचालन के लिए तदर्थ समिति का गठन किया। समिति के सदस्यों के नाम इस प्रकार थे—

राजा संजयसिंह, प्रधान तदर्थ समिति, श्रीमती सन्तोषकुमारी, कार्यवाहक प्रधान, श्री मनमोहन तिवारी मंत्री, तदर्थ समिति, श्री कृष्णबलदेव महाना, कोषाध्यक्ष, तदर्थ समिति।

१९८४ में नये चुनाव कराये गए, जिनमें श्री कैलाशनाथ सिंह प्रधान चुने गये और मंत्री श्री मनमोहन तिवारी। किन्तु श्री सिंह की अवैधानिक गतिविधियों के कारण उन्हें ३ जून ८४ को आर्यसमाज की प्राथमिक सदस्यता से ही निकाल दिया गया। उनके स्थान पर प्रधान श्री इन्द्रराज बनाये गए और पं० सच्चिदानन्द शास्त्री को कार्यवाहक अध्यक्ष बनाया गया।

१९८५ ईसवी में भी सभा के चुनाव सम्पन्न हुए, परन्तु चुनाव-परिणामों की सूचना रजिस्ट्रार सोसायटी को नहीं दी गई। इस बीच श्री कैलाशनाथ सिंह ने भी मुजफ्फरनगर में १८-८-८५ को सभा के चुनाव कराके उसकी सूचना रजिस्ट्रार कार्यालय को दे दी। रजिस्ट्रार को सभा के पहले चुनाव की भी सूचना मिली। उसके सामने समस्या थी कि किसे मान्यता दी जाय? यह मामला न्यायालय में भी गया। अब स्थिति यह है कि न्यायालय के निर्णय के अनुसार १९८४ के चुनाव के आधार पर ही सभा के पदाधिकारी काम कर रहे हैं।

१५-११-८७ को सभा का एक और चुनाव डी० ए० वी० स्कूल लखनऊ में सम्पन्न हुआ। इस चुनाव को भी अभी तक मान्यता नहीं मिली है, परन्तु इस चुनाव में निर्वाचित मंत्री, प्रधान व कोषाध्यक्ष ही बैंक से रुपया निकालने का कार्य कर रहे हैं। इस चुनाव में श्री इन्द्रराज प्रधान, श्री मनमोहन तिवारी मंत्री और श्री यशपाल कोषाध्यक्ष चुने गये हैं। इस बीच रजिस्ट्रार बदल गये हैं। नया रजिस्ट्रार इस बारे में क्या निर्णय देगा यह देखना है। स्थिति अनिश्चयात्मक होते हुए भी सभा के वर्तमान अधिकारियों में पूरा ताल-मेल है, और वे अपने पूरे अधिकारों से सभा एवं आर्यसमाज का काम कर रहे हैं।

(८) गुजरात आर्य प्रतिनिधि सभा

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद बम्बई प्रान्त महाराष्ट्र और गुजरात के रूप में दो राज्यों में विभक्त हो गया। इसी परिप्रेक्ष्य में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रस्ताव के अनुसार १९७४ ईसवी में पृथक् गुजरात आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन के लिए हलचल शुरू हो गई।

इस दिशा में बड़ौदा में पण्डित आनन्दप्रिय की अध्यक्षता में आत्माराम पथ पर स्थित आर्यसमाज में गुजरात के आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं ने इकट्ठे होकर आर्य प्रतिनिधि सभा गुजरात के निर्माण का निश्चय किया। सार्वदेशिक सभा ने गुजरात आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्माण को मान्यता देने में असाधारण तत्परता दिखाई। इसमें सार्वदेशिक सभा के उपमंत्री श्री भगवान् देव ने विशेष दिलचस्पी ली। इस प्रतिनिधि सभा के गठन के बाद २९ दिसम्बर १९७४ ईसवी में जब इसकी पहली बैठक हुई, तो उसमें भी श्री भगवान्देव उपस्थित थे। बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा की सभी आपत्तियों को, जिसका कि गुजरात पहले घटक रह चुका था, सार्वदेशिक सभा ने रद्द कर दिया।

सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने १५ अगस्त ७४ को गुजरात सभा को सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध करने का प्रस्ताव स्वीकार किया तथा साधारण सभा ने २६-१०-७४ की बैठक में इसे सम्पुष्ट भी कर दिया। सार्वदेशिक सभा के वार्षिक वृत्तान्त के अनुसार गुजरात प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्यालय अब बड़ौदा में न होकर अहमदाबाद में आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द मार्ग, कांकरिया रोड में आ गया है। इससे सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या ५३ है।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

आर्यसमाज के संगठन में शिथिलता का सूत्रपात

(१) विघटन की प्रवृत्तियाँ

आर्यसमाज का संगठन लोकतंत्रवाद पर आधारित है। स्थानीय आर्यसमाजों, प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक सभा, सबके पदाधिकारियों की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती है। अत: यह स्वाभाविक है कि पदाधिकारियों के चुनाव के प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हों और मे मतभेद विवादों व झगड़ों का रूप प्राप्त कर लें। साथ ही, यह भी स्वाभाविक है कि इन झगड़ों के कारण आर्यसमाज के संगठन में विघटन की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होने लगे।

लोकतंत्रवाद पर आधारित संगठनों में विचारों में मतभेद के कारण भी दलबन्दियाँ होने लगती हैं। पंजाब के आर्यसमाजियों में विचारों के भेद के कारण ही मांस पार्टी और घास पार्टी (या कॉलेज पार्टी और गुरुकुल पार्टी) के आधार पर दो आर्य प्रतिनिधि सभाएँ बनीं और अब तक भी उनकी पृथक् सत्ता कायम है। कॉलेज पार्टी या मांस पार्टी के आर्यसमाज आर्य प्रादेशिक सभा के साथ और घास पार्टी या गुरुकुल पार्टी के आर्यसमाज आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध हैं। इन दो पार्टियों के मन्तव्यों में अब विशेष भेद नहीं रहा है। पर जो पृथक् संगठन पहले बन गये, वे अब भी कायम हैं और सार्वदेशिक सभा में दोनों को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त है। यह कहा जा सकता है कि पंजाब के आर्यसमाजियों की दो पार्टियों के कारण आर्यसमाज के संगठन में विशेष निर्बलता नहीं आई।

पर समय के साथ-साथ अन्य प्रकार से भी आर्यसमाज के संगठन में विघटन की प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लग गईं। आर्यसमाज के संगठन के अनुसार यह आवश्यक है कि सब समाज प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध हों और उनकी भू-भवन-सम्पत्ति प्रांतीय सभा के नाम रजिस्टर्ड हो। पर ऐसे आर्यसमाज सैकड़ों की संख्या में हैं, जिन्होंने न अपने को प्रांतीय प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध कराया है और न अपनी भू-भवन-सम्पत्ति को ही प्रांतीय सभा के नाम रजिस्टर्ड कराया। नई दिल्ली का ग्रेटर कैलाश आर्यसमाज अत्यन्त समृद्ध है। उसकी भू-भवन-सम्पत्ति की कीमत एक करोड़ रुपये से कम नहीं है, और उसके तत्वावधान में विद्यालय तथा हॉस्पिटल आदि भी चल रहे हैं। पर यह समाज आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के साथ सम्बद्ध नहीं है। बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश आदि अनेक राज्यों (प्रांतों) में बहुत-से ऐसे आर्यसमाज हैं, जिन्होंने अपने राज्य की प्रतिनिधि सभा से अपने को सम्बद्ध नहीं कराया है और प्रांतीय सभा तथा सार्वदेशिक सभा के नियंत्रण से जो स्वतंत्र हैं।

ऐसे भी अवसर आये हैं, जब सार्वदेशिक सभा या प्रांतीय प्रतिनिधि सभा के किसी निर्णय से असंतुष्ट होकर कतिपय व्यक्तियों ने समानान्तर सार्वदेशिक सभा या प्रांतीय प्रतिनिधि सभा का गठन कर लिया। पंडित प्रकाशवीर शास्त्री आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता थे। न केवल उत्तर प्रदेश में ही, अपितु सम्पूर्ण आर्य जगत् में उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। चुनाव के एक मामले में असंतुष्ट होकर उन्होंने भी सार्वदेशिक सभा को चुनौती देने में संकोच नहीं किया और पृथक् सार्वदेशिक सभा का गठन कर लिया। इस मामले की शुरूआत ३१ मई, १९६१ ई० को उस समय हुई थी, जबकि सार्वदेशिक सभा में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रतिनिधि-सदस्यों की स्वीकृति-अस्वीकृति के प्रश्न को लेकर उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के १३ प्रतिनिधि-सदस्य सार्वदेशिक सभा की बैठक से उठकर चले गये थे। इनमें पंडित प्रकाशवीर शास्त्री भी थे। सभा के अन्य सदस्यों ने इस बहिर्गमन को समुचित नहीं माना और एक प्रस्ताव द्वारा इसकी निन्दा भी की। बात यहीं समाप्त नहीं हो गई। सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने १५ फरवरी, १९७० ई० को एक प्रस्ताव द्वारा उत्तर प्रदेश के इन १३ सदस्यों को ६ वर्ष के लिए सार्वदेशिक सभा की सदस्यता से वंचित कर दिया। इनमें श्री प्रकाशवीर शास्त्री भी एक थे। इस पर शास्त्री जी ने पंजाब और बंगाल की आर्य प्रतिनिधि सभाओं के कतिपय असंतुष्ट सदस्यों की सहायता से एक अन्य सार्वदेशिक सभा गठित कर दी। उनका दावा था कि जिस सभा के प्रधान डॉक्टर दुःखनराम है और जिसका प्रधान कार्यालय रामलीला मैदान के सामने आसिफ अली रोड, नई दिल्ली में स्थित है, वह वास्तविक सार्वदेशिक सभा नहीं है। उन दिनों शास्त्री जी लोक सभा के सदस्य थे। उन्होंने अपने निवास-स्थान पर नई सार्वदेशिक सभा का कार्यालय भी स्थापित कर दिया और यह यत्न भी किया कि बैंक डॉक्टर दुःखनराम जी की अध्यक्षता वाली सार्वदेशिक सभा के चेकों का भुगतान न करें। इसमें सन्देह नहीं कि श्री प्रकाशवीर शास्त्री के कारण सार्वदेशिक सभा के संगठन व प्रभाव को भारी आघात पहुँचा था और कुछ समय के लिए उसकी स्थिति डाँवाडोल भी हो गई थी।

जहाँ तक प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं का सम्बन्ध है, उनमें भी विघटन की प्रवृत्तियाँ अनेक बार जोर पकड़ चुकी हैं। सन् १९७५ ई० में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का सार्वदेशिक सभा द्वारा त्रिशाखन कर दिये जाने पर जो झगड़े प्रारम्भ हुए, उन पर इस इतिहास के छठे भाग(अध्याय १५)में प्रकाश डाला जा चुका है। इन झगड़ों का अब भी पूर्णतया अंत नहीं हुआ है। त्रिशाखन के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं को लेकर सरकारी न्यायालयों में भी वाद प्रस्तुत किये जाते रहे हैं और सार्वदेशिक सभा की सर्वोपरिता को भी चुनौतियाँ दी गई हैं। बिहार में प्रांतीय प्रतिनिधि सभा के चुनाव में असंतुष्ट व्यक्तियों ने वर्तमान सभा को मानने से इन्कार कर दिया है और छोटा नागपुर के क्षेत्र के लिए एक पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन कर लिया है। आर्यसमाज के संगठन के इतिहास की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। अत: अगले प्रकरण में छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा का विवरण कुछ विस्तार के साथ दिया जा रहा है जिससे आर्यसमाज के संगठन में उत्पन्न होती हुई विघटन की प्रवृत्तियों की समुचित जानकारी प्राप्त हो सके, और पाठक यह भी विचार कर सकें कि इस प्रवृत्ति के लिए कौन उत्तरदायी है। केवल छोटा नागपुर के क्षेत्र के ही नहीं, अपितु उत्तरी बिहार के अनेक आर्य नेता व कार्यकर्ता भी

वर्तमान बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन से असंतुष्ट हैं।

उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा में भी पदाधिकारियों के चुनाव को लेकर झगड़े होते रहे हैं। इसी कारण सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल जी शालवाले ने प्रांतीय सभा को भंग कर एक तदर्थ समिति का गठन किया, जिसके प्रधान श्री इन्द्रराज तथा मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी नियुक्त किये गये। बाद में प्रधान जी ने अपनी उपस्थिति में प्रांतीय सभा के पदाधिकारियों का चुनाव कराया जिसमें श्री इन्द्रराज निर्विरोध सभा-प्रधान निर्वाचित हुए। पर इससे झगड़ों का अन्त नहीं हो गया। कतिपय व्यक्तियों द्वारा यह मामला सरकारी न्यायालय में भी ले-जाया गया है।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के त्रिशाखन को लेकर जो झगड़े सन् १९७५ ई० में शुरू हुए थे, उनका पूर्ण रूप से अभी अन्त भी नहीं हुआ था कि सन् १९८७ ई० में पंजाब सभा में एक बार फिर विघटन की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लगीं। अनुशासनहीनता के आरोप में सार्वदेशिक सभा द्वारा पंजाब सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी को आर्यसमाज के किसी भी निर्वाचित पद के लिए पाँच साल के लिए अयोग्य घोषित कर दिया गया। पर श्री वीरेन्द्र जी सार्वदेशिक सभा की इस व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुए। सन् १९८७ ई० में पंजाब सभा के पदाधिकारियों के चुनाव में श्री वीरेन्द्र को किसी भी पद के लिए उम्मीदवार नहीं होना चाहिए था, क्योंकि सार्वदेशिक सभा द्वारा उन्हें इसके अयोग्य घोषित कर दिया जा चुका था। पर चुनाव के समय प्रधान पद के लिए उनका नाम पेश किया गया और वे बहुमत से निर्वाचित घोषित कर दिये गये। पर आर्यसमाज के संगठन की सर्वोच्च शिरोमणि सभा उन्हें पंजाब सभा का प्रधान मानने के लिए उद्यत नहीं हुई। उनके प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार को सार्वदेशिक सभा द्वारा पंजाब प्रतिनिधि सभा का प्रधान स्वीकार कर लिया गया, और इस प्रकार पंजाब में दो आर्य-प्रतिनिधि सभाएँ कायम हो गईं। दोनों के प्रधान, मन्त्री आदि पदाधिकारी थे, दोनों की अन्तरिम सभाएँ थीं और दोनों ने गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट तथा विद्या-सभा के लिए अपने-अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर दिये थे। पंजाव सभा का यह विवाद अत्यन्त गंभीर रूप धारण करता जा रहा था, पर आर्य नेताओं ने इसे अधिक आगे नहीं बढ़ने दिया और सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती ने दोनों सभाओं को भंग कर एक तदर्थ समिति का गठन कर दिया, जिसमें दोनों सभाओं के कतिपय पदाधिकारियों को सम्मिलित कर लिया गया। साथ ही, यह भी व्यवस्था कर दी गई कि शीघ्र ही निकट भविष्य में सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारियों का चुनाव कराया जाएगा। जबतक यह चुनाव न हो जाए, तदर्थ समिति ही पंजाब सभा के कार्यों का संपादन करेगी। पंजाब के लिए गठित तदर्थ समिति के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी नियुक्त किये गए हैं।

सार्वदेशिक सभा तथा प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के सम्बन्ध में जिस प्रकार के झगड़ों का उल्लेख ऊपर किया गया है, प्रायः वैसे ही झगड़े अनेक स्थानीय आर्यसमाजों के पदाधिकारियों के चुनाव के विषय में भी होते रहते हैं। वस्तुतः, आर्यसमाज के संगठन में वे सब बुराइयाँ पर्याप्त रूप से समाविष्ट हो गई हैं जो लोकतंत्रवाद पर आधारित सरकारों में पायी जाती हैं। आर्यसमाज की ऐसी संस्थाएँ बहुत कम होंगी, जिनमें पार्टी-बन्दी या गुटबन्दी का अभाव हो। क्या स्थानीय आर्यसमाजों में और क्या प्रांतीय

प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक सभा में, सर्वत्र पार्टियों तथा गुटों की सत्ता है। गत बीस-तीस वर्षों में बम्बई, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात आदि की जिन आर्य प्रतिनिधि सभाओं का गठन हुआ, उनके सम्बन्ध में भी अनेक विवाद हुए और अनेक गुटबन्दियों का निर्माण हुआ। यदि इन विवादों व गुटबन्दियों के आधार कोई सिद्धान्त या आचरण-विषयक मतभेद होते, तो उन्हें समुचित भी समझा जा सकता था। जैसे मतभेद उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में पंजाब के आर्यसमाजियों में मांस-भक्षण के प्रश्न को लेकर व आर्य शिक्षण-संस्थाओं की पाठविधि की बात को लेकर उत्पन्न हुए थे, उनके कारण आर्यसमाज में दो पार्टियों का बन जाना अनुचित नहीं था। पर गत वर्षों में जिस प्रकार की पार्टियाँ व गुटबन्दियाँ आर्यसमाज के विविध स्तरों के संगठनों में प्रकट हो रही हैं, उन्हें किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। ये प्रत्यक्ष रूप से विघटन की प्रवृत्तियों को सूचित करती हैं।

आर्यसमाज के झगड़ों और गुटबन्दियों का एक महत्त्वपूर्ण कारण भू-भवन-सम्पत्ति है। गत वर्षों में भारत में जमीनों की कीमत में असाधारण वृद्धि हुई है। महानगरों और नगरों की तो बात ही क्या, छोटे कस्बों तक में जमीन की कीमतें कई गुना बढ़ गई हैं। नगरों और कस्बों के बहुसंख्यक आर्यसमाजों के अपने मन्दिर व भवन हैं, और उनके साथ लगे हुए भूमिखण्ड भी हैं। ये प्रायः श्रद्धालु आर्य नर-नारियों ने दान में दिये थे, या कभी साधारण कीमत पर खरीद लिये गये थे। पहले इनकी न अधिक कीमत ही थी और न इनसे अधिक किराया ही प्राप्त किया जा सकता था। पर गत वर्षों में स्थिति अकस्मात् परिवर्तित हो गई। जमीनों की कीमतें आसमान को छूने लगीं और शहरों में निवास व कारोबार के लिए मकान प्राप्त कर सकना बहुत कठिन हो गया। इस दशा में आर्यसमाजों की भू-भवन-सम्पत्ति का महत्त्व बहुत बढ़ गया और इसे बेचकर या किराये पर देकर अच्छी आमदनी प्राप्त कर सकना सुगम हो गया। आर्यसमाज के पदाधिकारियों ने इस दशा से लाभ उठाना चाहा, और खाली पड़ी जमीनों को बेच डालना उन्होंने हितकर माना। भू-सम्पत्ति के क्रय-विक्रय में प्रायः विक्रय की रजिस्टरी कम कीमत पर करा ली जाती है जिससे स्टाम्प पर खर्च कम पड़ता है और खरीदार व बिकवाल, दोनों ही इन्कम टैक्स में भी बचत कर लेते हैं। सर्वसाधारण सम्पत्ति का क्रय-विक्रय करते हुए यदि सम्पत्ति की कीमत कम प्रदर्शित की जाए, तो क्रेता और विक्रेता दोनों को ही लाभ रहता है और कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती; यद्यपि ऐसा करना नैतिक दृष्टि से अनुचित तथा कानून के विरुद्ध है। पर यदि आर्यसमाज भूखण्ड को या भवन को एक लाख रुपये में बेचे और उसकी रजिस्टरी पचास हजार रुपये में कराए, तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि ऊपर से लिये हुए पचास हजार रुपये कैसे और किस हिसाब में डाले जाएँ? साथ ही, आलोचकों व विरोधियों को यह कहने का भी अवसर मिल जाएगा कि जिस सम्पत्ति की रजिस्टरी पचास हजार रुपयों की कराई गई है, यथार्थ में उसकी बिक्री से दो लाख रुपये प्राप्त हुए थे, जिसके डेढ़ लाख रुपये समाज के पदाधिकारियों ने खा लिये हैं। इसी प्रकार के आरोप का अवसर उस समय मिलता है, जब आर्यसमाज का कोई भवन या दुकान किराये पर दी गई हो। आजकल नगरों में मकान-दुकान किराये पर देते हुए पगड़ी लेने का रिवाज हो गया है। पगड़ी की रकम की न रसीद दी जाती है और न कहीं हिसाब में उसका उल्लेख होता है। इस दशा में जब आर्यसमाल का कोई

पदाधिकारी समाज के किसी मकान आदि को किराये पर दे, तो उसपर पगड़ी लेने और उस राशि को स्वयं हड़प जाने का आरोप लगाना बहुत सुगम हो जाता है। दुर्भाग्य की बात है कि आर्यसमाज के पदाधिकारियों पर उनके विरोधियों व प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा इस प्रकार के आरोप बहुत बड़ी संख्या में लगाये जा रहे हैं। प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के प्रधानों व अन्य पदाधिकारियों की तो बात ही क्या, सार्वदेशिक सभा के प्रधान व उप-प्रधान भी इन आरोपों से नहीं बचे हैं। इस प्रकार के आरोप समाचारपत्रों में प्रकाशित किये जाते हैं, जनता उन्हें पढ़ती है और आर्यसमाज की छवि इनके कारण धूमिल होने लगती है। आर्यसमाज के संगठन में न्याय सभा का भी प्रावधान है। समुचित तो यह है कि इस प्रकार के आरोपों को सार्वदेशिक सभा द्वारा गठित न्याय सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाए और समाचारपत्रों में एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने के बजाय न्याय सभा द्वारा सत्यासत्य का निर्णय कराया जाए। पर आर्यसमाज में विघटन की प्रवृत्तियाँ इतनी बलवती होने लग गई हैं कि अब या तो समाज के पदाधिकारियों पर सरकारी अदालतों में मुकद्दमे चलाये जाते हैं, या समाचारपत्रों व परिपत्रों द्वारा उन पर कीचड़ उछाला जाता है। सार्वदेशिक सभा को अधिकार है कि अनुशासन भंग करने के आरोप में ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही कर सके। यदि उचित समझा जाए तो कुछ समय के लिए या सदा के लिए उन्हें आर्यसमाज की प्राथमिक सदस्यता से भी वंचित कर सके। कतिपय व्यक्तियों के विरुद्ध ऐसी कार्यवाही की भी गई है, पर उससे समस्या का संतोषजनक समाधान अभी नहीं हो सका है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्यसमाज में अनुशासनहीनता और विघटन की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लग गई हैं और उनके दुष्परिणाम भी अब सामने आने लगे हैं।

क्योंकि आर्यसमाजों और आर्य संस्थाओं के स्वत्व में विद्यमान भू-भवन-सम्पत्ति की कीमत बहुत बढ़ गई है और उसकी संभाल, उपयोग व व्यवस्था सभाओं और संस्थाओं के पदाधिकारियों द्वारा ही की जाती है, अतः इनका पदाधिकारी बनना अब एक महत्त्व की बात हो गई है। यही कारण है कि सम्पन्न आर्यसमाजों के प्रधान आदि के चुनाव में उसी प्रकार के हथकंडे बरते जाने लगे हैं जैसे कि नगरपालिकाओं या विधान-सभाओं के चुनावों में प्रयुक्त किये जाते हैं। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति आर्यसमाजों के नकली सभासद् बनाने में भी संकोच नहीं करते। अपनी ओर से चंदा जमा कर आर्यसमाज के सभासद् बनवाना और उनके वोट डलवाकर अपने प्रधान या मन्त्री आदि चुनवाना अब कतिपय आर्यसमाजों में भी प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार आर्यसमाज का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में आने लगा है जिन्हें न वैदिक धर्म में आस्था है और न समाज-सुधार में रुचि है। आर्यसमाज के संन्यासी, महात्मा, प्रचारक एवं विद्वान् इस स्थिति से चिन्तित हैं। सार्वदेशिक सभा द्वारा अनेक बार ऐसी गोष्ठियों का आयोजन भी किया गया है, जिनमें इस प्रकार की समस्याओं पर गम्भीर विचार हुआ है। ऐसी गोष्ठियों के चिन्तन के परिणामों का उल्लेख इस इतिहास में यथास्थान किया भी गया है।

विघटन व अनुशासनहीनता की जिन प्रवृत्तियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे गंभीर अवश्य हैं, पर उनसे निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। लोकतंत्रवाद पर आधारित संगठनों में इनकी सत्ता अवश्यम्भावी व स्वाभाविक है। इनके कारण यह कदापि वांछनीय नहीं है कि आर्यसमाज लोकतंत्रवाद का परित्याग कर उस ढंग के

गुरुडम को अपना ले, जैसा कि अनेक हिन्दू सम्प्रदायों व रोमन कैथोलिक चर्च में है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के संगठन को लोकतंत्रवाद पर आधारित कर धार्मिक क्षेत्र में एक ऐसी परम्परा का सूत्रपात किया था, जो न केवल वैदिक मन्तव्यों के ही अनुकूल है, अपितु आधुनिक युग की परिस्थितियों में जो उपादेय व उपयोगी भी है। आर्यसमाज में समय-समय पर विघटन की जो प्रवृत्तियाँ प्रकट होती रही हैं, उन्हें नियन्त्रित करने में सार्वदेशिक सभा को समुचित सफलता भी प्राप्त हुई है। इसी कारण न अबतक कोई प्रतिद्वन्द्वी सार्वदेशिक सभा चिरकाल तक कायम रह सकी है, और न कोई प्रतिद्वन्द्वी प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा। आर्यसमाज में ऐसे सशक्त व समर्पित नेता विद्यमान हैं, विघटन व अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियों का दमन करने में जो समर्थ हैं। साथ ही, 'यति मण्डल' के रूप में आर्य संन्यासियों, वानप्रस्थों और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का जो संगठन है, वह भी आर्यसमाजों और आर्य संस्थाओं के पदाधिकारियों को मर्यादा में रखने के लिए प्रयत्नशील है और आर्यसमाज की समस्याओं के प्रति जागरूक है। वैदिक धर्म के अनुसार समाज में संन्यासियों का स्थान सर्वोपरि है। आर्यसमाज में भी वीतराग संन्यासियों के प्रति समुचित सम्मान का भाव विद्यमान है। यह आशा की जानी चाहिए कि यति-मण्डल के कर्तृत्व के कारण आर्यसमाज के विघटन की प्रवृत्तियों का सुचारु रूप से दमन किया जा सकेगा। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि सार्वदेशिक सभा इतनी शक्तिशाली, सुसंगठित तथा विवादों से ऊपर हो, जिससे कि वह प्रांतीय प्रतिनिधि सभाओं व आर्य संस्थाओं पर समुचित नियन्त्रण रख सके। सौभाग्यवश, अभी सार्वदेशिक सभा पर्याप्त रूप से सुसंगठित है और उसका नेतृत्व भी सुयोग्य, समर्पित व सशक्त आर्यजनों के हाथों में है।

(२) बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा का विघटन और छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा का निर्माण

विघटन की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख ऊपर किया गया है, गत वर्षों में वे बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा में भी प्रकट होने लगीं। सभा के पदाधिकारियों के चुनाव के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न होने प्रारम्भ हुए, जिनके कारण सार्वदेशिक सभा के प्रधान को दो बार प्रतिनिधि सभा को भंग कर तदर्थ समितियों के गठन के लिए विवश होना पड़ा। अन्त में ३१ मई १९८७ ई० को सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने पटना आकर अपनी उपस्थिति में बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा का चुनाव कराया। इस चुनाव में श्री भूपनारायण शास्त्री सभा के प्रधान और श्री रामाज्ञा वैरागी सभा-मन्त्री चुने गये। पर इस चुनाव से बिहार प्रतिनिधि सभा की समस्या का समाधान नहीं हुआ। नई प्रतिनिधि सभा और उसके पदाधिकारियों की संवैधानिकता को बिहार के बहुत-से आर्य सभासद् व प्रतिनिधि स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। उनका कहना था कि सार्वदेशिक सभा द्वारा सन् १९८६ ईसवी में भारतवर्ष के आर्यसमाजों की जो सूची प्रकाशित की गई थी, उसके अनुसार बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या ४९३ है। पर ३१ मई १९८७ ई० को स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की उपस्थिति में पदाधिकारियों के चुनाव के लिए बिहार प्रतिनिधि सभा का जो अधिवेशन हुआ, उसमें केवल ८० आर्यसमाजों को प्रतिनिधित्व दिया गया था, शेष ४१३ आर्य-

समाजों को उस समय की तदर्थ समिति के प्रधान श्री भूपनारायण शास्त्री ने अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर ही नहीं दिया था। इस प्रकार श्री शास्त्री के प्रधानत्व में जो आर्य प्रतिनिधि सभा इस समय बिहार में विद्यमान है, वह वहाँ के बहुसंख्यक आर्यसमाजों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह बात महत्त्व की है कि ३१ मई, १९८७ ई० के चुनाव से असन्तुष्ट बिहार के आर्यजनों ने किसी अन्य व समानान्तर बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के गठन का प्रयत्न नहीं किया। पर उनके लिए यह भी सम्भव नहीं था कि वे श्री भूपनारायण शास्त्री के प्रधानत्व में गठित प्रतिनिधि सभा की वैध सत्ता को स्वीकार कर लेते। बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र के आर्यसमाज पर्याप्त रूप से सक्रिय हैं। बिहार प्रतिनिधि सभा का प्रधान कार्यालय भी पहले इस क्षेत्र के मुख्य नगर राँची में रह चुका है। क्रिश्चियन मिशनरियों की गतिविधि का प्रतिरोध करने में भी इस क्षेत्र के आर्यसमाजियों का सराहनीय प्रयत्न रहा है। अतः उन्होंने यह निर्णय किया कि अपने क्षेत्र (छोटा नागपुर) के आर्यसमाजों की पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा गठित कर ली जाए, ताकि छोटा नागपुर की अनुसूचित जातियों में क्रिश्चिएनिटी व इस्लाम के प्रचार का प्रतिरोध करने के कार्य में शिथिलता न आने पाए। इस क्षेत्र में आर्य उपप्रतिनिधि सभा पहले भी दो बार गठित हो चुकी थी। अब प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के विवादों से परेशान व असन्तुष्ट व्यक्तियों ने यही उचित समझा कि छोटा नागपुर की अपनी पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा गठित कर दी जाए।

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा—बिहार राज्य के छोटा नागपुर क्षेत्र में दो कमिश्नरियाँ हैं, उत्तरी छोटा नागपुर और दक्षिणी छोटा नागपुर। इन कमिश्नरियों में कुल आठ जिले हैं—हजारीबाग, गिरीडीह, पलामू, धनबाद, लोहरदगा, राँची, गुमला और सिंहभूम। यह क्षेत्र खनिज पदार्थों की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। पर गरीबी भी यहाँ सबसे अधिक है। यहाँ के निवासियों में उन लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिन्हें 'आदिवासी' कहा जाता है। ये सभ्यता में बहुत पिछड़े हुए हैं। क्रिश्चियन मिशनरियों ने इस क्षेत्र में प्रचार कर बहुत-से आदिवासियों को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया है। इसमें उनके अनेक मिशन कार्यरत हैं, जो पाश्चात्य क्रिश्चियन देशों से भरपूर धन प्राप्त कर गरीब व पिछड़े हुए आदिवासियों को ईसाई बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं।

छोटा नागपुर क्षेत्र के दो मुख्य नगर राँची और हजारीबाग हैं। राँची एक औद्योगिक नगर है और कल-कारखानों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ सन् १८९४ में आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक बिहार और उड़ीसा का पृथक् प्रांतों (राज्यों) के रूप में निर्माण नहीं हुआ था, और राजनैतिक दृष्टि से वे बंगाल के अन्तर्गत थे। उस समय बिहार की आर्य प्रतिनिधि सभा भी अलग नहीं थी। बिहार, बंगाल, उड़ीसा और असम के आर्यसमाज एक ही आर्य प्रतिनिधि सभा में गठित थे और इस प्रतिनिधि सभा का प्रधान कार्यालय राँची में था। तब वहाँ से 'आर्यावर्त' नामक एक साप्ताहिक समाचारपत्र भी प्रकाशित हुआ करता था। धीरे-धीरे बिहार में आर्यसमाजों की संख्या बढ़ती गई और छोटा नागपुर क्षेत्र में अनेक आर्यसमाज स्थापित हुए। वर्तमान समय में इस (छोटा नागपुर) क्षेत्र के आर्यसमाजों की कुल संख्या ५२ है व उनके दो हजार के लगभग सदस्य हैं। पर ये सब समाज सक्रिय नहीं हैं, यद्यपि वहाँ आर्यसमाज बहुत उपयोगी कार्य कर सकता है, विशेषतया उन आदिवासियों में, जिन्हें क्रिश्चियन मिशनरी

निरन्तर अपने धर्म में दीक्षित करते जा रहे हैं। यथार्थ में आदिवासी हिन्दू हैं, निराकार ईश्वर में विश्वास रखते हैं, और परम्परागत विधि से उसकी पूजा करते हैं। पर शिक्षा के अभाव और निर्धनता के कारण वे सुगमता से ईसाइयों के प्रभाव में आ जाते हैं। आदिवासियों की दशा को सुधारने के लिए सरकार द्वारा जो धन दिया जाता है, उसका लाभ भी प्रायः ईसाइयों को ही प्राप्त होता है, क्योंकि वे भलीभाँति संगठित एवं सक्रिय हैं और उन द्वारा आदिवासियों को शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधा प्रदान करना अधिक सुगम होता है।

समय-समय पर इस क्षेत्र के आर्यसमाजों द्वारा राँची, हजारीबाग, चक्रधरपुर, गढ़वा, बोकारो स्टील सिटी आदि स्थानों पर छोटा नागपुर के लिए क्षेत्रीय प्रतिनिधि सम्मेलनों का आयोजन किया गया, ताकि उनके माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार किया जा सके। पर इन्हें समुचित सफलता प्राप्त नहीं हुई। सन् १९३५ ई० में छोटा नागपुर क्षेत्र के लिए आर्य उपप्रतिनिधि सभा का गठन किया गया और उसका कार्यालय जमशेदपुर में खोला गया। पर यह उपप्रतिनिधि सभा देर तक कायम नहीं रही। सन् १९६७ ई० में एक बार फिर छोटा नागपुर आर्य उपप्रतिनिधि सभा को सक्रिय रूप से गठित करने का प्रयत्न किया गया, पर यह भी कुछ समय पश्चात् समाप्त हो गई। सम्पूर्ण छोटा नागपुर के आर्यसमाजों को एक केन्द्रीय संगठन में गठित करने के प्रयत्नों के विफल हो जाने पर राँची, हजारीबाग और पलामू जिलों में जिला आर्य सभाओं का गठन किया गया, जो अधिक सफल रहा। इस क्षेत्र में ऐसे आर्यसमाजी पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं, जो ईसाइयों के कार्यकलाप को चिन्ता की दृष्टि से देखते हैं, और उसका निरोध करना चाहते हैं। उन्होंने एक बार फिर यह यत्न किया कि छोटा नागपुर में आर्यसमाज का एक सक्रिय व सशक्त संगठन कायम हो जाए, और वह इस क्षेत्र की विशेष आवश्यकताओं व परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर भावी कार्यक्रम का निर्धारण करे। इसीलिये राँची जिला आर्य सभा के आह्वान पर २६ अक्टूबर, १९८६ के दिन छोटा नागपुर के ८ जिलों में से ६ जिलों के १८ आर्यसमाजों के ४५ प्रतिनिधि आर्यसमाज राँची में एकत्र हुए, और उन्होंने निश्चय किया कि क्रिश्चियन मिशनरियों के राष्ट्रविरोधी कार्यकलाप का मुकाबिला करने के लिए सशक्त रूप से कार्य प्रारम्भ किया जाए। यद्यपि उनके पास साधनों की कमी थी, पर इसकी परवाह न कर उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए जुट जाने का संकल्प किया। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि कार्य का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए छोटा नागपुर क्षेत्र में पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा गठित की जाय। छोटा नागपुर के आर्यसमाजियों ने इस निर्णय का स्वागत किया और इस क्षेत्र के ४० आर्यसमाजों ने लिखित रूप से यह अनुरोध किया कि शीघ्र ही छोटा नागपुर के लिए पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा गठित करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाए। ३१ मार्च १९८७ ई० को राँची में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें छोटा नागपुर क्षेत्र के आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों ने आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन कर उसके पदाधिकारियों का निर्वाचन किया। पण्डित जयमंगल शर्मा सभा के प्रधान निर्वाचित हुए और श्री दयाराम पोद्दार मन्त्री।

सभा का कार्यालय सम्प्रति आर्यसमाज राँची में रखा गया। सभा के लिए यह गौरव की बात है कि इसका प्रधान लक्ष्मीपुत्र न होकर सरस्वतीपुत्र है, और सेना से

अवकाश ग्रहण कर कई वर्षों से दिन-रात वेदोपदेश के अतिरिक्त जिन्हें अन्य कार्य नहीं है। २५-३० वर्षों से आर्यसमाज के किसी पदाधिकारी बनने से उन्होंने स्वयं को पृथक् रखा है। सम्प्रति सभा में गुरुकुल झज्जर के महाराष्ट्र-निवासी ब्र० देशपाल दीक्षित और पाणिनि महाविद्यालय बहालगढ़ के भिषक् देवदत्त वैयाकरण अवैतनिक रूप से दिन-रात कार्य में लगे हुए हैं। ब्र० देशपाल जी १९६४ ईसवी से और देवदत्त जी १९८१ ईसवी से आदिवासियों को ईसाई होने से बचाने के लिए लगे हुए हैं और दोनों ने ईसाई-बहुल राँची जिले के सिमडेगा और खूँटी क्षेत्रों में प्रशंसनीय कार्य किया है। दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार के पण्डित गोविन्द प्रसाद आर्य विद्यावारिधि सभा के एक-मात्र वैतनिक सहमन्त्री हैं, जिनके जिम्मे समय-समय पर प्रचार-कार्य के संचालन का गुरुतर दायित्व भी है। चतरा-निवासी श्री महावीर प्रसाद 'तार्किक' ने स्वाध्याय के बल पर विलक्षण वेदोपदेश कर आर्य जगत् में अपनी पृथक् पहचान बनायी हुई है। वे भी सभा को सहयोग दे रहे हैं। सभा ने गत ६ माह से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं—

१. पलामू जिले में गढ़वा-स्थित आर्यसमाज मन्दिर को डी० ए० वी० स्कूल का हिस्सा मानकर सरकारी अधिकारियों द्वारा खाली कराये जाने के विरोध-स्वरूप मौन जुलूस निकाला गया, ज्ञापन दिया गया और जनमत जागृत किया गया।

२. छोटा नागपुर के जगन्नाथपुर-स्थित इस क्षेत्र के सबसे प्रसिद्ध रथयात्रा मेले में और कार्तिक पूर्णमासी पर स्वर्णरेखा नदी के तट पर प्रचार-कैम्प लगाकर प्रचार किया गया।

३. छोटा नागपुर के आठ जिलों में से छः जिलों में लगातार २४ महीनों तक २५ आर्यसमाजों में तीन-तीन दिनों तक प्रचार किया गया।

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा अपने क्षेत्र में बड़े उत्साह और लगन के साथ वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप को गति देने में संलग्न है।

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना आर्यसमाज के सुव्यवस्थित तथा अनुशासित संगठन के लिए एक चुनौती है। यह विघटन की उस प्रवृत्ति का परिणाम है, जो आर्यसमाज में स्थान-स्थान पर प्रकट होने लग गई है।

उन्तीसवाँ अध्याय

प्रकीर्ण

(१) स्वामी दयानन्द और राष्ट्रीयता

२६ जनवरी १९५० ई० को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद को अभिषिक्त किया जाना था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपनी अन्तरंग सभा की १४ जनवरी १९५० ई० की बैठक में निश्चय किया कि इस अवसर पर आर्यसमाज की ओर से उन्हें वैदिक राजनीति पर एक ग्रन्थ भेंट किया जाये। इसे हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित कर संसद् के उत्तरभारतीय सदस्यों को हिन्दी संस्करण की और दाक्षिणात्यों को अंग्रेजी संस्करण की एक-एक प्रति भेंट की जाये। सभा ने यह काम पण्डित लक्ष्मीदत्त जी दीक्षित को सौंपा। हिन्दी में 'राजधर्म' तथा अंग्रेजी में 'Political Science' नाम से प्रकाशित इस ग्रन्थ का मुख्य आधार महर्षि दयानन्द बिरचित सत्यार्थ-प्रकाश का छठा समुल्लास था। इसमें तीन परिशिष्ट थे। एक में सन् १९०१ ई० और १९११ ईसबी की जनसंख्या की रिपोर्टों से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण उद्धरण दिया गया था—

१. १९११ ई० में मिस्टर ब्लण्ट ने लिखा था—

"Dayanand was not merely a religious reformer, he was also a great patriot. It would be fair to say that with him religious reform was a mere means to national reform.

The Arya Samajic doctrine has a patriotic side. The Arya doctrine and Arya education alike sing the glories of ancient India and by so doing arouse a feeling of national pride in its disciples who are made to feel that their country's history is not a tale of humiliation. Patriotism and politics are not synomymous, but the arousing of an interest in national affairs is a natural result of arousing national pride. As a tree is known by its fruits, a society is known by its members and Arya Samaj has in it a number of great patriots and national leaders of repute."

—Census Report of 1911, Vol. XV, Part I, Chapter IV, Page 135

अर्थात् "दयानन्द केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे, वह बहुत बड़े देशभक्त भी थे। यह कहना उचित होगा कि उन्होंने धार्मिक सुधार को राष्ट्रीय सुधार के साधनरूप में ही अपनाया था।

आर्यसमाज के सिद्धान्तों में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा है। आर्य सिद्धान्त और आर्य-शिक्षा दोनों समान रूप से भारत के प्राचीन गौरव के गीत गाते हैं और ऐसा करके

अपने अनुयायियों में राष्ट्रीय गौरव की भावना भरते हैं। इस शिक्षा के फलस्वरूप वे समझते हैं कि हमारे देश का इतिहास मात्र पराभव की कहानी नहीं है। देशभक्ति और राजनीति पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु राष्ट्रीय प्रवृत्ति का होना राष्ट्रीय भावना का स्वाभाविक परिणाम है। जैसे किसी पेड़ की पहचान उसके फलों से होती है, वैसे ही समाज का पता उसके सदस्यों से लगता है। आर्यसमाज में अनेक महान् देशभक्त और प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता हैं।"

मिस्टर ब्लण्ट के इस कथन की यथार्थता को जानने के लिए महर्षि दयानन्द के इन शब्दों पर ध्यान देना काफी है—

"यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है।...जितने भूगोल में देश हैं वे सभी इस देश की प्रशंसा करते और आशा करते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, यह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं। सृष्टि से लेके पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक छोटे-छोटे राजा रहते थे।"

१६०१ ई० में जनसंख्या के अध्यक्ष मिस्टर बर्न ने लिखा था—

"Dayanand opposed Islam and Christianity because he feared that the adoption and adaptation of any foreign creed would endanger the national feelings he wished to foster."

"दयानन्द ने इस्लाम और ईसाइयत का खण्डन इसलिये किया कि उन्हें आशंका थी कि किसी भी विदेशी मत के अपनाने से देशवासियों की राष्ट्रीय भावनाओं को, जिन्हें वह जागृत करना चाहते थे, आघात पहुँचेगा।"

(२) महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व (संस्मरण)

श्री धर्मसिंह कोठारी राजस्थान में आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। चिरकाल से वह परोपकारिणी सभा, अजमेर के सचिव पद पर कार्य कर रहे हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के सम्पादन एवं उनकी जीवनी से सम्बद्ध तथ्यों के संकलन में उन्होंने सराहनीय कार्य किया है। धर्मसिंह जी के पूर्वज (बड़े दादा) श्री सुजानसिंह जी कोठारी महर्षि के समकालीन थे और मसूदा (जिला अजमेर) में उनका महर्षि से साक्षात् सम्पर्क हुआ था। उन्होंने मसूदा से चित्तौड़ तक महर्षि के साथ यात्रा भी की थी।

श्री सुजानसिंह जी कोठारी के महर्षि-विषयक संस्मरण बहुत महत्त्व के हैं, जिनसे उनके व्यक्तित्व पर उत्तम प्रकाश पड़ता है। श्री धर्मसिंह कोठारी द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में प्रेषित ये संस्मरण यहाँ दिये जाते हैं—

प्रश्न १. श्री स्वामीजी महाराज से आपका सम्पर्क कब हुआ?

उत्तर—जब पहली बार स्वामीजी मसूदा पधारे।

प्रश्न २. उस समय की कोई घटना स्मरण हो तो कृपया बतायें?

उत्तर—उस समय एक बहुत बड़ा यज्ञ हुआ था, उसमें राव साहब मसूदा ने भी भाग लिया था; उसी समय अनेक हमारे श्वेताम्बर ओसवाल जैन भाइयों ने यज्ञोपवीत

धारण किये थे; किन्तु मैंने उस समय जनेऊ नहीं लिया, क्योंकि मैं शीघ्रता में कोई निर्णय नहीं लेना चाहता था। और यह ठीक ही रहा—उस समय के उपवीतियों में अनेकों ने बाद में यज्ञोपवीत उतार दिये, किन्तु मैंने कुछ बाद में लिया और तब से आज तक धारण किये हुए हूँ। मैंने उस समय और स्नानादि के समय भी उनके गौरवान्वित और क्षत्रियोचित विशाल बक्ष:स्थल को शुभ यज्ञोपवीत से सुशोभित देखा है। उनकी डाढी सफेद थी जो उनके तेजस्वी चेहरे पर खूब फबती थी। अस्तु। उन्होंने और आगे एक बात बड़े विनोदपूर्ण ढंग से कही कि उस यज्ञ के आयोजन में यज्ञशेष रूप में पुष्कल मात्रा में हलवा बनाया गया था। हम हैरान थे कि इस शुद्ध हलवे को हमें न बाँटकर क्यों व्यर्थ अग्नि में डाला जा रहा है?

प्रश्न ३. उस समय आपकी जैन धर्म की मान्यताओं पर क्या प्रभाव पड़ा?

उत्तर—सबसे अधिक प्रभाव मसूदा-नरेश रावसाहब बहादुरसिंह जी पर पड़ा। वे महर्षि के अनन्य भक्त बन गये। हमारे मन में भी एक अनोखी हलचल मच गई। वहाँ आनेवाले जैन साधुओं और आर्यज्ञाओं (जैन साध्वियों) से अपनी शंकाएँ पूछने लगे, किन्तु उनके उत्तरों से हमारा समाधान नहीं हुआ। फिर क्या था, मैंने भी जैन मत को त्यागने का संकल्प ले लिया। उस समय के विचार मुझे दृढ़ आर्यसमाजी बनाने में सहायक हुए। उस समय हमारा भयंकर विरोध हुआ। नाइयों ने हमें नास्तिक कहकर बाल काटने बन्द कर दिये और धोबियों ने कपड़े धोना बन्द किया। एक प्रकार से जाति में से भी कट गये, किन्तु हम विचलित न हुए। हम भ्राताओं ने अपने हाथों से कपड़े धोने शुरू किये और एक-दूसरे के बाल काटकर नाई वाली समस्या भी हल कर ली।

प्रश्न ४. श्री स्वामी जी महाराज का कद क्या था?

उत्तर—छः फुट।

प्रश्न ५. शरीर—वर्णादि कैसे थे?

उत्तर—शरीर स्वस्थ था, गौर वर्ण के थे, ब्रह्मचर्य का तेज था, सिर बड़ा व ललाट अत्यन्त चमकता था। ग्रीवा व नासिका समुन्नत और कान भी बड़े व सुन्दर थे, नेत्र बड़े नहीं थे, पैर भी छोटे-छोटे ही थे, शरीर न स्थूल था न कृश, अपितु दृढ़ और सर्वांग सुन्दर था। स्वभाव से बड़े विनोदी, दयालु और निर्भय थे, वाणी ओजपूर्ण व स्पष्ट थी। लेख भी बहुत साफ-सुथरा था। समय के बड़े पाबन्द थे।

प्रश्न ६. दिनचर्या कैसी थी?

उत्तर—प्रातः बहुत जल्दी उठते थे, शौचादि के लिए गाँव से दूर जंगल में जाते थे। उनकी चाल में इतनी गति थी कि हम उनके साथ दौड़ते हुए भी हाँफ जाते थे। एक बार हम बहुत जल्दी उठकर उनके गन्तव्य मार्ग में काफी दूर जाकर बैठ गये, परन्तु वह वहाँ से भी आगे बढ़ते चले गये और हमारी आँखों से अतिशीघ्र ओझल हो गये। मसूदा राव साहब उनकी इस भ्रमण-वेला पर अपने महल (गढ़) से उन्हें दूरबीन से देखा करते थे, जब तक कि वे उस दूरबीन से भी ओझल न हो जाते।

प्रश्न ७. स्वामी जी की गमन-शक्ति के विषय में तो आपने बताया, अन्य भी कोई बात देखी हो तो बतायें।

उत्तर—एक बार वे सभाकक्ष से बाहर आ रहे थे, उस समय उनके एक पैर का अंगूठा मेरी पिंडली से स्पर्श कर गया, मुझे ऐसा लगा जैसे किसी ने वहाँ का मांस चीर-सा दिया है।

प्रश्न ८. उनका भोजन क्या था ? मेरे विचार में तो वे बहुत खाते होंगे, घी-दूध भी खूब पीते होंगे, तभी तो उनमें इतनी शक्ति थी !

उत्तर—नहीं बेटे ! उनका भोजन मित व नियमित था। एक समय भोजन करते थे। खुराक सामान्य थी। दोनों समय दूध लेते थे। दूध की मात्रा एक सामान्य गिलास से अधिक नहीं थी। फुलके भी अधिक चुपड़े नहीं होते थे। प्रातः भ्रमण करके जब लौटते थे, तब एक गिलास दूध पीते थे और उसके पश्चात् कुछ मिनटों के लिए तख्त पर सीधे लेट जाते थे। प्रायः दिन में जैन मुनियों से प्रश्नोत्तर और शास्त्रार्थ हेतु निमन्त्रण जो कभी मेरे हाथ उन्हें भेजा जाता, कभी किसी और के हाथ भी भेजते थे।

(३) वैदिक साधना आश्रम, तपोवन

बावा गुरमुख सिंह जी द्वारा स्थापित तथा पूज्य आनन्द स्वामी जी के द्वारा संचालित।

वर्तमान में पूज्य महात्मा दयानन्द जी महाराज के संरक्षण में संचालित यज्ञ-शाला—वेद मन्दिर—लगभग ६० कुटियाँ—आंग्ल भाषा माध्यम नर्सरी स्कूल जिसमें लगभग १२५ बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, गौशाला जिसमें लगभग ६ गाय तथा बछड़े हैं।

आश्रम में वेद-वेदांग, दर्शन, योग तथा भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु अनेक शिविर भी आयोजित होते रहते हैं। शहर से लगभग छः किलोमीटर प्रकृति की गोद में एकान्त साधना-स्थल है; लगभग १० साधक नियमित रहते हैं।

दो बार वार्षिक यज्ञ होता है—एप्रिल तथा अक्टूबर में, जिसमें सहस्रों नर-नारी हिस्सा लेते हैं।

क्रान्ति प्रकाशन तथा वैदिक क्रान्ति परिषद् का मुख्य कार्यालय भी यहीं है तथा डॉक्टर आनन्द सुमन (वैदिक प्रवक्ता) भी विगत छः वर्षों से यहीं निवास करते हैं। आश्रम में अनेक ईसाई तथा मुस्लिम युवक-युवतियों की शुद्धियाँ भी डॉक्टर आनन्द सुमन के नेतृत्व में हुई हैं।

(४) भारतीय सेना में आर्यसमाजी धर्मगुरु

भारतीय सेना में मजहब के अनुसार पण्डित, पादरी, मौलवी और ग्रन्थियों की नियुक्तियाँ शिक्षा के आधार पर की जाती हैं। हिन्दू धर्मावलम्बियों के लिए शास्त्री या इसके समकक्ष योग्यतावाले धर्मगुरु (पण्डित जी) नियुक्त होते हैं, जिनका कार्य जवानों में धार्मिक भावना, कर्त्तव्य-पालन, नैतिकता आदि की शिक्षा के साथ-साथ पूजापाठ,

पर्व-त्यौहार आदि मनाने के अतिरिक्त युद्धकाल में सैनिक जवानों का मनोबल बढ़ाने की जिम्मेदारी भी होती है। सेना में जन्म और मृत्यु से सम्बन्धित संस्कार भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं।

यद्यपि धर्मगुरुओं की नियुक्ति सीधे जूनियर कमीशण्ड अफसर के रूप में नायब-सूबेदार के पद से होती है जो सूबेदार मेजर और ऑनरेरी कैप्टेन तक पदोन्नत होते हैं, लेकिन धर्मगुरु एक सम्मानित पद है, जिसको ऑफिसर तथा कमानाधिकारी भी इज्जत देते हैं। सेना में आमतौर पर पौराणिक धर्मगुरुओं की ही भरमार है और अधिकतया सनातन रीति से ही पूजापाठ, ज्योतिष, जन्मपत्री आदि बनाना, हनुमान चालीसा का जाप तथा रामचरितमानस का पाठ आदि में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा व घरेलू संस्कारों में पौराणिक भावनायें ही ज्यादा रहती हैं। लेकिन कुछ आर्य विचारों के धर्मगुरु भी सैनिक-क्षेत्र में आने लगे हैं, जो अपने प्रत्येक कार्यक्रम में वैदिक सिद्धान्तों और आर्यसमाज की छाप जवानों के हृदयों में अंकित करते हैं।

(५) कन्या गुरुकुल विद्यापीठ, पंचगाँव

जिला भिवानी (हरियाणा) में आबादी से दूर एक रमणीक स्थल पर यह गुरुकुल स्थित है। इसकी स्थापना का मुख्य श्रेय महाशय मनसाराम जी त्यागी को प्राप्त है। वे पंचगाँव के निवासी थे और देश की स्वाधीनता के लिए वे अनेक बार जेल गये थे। उनके दो साथी चौधरी महतावसिंह और श्री मंगलाराम पटेल थे, जो त्यागी जी के समान ही देशभक्त तथा स्वतन्त्रता-सेनानी थे। ये तीनों एक-साथ मिलकर कार्य किया करते थे, और जेलों में भी एक-साथ ही रहे थे। ये तीनों महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी थे, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में भी इनका योगदान रहता था। आचार्य भगवान्देव जी (स्वामी ओमानन्द जी) के सम्पर्क में आने पर उनका ध्यान कन्याओं की शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने कन्या गुरुकुल खोलने का निश्चय किया। महाशय मनसाराम त्यागी ने इसके लिए अपनी सब भूमि-सम्पत्ति दान कर दी। उस भूमि पर कुछ छप्पर डालकर कन्या गुरुकुल का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया, और पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा से अनुरोध किया गया कि गुरुकुल के संचालन के लिए पण्डित भरतसिंह जी शास्त्री सिद्धान्तभूषण को भेज दिया जाए। पंडितजी आर्यसमाज के कर्मठ व समर्पित कार्यकर्ता हैं और उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा में उपदेशक थे। सभा ने उन्हें कन्या गुरुकुल भेजना स्वीकार कर लिया और अगस्त, १९४८ में पंचगाँव आकर गुरुकुल का कार्यभार संभाल लिया। गुरुकुल में पानी का बहुत कष्ट था। शास्त्री जी की प्रेरणा से वहाँ चौधरी लोकराम माढ़ी ने गुरुकुल-भूमि पर एक कुआँ बनवा दिया, जिससे जल की समस्या का समाधान हो गया। अब कन्या गुरुकुल सुचारु रूप से चलने लगा था। शास्त्री जी चाहते थे कि उसे पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध करा दिया जाए। सभा गुरुकुल के लिए साठ हजार रुपये देने को भी तैयार थी, पर स्थानीय गुरुकुल कमेटी प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध कराने की बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुई। गुरुकुल की व्यवस्था भलीभाँति कर सकने में अनेक प्रकार की बाधाएँ आने लगीं, और भरतसिंह जी शास्त्री भी गुरुकुल छोड़कर चले गये। परिणाम यह हुआ कि

आर्थिक प्रबन्ध न होने और कोई सुयोग्य संचालक न होने के कारण गुरुकुल बन्द हो गया।

कन्या गुरुकुल के बन्द हो जाने का आर्य लोगों को बहुत दुःख था। श्री मंगलाराम पटेल आदि प्रदेश के प्रमुख आर्यजनों की एक बैठक फरवरी १९७८ ई० में बाढड़ा में हुई, जिसमें गुरुकुल को पुनः चलाने का निश्चय किया गया। आर्थिक समस्या के समाधान के लिए सौ-सौ रुपये के सदस्य बनाये जाने तथा उसका संविधान बनाकर उसे नियमित रूप से पंजीकृत कराने के भी निश्चय इस बैठक में किये गये। इन निश्चयों से आर्य लोगों में नये उत्साह का संचार हुआ और गुरुकुल के पुराने भवनों की मरम्मत कराके जुलाई १९७८ में वहाँ पढ़ाई प्रारम्भ करा दी गई। गुरुकुल के संचालन के लिए 'वैदिक शिक्षा समिति' का गठन किया गया, और उसे सरकार से बाकायदा पंजीकृत करा लिया गया। श्री हरिश्चन्द्र आर्य की प्रेरणा से देवराला क्षेत्र के प्रतिष्ठित व सम्पन्न सेठ श्री बनवारीलाल जी आर्य भी समिति के सदस्य बन गये और उन्हें प्रधान के पद पर चुन लिया गया। अब गुरुकुल बड़ी तेजी के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगा। आर्यसमाज देवराला के प्रधान श्री गोविंदराम आर्य तथा उनके अनुज श्री बनवारीलाल के दान से गुरुकुल में भोजन-भण्डार एवं पाठशाला के भवन बन गये। श्री राव रामचन्द्र, श्री सेठ बृजलाल, श्री सेठ चन्दनमल, श्री सेठ रामनिवास, श्री भीरु राम, सेठ रामकुमार, श्री श्योपाल, सेठ रामकरण जैन, सेठ राधेश्याम अग्रवाल और सेठ चन्दगीराम आदि आर्य सज्जनों ने उदारतापूर्वक दान देकर गुरुकुल के लिए आवश्यक भवनों का निर्माण करा दिया और अन्य खर्च की भी व्यवस्था करने में पूरा सहयोग दिया। भिवानी की रोटरी क्लब द्वारा भी गुरुकुल के लिए एक भवन बनवाया गया, और सरकार ने भी इसके लिए सहायता प्रदान की। अब से कोई दस साल पहले इस क्षेत्र में बिजली आ गई थी, जिसके कारण नलकूपों से सिंचाई करना सम्भव हो गया था। बिजली के उपलब्ध हो जाने पर इस प्रदेश में काफी संख्या में नल-कूप बनाये गये। साथ ही, वहाँ नहर की भी सुविधा हो गई। इस प्रकार यह प्रदेश बहुत हरा-भरा तथा समृद्ध हो गया, जिससे गुरुकुल विद्यापीठ पंचगाँव की आर्थिक समस्या के समाधान में जहाँ सहायता मिली, वहाँ साथ ही लोगों को अपनी कन्याओं को सुशिक्षित कराने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई।

समुचित साधन उपलब्ध हो जाने के कारण अब कन्या गुरुकुल विद्यापीठ पंचगाँव ने एक सुव्यवस्थित शिक्षण-संस्था का रूप प्राप्त कर लिया है। गुरुकुल के छात्रावास में ८० ब्रह्मचारिणियाँ हैं, जो नियमानुसार अनुशासन में रहती हुई विद्याध्ययन करती हैं। ब्रह्मचारिणियों से केवल ५० रुपये मासिक भोजन-खर्च लिया जाता है, शेष व्यय वैदिक शिक्षा समिति करती है। शिक्षा निःशुल्क है। पहले गुरुकुल में राज्य सरकार की पाठ-विधि से पढ़ाई होती थी, पर सन् १९८७ से आर्ष गुरुकुलीय शिक्षा प्रारम्भ कर दी गई है। गुरुकुल का अपना पुस्तकालय तथा वाचनालय है जिसमें वैदिक तथा आर्यसमाजी साहित्य का अच्छा संग्रह है।

श्री भरत सिंह जी शास्त्री इस संस्था के अधिष्ठाता हैं, जिनके कर्तृत्व के कारण गुरुकुल का सारा प्रबन्ध सुचारु रूप से चलने लगा है। श्री नानक चन्द जी गुरुकुल के कुलपति हैं। वे अपना अधिक समय गुरुकुल की उन्नति के लिए लगा रहे हैं।

(६) प्रवासी गुरुकुल महाविद्यालय, अजमेर

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता थे। देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में वैदिक धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया, आर्यसमाज के इतिहास में उसका सदा सुवर्णाक्षरों में उल्लेख किया जायगा। फीजी, अफ्रीका आदि विदेशों में बसे हुए भारतीय मूल के लोगों को अपने पूर्वजों के धर्म में स्थिर रखने और आर्य संस्कृति का उनमें विलोप न होने देने के लिए भवानीदयाल जी का कर्तृत्व अत्यन्त सराहनीय था। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए अजमेर में प्रवासी गुरुकुल महाविद्यालय नाम से एक शिक्षण-संस्था की स्थापना की गई है, जिसका उद्घाटन-समारोह आर्यनरेश श्री सुदर्शनदेव जी शाहपुराधीश की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम के साथ १९८८ ई० के एप्रिल मास के प्रथम सप्ताह में सम्पन्न हुआ था। गुरुकुल का औपचारिक रूप से उद्घाटन डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा किया गया था, और इस अवसर पर आर्यसमाज के बहुत-से लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्, कर्मठ कार्यकर्त्ता और पदाधिकारी उपस्थित थे। उपस्थित महानुभावों में श्री आचार्य दत्तात्रेय जी वाब्ले, आचार्य वेदभूषण जी हैदराबाद तथा परोपकारिणी सभा के उपप्रधान श्री पूनमचन्द आर्य के नाम उल्लेखनीय हैं। उद्घाटन-समारोह से पूर्व अजमेर नगरी में एक शानदार शोभायात्रा भी निकाली गई थी, जिसमें हजारों नर-नारियों ने भाग लिया था।

उत्सव के समय जनता का उत्साह देखने लायक था। इस नये गुरुकुल की स्थापना का प्रधान श्रेय स्वामी शक्तिवेश जी महाराज को है, जिन्होंने इसकी भूमि को सुरक्षित रूप से प्राप्त करने, इस पर भवनों का निर्माण करने के लिए धन एकत्र करने और संस्था के संचालन के लिए पूर्णतया समर्पित महात्माओं व कर्मचारियों को एकत्र करने में अनुपम क्षमता व योग्यता प्रदर्शित की। यह गुरुकुल महाविद्यालय नसीराबाद रोड (अजमेर) पर आदर्श नगर के समीप स्थित है।

(७) आर्य पुरोहित सभा, दिल्ली प्रदेश

दिल्ली प्रदेश में २५० के लगभग आर्यसमाज विद्यमान हैं। ये सब प्रायः सम्पन्न हैं, और इन्होंने पुरोहित भी रखे हुए हैं, जो साप्ताहिक सत्संगों में सन्ध्या, हवन और प्रार्थना कराते हैं तथा प्रवचन भी करते हैं। आर्य परिवारों में यज्ञ एवं संस्कार कराना भी इनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। दिल्ली प्रदेश के प्रायः सभी आर्य पुरोहित सुशिक्षित एवं वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था रखनेवाले हैं। उन्होंने अपना एक संगठन भी बनाया हुआ है, जिसे सन् १९७९ में 'आर्य पुरोहित सभा' के नाम से रजिस्टर्ड करा लिया गया था। श्री प्रेमपाल शास्त्री इस सभा के प्रधान और श्री मेघश्याम वेदालंकार मन्त्री हैं। सभा के पदाधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। आर्य पुरोहित सभा के कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) आर्यसमाज के कर्मकाण्ड एवं याज्ञिक अनुष्ठान में एकरूपता लाना। (२) आर्यसमाज के पुरोहितों तथा विद्वानों की समय-समय पर गोष्ठियाँ आयोजित करना और उन द्वारा पुरोहितों की समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करना।

(३) वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित विद्वानों, प्रचारकों व पुरोहितों तथा उनके परिवारों की आवश्यकतानुसार सहायता करना।(४) पुरोहितों और आर्यसमाजों के पदाधिकारियों में सामञ्जस्य व समन्वय स्थापित करना, और (५) उनमें विवाद की दशा में न्यायसंगत बात के लिए संघर्ष करना।

आर्य पुरोहितों का जिस प्रकार का संगठन दिल्ली में है, अन्य राज्यों में भी पुरोहितों को इसी प्रकार से संगठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि संगठित होकर आर्य पुरोहित वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं।

(८) आर्यसमाज की अन्य महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ

'आर्यसमाज का इतिहास' के विविध भागों में जिन शिक्षण-संस्थाओं, शोध-संस्थानों, आश्रमों और योग-साधना केन्द्रों आदि का परिचय दिया गया है, उनके अतिरिक्त भी कितनी ही अन्य संस्थाएँ हैं जिन्हें आर्य सज्जनों द्वारा स्थापित किया गया है, और जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

दिल्ली के **योग मन्दिर** ने योग के विशुद्ध स्वरूप को देश-विदेश में प्रचारित करने के लिए सराहनीय कार्य किया है। इसके संस्थापक व संचालक आचार्य भगवान् देव हैं, जो भारत की लोकसभा के सदस्य भी रह चुके हैं। योग मन्दिर का कार्यालय २, नार्थ एवेन्यू, महारानी बाग, नई दिल्ली में है, पर इसका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सन् १९८७ ई० के नवम्बर मास में योग मन्दिर द्वारा नई दिल्ली के खेल ग्राम में विश्व योग सम्मेलन का आयोजन किया गया था, जिसमें भारत के प्रायः सभी राज्यों तथा विदेशों से सैकड़ों योगियों तथा योगिनियों ने भाग लिया था। योग के सम्बन्ध में आर्यसमाज का जो दृष्टिकोण है, उसे वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने में इस सम्मेलन को बहुत सफलता प्राप्त हुई थी। 'योग मन्दिर' नाम से एक मासिक पत्रिका भी आचार्य भगवान देव द्वारा प्रकाशित की जाती है।

वेद मन्दिर नामक संस्था की स्थापना स्वर्गीय महात्मा वेदभिक्षु द्वारा की गई थी, जिसने वैदिक साहित्य के शोध एवं प्रकाशन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अन्यत्र महात्मा जी के जीवन-परिचय के प्रसंग में इस संस्था का भी उल्लेख हुआ है। इस समय महात्मा जी की सहधर्मिणी श्रीमती राकेश रानी जी इसका संचालन कर रही हैं।

गत वर्षों में अनेक नये गुरुकुल भी स्थापित हुए हैं। उदाहरण के रूप में इनमें से एक कन्या गुरुकुल पंचगाँव का परिचय इस अध्याय में दे दिया गया है।

परिशिष्ट

क्रिश्चियन मिशनों की गतिविधियों के सम्बन्ध में सरकारी रिपोर्ट

क्रिश्चियन मिशनरी भारत की अनुसूचित जनजातियों तथा 'हरिजन' कहे जाने वाले लोगों की गरीबी, अशिक्षा तथा दुर्दशा से लाभ उठाकर किस प्रकार उन्हें अपने धर्म का अनुयायी बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, इस विषय पर इस 'इतिहास' के छठे भाग (बारहवाँ और तेरहवाँ अध्याय) में विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। क्रिश्चियन मिशनरियों के ये प्रयत्न न केवल नैतिक दृष्टि से ही अनुचित थे, अपितु देश की एकता और अखण्डता के लिए भी विघातक थे। इसीलिए आर्यसमाज ने उनके विरोध में आवाज उठाई,' और धर्मरक्षाभियान के आन्दोलन का प्रारम्भ कर हिन्दुओं के धर्मान्तरण को रोका (छठा भाग, पच्चीसवाँ और छब्बीसवाँ अध्याय)। हिन्दुओं को ईसाई व मुसलमान बनने से रोकना गत वर्षों में आर्यसमाज के कार्यकलाप का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। अब भी आर्यसमाज इस विषय में सजग है, और हिन्दुओं को लालच और बल-प्रयोग द्वारा अपने धर्म का परित्याग कर देने के लिए विवश होने से रोकने में तत्पर है।

क्रिश्चियन मिशनरी किस प्रकार अनुचित, अवैध व राष्ट्रविरोधी उपायों से हिन्दुओं को बलपूर्वक या प्रलोभन आदि द्वारा ईसाई बनाने में तत्पर थे, इसकी प्रामाणिक जानकारी उस सरकारी रिपोर्ट से प्राप्त की जा सकती है, जिसे मध्यप्रदेश शासन द्वारा नियुक्त नियोगी कमीशन ने तैयार किया था। नियोगी रिपोर्ट से कुछ उद्धरण इस 'इतिहास' के छठे भाग में भी दिये जा चुके हैं। पर यह रिपोर्ट इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे अधिक विस्तार से प्रकाश में लाया जाना चाहिए। यहाँ हम इसी रिपोर्ट के कुछ अंश दे रहे हैं—

युद्धोपरान्त ईसाइयों की विश्व-नीति—भारत में ईसाई मिशनों की उग्रतर गतिविधियाँ ईसाइयों की युद्धोत्तर विश्व-नीति का एक अविभाज्य अंग है। अतः इसके पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए विश्व-परिस्थिति के साथ-साथ इसका अध्ययन करना आवश्यक होगा।

सन् १९४१ में द्वितीय विश्व-युद्धकाल में ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और सामाजिक उत्तरदायित्व के लिए चर्चों का एक कमीशन नियुक्त किया। सन् १९४२ में कमीशन ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें ईसाई दृष्टिकोण से ईसाई चर्च तथा विश्व-शान्ति पर विचार किया गया था और जिसमें सामान्य नैतिक उद्देश्य, अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक सम्बन्ध, आर्थिक न्याय, निःशस्त्रीकरण तथा अल्पसंख्यकों एवं उपनिवेश-वासियों के अधिकार का उल्लेख था। इसी प्रकार संयुक्त अमरीकी राज्य में १९०८ में स्थापित 'फिडरल कौन्सिल ऑफ चर्चेज' ने भी न्याययुक्त स्थायी शान्ति के लिए

मि० जान फास्टर डलेस की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया। जुलाई १९४३ में उक्त कमीशन द्वारा एक गोलमेज कान्फ्रेंस बुलाई गई और विश्व-शान्ति पर ईसाइयों की ओर से एक सन्देश प्रकाशित किया गया। इस सन्देश में उक्त कमीशन द्वारा उपस्थित किये गए राजनैतिक प्रस्तावों को शान्ति के ६ स्तम्भों के रूप में सहर्ष स्वीकार किया गया था और उस कान्फ्रेंस में इस बात पर बल दिया गया था कि यह एक ऐसा अवसर है जबकि ईसाई धर्म का विश्व-व्यापी प्रचार होना चाहिए।

जनवरी १९४५ में क्लीवलैण्ड और ओहियो में स्थायी शान्ति के निमित्त एक संयुक्त राष्ट्र कमीशन बैठा। उसने ९ सिफारिशें उपस्थित कीं। इनका अमेरिकन चर्चों ने बहुत स्वागत किया और सरकारी क्षेत्रों में भी उन्हें महत्त्व दिया गया। इसी प्रकार १९४५ में 'ब्रिटिश कौन्सिल ऑफ चर्चेज' ने भी अपनी सरकार के सामने कतिपय सिफारिशें रखीं। इन्हीं सबका परिणाम हुआ कि अप्रैल-जून, १९४५ में संयुक्त राज्यों की एक कान्फ्रेंस सेन्फ्रान्सिस्को में बुलाई गई। इसी कान्फ्रेंस में मानवीय अधिकारों के लिए एक कमीशन की नियुक्ति पर बल दिया गया।

न्याययुक्त स्थायी शान्ति कमीशन की एक दूसरी बैठक १९४५ के नवम्बर में हुई। इसमें विभिन्न चर्चों के बीच एक सार्वभौम ईसाई संगठन पर बल दिया गया, जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर चर्च की ओर से महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला जा सके। उक्त कमीशन ने घोषित किया—

"अब जबकि युद्ध समाप्त हो गया है, ईसाई चर्चों का एक विश्वव्यापी संगठन बन सकता है, जिसके द्वारा अनेक देशों में ईसाइयत का प्रचार संगठित रूप से किया जाए।……ईसाई शक्तियाँ विश्व में अल्प संख्या में हैं, फिर भी वह उक्त प्रकार से थोड़े ही समय में एक सुसंगठित और प्रबल अल्पसंख्यक समूह का रूप ले सकती है।"

यद्यपि स्वयं यूरोप में ईसाइयत के प्रचार की आवश्यकता थी, क्योंकि वहाँ मार्क्स के कम्यूनिज्म का प्रचार बढ़ रहा था, फिर भी ईसाइयों ने अपना ध्यान भारत और दूसरे औपनिवेशिक राज्यों की ओर मोड़ लिया। उन्हें हमारे विधान से प्रोत्साहन मिला, क्योंकि उस विधान से भारत में किसी भी धर्म को अपना प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई है।

भारतीय विधान में धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद भारत में ईसाइयत का प्रचार प्रबल हो गया और मिशनरियों के लिए तो मानो द्वार ही खुल गया। प्रेस, फिल्म, रेडियो आदि अनेक साधनों के साथ मिशनरियों के दल-के-दल भेजे जाने लगे।

वह नवीन ईसाई प्रचार स्टालिनवाद और वैज्ञानिक मानववाद जैसे नये मनः-कल्पित धर्म-निरपेक्ष राज्यों को परास्त करने तथा अन्य गैर-ईसाई धर्मों की प्रकल्पित सम्भावनाओं का सामना करने के उद्देश्य से उभड़ा है।

सन् १९५१ में अमेरिकन चारकों तथा अन्य विदेशी मिशनों की संख्या में ५०० की वृद्धि हुई। विशेषकर मिशनरी जत्थों का आक्रमण सरगुजा जिला में हुआ जहाँ १९४७ से पूर्व जबकि सरगुजा मध्यप्रदेश में विलीन हुआ, मिशनरियों का प्रवेश निषिद्ध था।

भारत में ईसाई धर्म-परिवर्तन का जो प्रबल आन्दोलन चला, उसने ईसाइयों को यह सोचने को बाध्य किया कि उच्च वर्ग के हिन्दुओं और मध्य-श्रेणी के लोगों तथा

जंगली जातियों को किस प्रकार ईसाई बनाया जाए। जहाँ तक उच्च और मध्यम श्रेणियों का सम्बन्ध है, उन पर ईसाई धर्म का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता है। साथ ही हिन्दू संस्कृति की सर्वग्राही शक्ति को दृष्टि में रखते हुए यह नितान्त आवश्यक है कि जहाँ और जब भी अवसर मिले, ईसाई धर्म को तत्काल प्रसारित किया जाए। देश के भीतर बढ़ते हुए कम्यूनिज्म की प्रगति तभी रोकी जा सकेगी।

दूसरी ओर गैर-ईसाई धर्म जैसे हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, और कन्फूसियस धर्म पुनर्जीवन प्राप्त करते हुए ईसाई धर्म को चुनौती दे रहे हैं और ईसाई मत की इस मान्यता को ललकार रहे हैं कि केवल ईसाई धर्म ही सत्य ज्ञान का एकमात्र मार्ग है। उक्त सब धर्मों का यह विश्वास है कि सब धर्म एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं। अतः ईसाइयों ने निश्चय किया कि यूनिवर्सल चर्च (सार्वभौम चर्च) का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने प्रभु की आज्ञा का पालन करें, जिसमें सब अन्य धर्मों को जड़ से नेस्त-नाबूद करने को कहा गया है।

सन् १९४८ के जून मास में जो 'फेलोशिप ऑफ इण्टरनेशनल मिशनरी सुसाइटी कान्फ्रेंस' हुई थी, उसमें एलेक्जेण्डर मकलेश ने बोलते हुए कहा था कि अभी हाल में हमारे भारतीय ईसाई नेताओं ने एक योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत ६००००० (छः लाख) भारतीय ग्रामों को अगले दस वर्षों में ईसाई बनाने का संकल्प किया गया है। हमारे पास भौतिक साधनों की कमी नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे आध्यात्मिक साधनों का भी अभाव नहीं है। इनके द्वारा हम धर्म-परिवर्तन-कार्य को भली प्रकार सम्पन्न करने में समर्थ होंगे।

अमेरिका में जो टेलीविजन के द्वारा ब्राडकास्ट होता है उसमें अमेरिकन लोगों से कहा जाता है कि दल-के-दल मिशनरियों को विश्व के समस्त देशों को भेजें, जिससे कि वहाँ लाखों पीड़ित व्यक्तियों को ईसा के राज्य में प्रविष्ट किया जा सके। यह धर्म-युद्ध चर्च के इतिहास में सबसे बड़ा कार्य होगा। अमेरिका में इस बात पर भी जोर दिया जाता रहा है कि ईसा का चर्च विश्व-व्यापी चर्च है। यह राष्ट्रीयता और जातीयता के भेदभाव से ऊपर है। इस प्रकार ईसाई मत लोगों को दुहरी राजभक्ति सिखाता है अर्थात् एक ओर तो ईसा के प्रति और दूसरी ओर राष्ट्र के प्रति। ऐसी परिस्थिति में यदि ईसा और राष्ट्र के बीच टक्कर हो तो सच्चे ईसाई के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ईसा की ही आज्ञा का पालन करे। राष्ट्र के प्रति भक्ति एक राजनैतिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य है, जबकि चर्च के प्रति निष्ठा एक प्रकार का धार्मिक और आध्यात्मिक कर्त्तव्य हो जाता है। इसमें कोई संशय नहीं कि दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं और साधारण तौर पर दोनों में कोई झगड़ा दिखाई नहीं देता। यदि संसार में राजनैतिक विभाजनों पर धर्मों का कोई प्रभाव न पड़े, तब उक्त दो प्रकार की निष्ठाओं में किसी प्रकार के झगड़े का कोई अवसर नहीं है। परन्तु आजकल के संसार में कई ऐसे राष्ट्र हैं जो धर्म या मजहब की नींव पर खड़े हैं। हमारे देश का जो विभाजन हुआ उसमें भी मजहब का ही हाथ रहा है। ऐसी दशा में राष्ट्र के प्रति निष्ठा और चर्च के प्रति निष्ठा इन दोनों के बीच संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। इस दृष्टि से हम देखें तो भारत ग्रामीण क्षेत्रों में जो प्रेस, फिल्म तथा रेडियो द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार की भयंकर चेष्टा हो रही है, वह देश के लिए खतरे से खाली नहीं है।

इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि मिशनरियों द्वारा धर्म-परिवर्तन का जो प्रबल कार्यक्रम चल रहा है, उसका उद्देश्य निम्न प्रकार है—

१. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् औपनिवेशिक राज्यों में राष्ट्रीय एकता की भावना को बढ़ने से रोकना।

२. सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भारत और अमेरिका के बीच भेद-भाव पर बल देना। भारत शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का इच्छुक है जबकि 'वर्ल्ड कौन्सिल ऑफ चर्चेज' जैसाकि उसकी एक रिपोर्ट से पता चलता है, सह-अस्तित्व की नीति को केवल तुष्टिकरण की नीति मानता है और वर्तमान एकतंत्र राष्ट्रों और स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच आर्थिक और राजनैतिक विभिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए, इसका समर्थन नहीं करता।

३. भारतीय संविधान में दी गई धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता से लाभ उठाना तथा मुस्लिम लीग की भाँति भारतीय गणतन्त्र में एक क्रिश्चियन पार्टी का संगठन करना जो अन्त में अपने लिए एक अलग राज्य की माँग कर सके अथवा कम-से-कम एक प्रबल अल्पसंख्यक समुदाय को खड़ा कर सके।

संक्षेप में परिस्थिति यह है कि कैथोलिक चर्च की पोपशाही और अमरीकी प्रजातन्त्र दोनों कम्यूनिज्म (साम्यवाद) से लोहा लेने के लिए अधिक-से-अधिक लोगों को ईसाई बनाने पर तुले हुए हैं। कैथोलिक चर्च जहाँ अपने धार्मिक साम्राज्य के लिए लालायित है, वहाँ अमेरिका विश्व-नेतृत्व प्राप्त करने के लिए अधीर है।

अन्य देशों में धार्मिक स्वतन्त्रता—कुछ ईसाई लोगों के द्वारा की गई धार्मिक स्वतन्त्रता की व्याख्या का उल्लेख करते हुए रिपोर्ट में आगे कहा गया हैं कि भारत में अनादि काल से धार्मिक स्वतन्त्रता रही है। भारत अनेक धर्मों का देश है। हिन्दू धर्म, जो यहाँ के अधिकांश लोगों का धर्म है, स्वयं अनेक मत-मतान्तरों का समवाय है। हिन्दू धर्म अपनी उदारता और दूसरे धर्मों के प्रति अपनी सहृदयता के कारण ही युग-युगान्तरों से अक्षुण्ण चला आ रहा है। हिन्दू समाज में धार्मिक उत्पीड़न या अत्याचार का नाम भी नहीं रहा है।

आदिकाल से हिन्दुओं की धार्मिक सहिष्णुता ने विभिन्न मत-मतान्तरों को एक-साथ फलने-फूलने का अवसर दिया। जैनमत और बौद्धमत दोनों ही आदिकालीन आर्य-धर्म की कुछ बातों से भिन्नता रखते हुए भी उसी के अन्तर्गत हैं। उनका उदय और विकास, जैन-धर्म का श्रमण-धर्म के रूप में एक अल्पसंख्यक वर्ग तक सीमित रह जाना, बौद्ध धर्म का विकास, इसका बाहर के देशों में प्रचार तथा हिन्दू समाज में इसका ह्रास यह सब शान्ति से घटित हुआ। परिवर्तन आये किन्तु धीरे-धीरे, सामाजिक दबाब और आन्दोलनों तथा पारस्परिक प्रेरणा द्वारा, किन्तु किसी वर्ग-विशेष के साथ अथवा व्यक्तियों का आपस में कभी कोई संघर्ष धर्म के नाम पर नहीं हुआ।

हिन्दू भारत ने सम्राट् अशोक के रूप में, जो पीछे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे, पारस्परिक मैत्री और धार्मिक सहिष्णुता का अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। अशोक के एक प्रसिद्ध शिलालेख पर यह खुदा है—

"देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी (अशोक) सभी मतों का सम्मान करते हैं। वे गृहस्थों और संन्यासियों का दान तथा पूजा से सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के

प्रिय राजा इस प्रकार के दान तथा सम्मान को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि वे सदाचार और सद्गुण-सम्पन्न शासन को देते हैं। इन सभी सद्‌गुणों का मूल स्रोत विनयपूर्ण भाषण है अर्थात् किसी को दूसरे व्यक्तियों के धार्मिक विश्वासों की निन्दा करते हुए अपने धर्म की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। न बिना किसी न्यायसंगत कारण के दूसरे धर्मों का अनादर करना चाहिए। इसके विपरीत यह उचित है कि दूसरे धर्मों को यथायोग्य सम्मान की दृष्टि से देखा जाय।"

कुछ ईसाई लेखकों का कहना है कि धार्मिक असहिष्णुता तो ईसाई धर्म के जन्म के साथ उत्पन्न हुई। प्रोफेसर गीडो डि रूडिरो नामक लेखक ने अपने एक लेख में लिखा है—

"मानव-जाति की धार्मिक स्वतन्त्रता के महासंघर्ष में ईसाई धर्म ही विरोधी रहा है। इसी ने असहिष्णुता के बीज बोये जो इसे यहूदियों की परम्परा से मिले थे। इसने ही सार्वभौम यिशन तथा ईश्वर और मानव के बीच एकमात्र माध्यम के रूप में चर्च की कल्पना उपस्थित की है।"

ईसाई मत अपने प्रथम तीन सौ वर्षों तक स्वयं इस बात के लिए संघर्ष करता रहा है कि वह रोमन साम्राज्य के अन्दर गैर-ईसाई के बीच किस प्रकार आगे बढ़े। उस समय इसके असहिष्णु होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

किन्तु पीछे दूसरे धर्मों को ईसाई मत के मुकाबिले में अपनी रक्षा करने के लिए उद्यत होना पड़ा। बाद को रोम में ऐसे कानून बनाये गए जिनके द्वारा गैर-ईसाइयों को मन्दिर बनाने, धार्यिक कृत्यों के लिए एकत्रित होने और व्यक्तिगत रूप से भी अपने धर्म के प्रचार के लिए वर्जित किया जाने लगा। गैर-ईसाई अनेक नागरिक अधिकारों से भी वंचित कर दिये गए। ईसाई धर्म छोड़ने पर मृत्यु-दण्ड निर्धारित किया जाने लगा।

जो ईसाई नहीं थे उनके लिए यह भी नितान्त अनिवार्य कर दिया गया कि वे चर्च में जाकर शिक्षा ग्रहण करें और यदि वे बप्तिस्मा ग्रहण करने से इन्कार करें तो उन्हें देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाय अथवा उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाय। उनके छोटे बच्चों को भी बप्तिस्मा लेना पड़ता था।

ईसा की ५वीं शताब्दी में ऐसा कानून बनाया गया कि जो भी व्यक्ति ईसाई परम्परा से विमुख होगा उसे राज्य के विरुद्ध अपराधी घोषित किया जायगा और उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायगा। नास्तिकता को आम अपराध घोषित कर दिया गया था।

जब ईसाई धर्म स्वयं सत्तारूढ़ हुआ तो यहूदियों के प्रति उसका जो व्यवहार हुआ, वह एक ऐतिहासिक सत्य घटना है।

आरम्भ में यहूदी धर्म रोम में एक स्वीकृत धर्म के रूप में था, यद्यपि उसके साथ कुछ बन्धन भी लगा दिये गए थे। पर बाद को उसे एक घृणित पाखण्ड के रूप में लिया जाने लगा। यहूदी लोग सरकारी नौकरियों के लिए अयोग्य समझे जाने लगे थे। यदि कोई ईसाई यहूदी धर्म अपना लेता था तो उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। यदि कोई यहूदी किसी ईसाई स्त्री से विवाह कर लेता था तो उनके लिए देश-निकाला या मृत्यु की सजा होती थी। जो यहूदी ईसाइयों को अपने धर्म में दीक्षित करता था, उसके लिए घोर दण्ड निर्धारित था। ७वीं शताब्दी में स्पेन, इटली इत्यादि देशों में यहूदियों को निर्देश था कि वे या तो बप्तिस्मा ग्रहण करें या देश से निष्कासित हों।

ईसाई धर्म के आगे के हजार वर्षों में यही क्रम चलता रहा। आक्रान्ता और विजेता लोग चर्च का उपयोग केवल अपनी राजनैतिक विजयों को दृढ़ करने में करते रहे। चर्च और राज्य दोनों के अपवित्र गठजोड़ ने धार्मिक स्वतन्त्रता को कुचलकर रख दिया और जो लोग ईसाइयत को अस्वीकार करते थे, उनके लिए उत्पीड़न ही शेष रह गया था।

अन्त में प्रतिक्रिया हुई। चर्च और राज्य को पृथक् रखने की आवाज उठी। १५०० ईसवी से लेकर १७०० ईसवी तक के युग को "सुधार-युग" के नाम से कहा गया है। ईसाई धर्म के इस सुधार-आन्दोलन का नेता जर्मनी का लूथर था। एक बार उसने अपने भाषण में कहा था—

"जो ईसाई नहीं हैं, उनसे झगड़ना बेकार है, उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए, वे स्वयं नष्ट हो जायेंगे। ईसाई मत के विश्वासियों को पाप का स्रोत का पता लगाना चाहिए और पाप के स्रोत कैथोलिक मत के पादरी और पोप हैं। वे अपने रूप में छिपे हुए शैतान हैं। उनके रक्त से अपने हाथ रंगने चाहिएँ।"

कैथोलिक अथवा प्रोटेस्टैण्ट लोगों के द्वारा प्रदर्शित असहिष्णुता गैर-ईसाइयों अथवा यहूदियों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् वे आपस में भी एक-दूसरे के प्रति असहिष्णु थे।

यह है धार्मिक स्वतन्त्रता का इतिहास जो पश्चिमी देशों में ईसाइयत प्रस्तुत करता है।

अब आइए, हम अपने देश की ओर मुड़ें और पश्चिम के ईसाई देशों के प्रभुत्व-काल में यहाँ की धार्मिक स्वतन्त्रता की दशा का अध्ययन करें।

भारत में ज्यों-ज्यों पुर्तगाली शासन की जड़ जमती गई, त्यों-त्यों वह निरंकुश बनता गया। समय-समय पर ऐसी राजकीय घोषणाएँ विज्ञापित की गयीं जिनके द्वारा ईसाई और गैर-ईसाई लोगों के बीच गहरा भेद-भाव उपस्थित किया गया और गैर-ईसाइयों को कितने ही अधिकारों से वंचित कर दिया गया। १५५९ में एक धारा पास करके सभी हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों के लिए अयोग्य घोषित कर दिया गया। उसी वर्ष एक दूसरा कानून बनाया गया जिसके द्वारा उन अनाथों की सम्पत्ति, जो ईसाई धर्म स्वीकार करने को तैयार न थे, जब्त कर ली गई। इतना ही नहीं, ऐसे कानून भी बनाये गए जिनके द्वारा हिन्दू मन्दिरों और देव-मूर्तियों को विध्वंस कर देने की आज्ञा दी गई तथा उनके सभी धार्मिक उत्सवों को बन्द कर दिया गया। १५६० में सभी ब्राह्मणों और और स्वर्णकारों को कहा गया कि या तो वे ईसाई धर्म स्वीकार कर लें अन्यथा वे गोआ छोड़कर बाहर चले जाएँ। १५६७ के एक कानून द्वारा ब्राह्मण लोग अपने प्रमुख धार्मिक कृत्य जैसे उपनयन संस्कार, विवाह संस्कार, यहाँ तक कि अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने से भी वर्जित कर दिये गए। हिन्दू धर्म-शास्त्रों को अवैध घोषित कर दिया गया। १५ वर्ष से अधिक आयु के सभी हिन्दू ईसाई शिक्षा ग्रहण करने पर बाध्य किये गए। हिन्दू मन्दिर नष्ट कर दिये गए और उनकी जगह गिरजे खड़े किये गए। १५७५ में एक दूसरा कानून बनाया गया, जिससे हिन्दू नागरिक राज्य की भूमि को कर देकर भी नहीं प्राप्त कर सकते थे। गोआ की जनता को अपनी मातृभाषा के व्यवहार से रोक दिया गया और सन् १६८४ की धारा द्वारा उन्हें आदेश दिया गया कि वे ३ वर्ष के

भीतर-भीतर पुर्तगाली भाषा सीख लें, नहीं तो उन पर कानूनी कार्यवाही की जाएगी। इन सभी सरकारी कानूनों का उद्देश्य यही था कि या तो लोग ईसाई हो जाएँ और नहीं तो वे राज्य छोड़कर निकल जाएँ। इस प्रकार भारत में १७वीं शताब्दी के मध्य तक ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों का एक नवीन अध्याय फिर १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ठेकेदारी की समाप्ति से आरम्भ होता है। तब तक कोई भी यूरोपियन, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का नौकर न था, बिना कम्पनी की आज्ञा के भारत की धरती पर नहीं उतर सकता था। परन्तु जब यह पाबन्दी १८१३ में उठ गई तो कोई भी यूरोपियन स्वतन्त्रतापूर्वक भारत में आ सकता था और उसे रोकने का कोई कानूनी अधिकार कम्पनी को नहीं रह गया था।

आधुनिक मिशनों का विकास देश में अंग्रेजी शासन के जमने से आरम्भ हुआ। कैथोलिक लोगों का अधिकतर कार्य केवल दक्षिणी क्षेत्रों में ही सीमित था। बात यह थी कि पुर्तगाली प्रभुत्व भारत के एक बहुत ही छोटे भाग में सीमित रहने के कारण ईसाई धर्म भारत के दूसरे भागों में प्रसार पाने में असमर्थ रहा। ईसाई धर्म में दीक्षित लोगों की संख्या और उनका क्षेत्र बहुत ही परिमित रहा। किन्तु भारत में अंग्रेजी शासन के आने पर ईसाई धर्म के प्रसार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया।

परन्तु उनके सिद्धान्त और कार्य में अन्तर था। यद्यपि भारत में ब्रिटिश शासन ने धार्मिक निरपेक्षता की घोषणा की थी, फिर भी शासन के ईसाई अधिकारियों द्वारा ईसाई मिशनरियों को बहुत प्रोत्साहन और सुविधाएँ प्राप्त हुईं।

ईसाई आधिपत्य के पूर्व, भारत मुगलों के अधीन था। बाबर और अकबर धर्म के राजनैतिक पहलू के सिवा उसके प्रति प्रायः उदासीन थे। किन्तु अकबर के पोते शाहजहाँ ने १६३३ में एक आज्ञा प्रसारित की कि सभी हिन्दू मन्दिर तोड़ दिये जाएँ, जिन्हें धर्म-परायण हिन्दू लोग उसके बाप-दादा के समय से निर्बाध रूप से बनाते आ रहे थे। सर्ले बेट्स नामक लेखक के कथनानुसार इस्लाम के कट्टर हिमायती औरंगजेब ने अत्याचार पर अत्याचार किये। १६६९ में उसने सभी सूबों के सूबेदारों के नाम आदेश जारी किये कि हिन्दुओं के सभी मन्दिरों और विद्यालयों को भूमिसात् कर दिया जाए और उनकी शिक्षा तथा धार्मिक कृत्यों को बिलकुल बन्द कर दिया जाए। परिणामस्वरूप बहुसंख्यक हिन्दू मन्दिर और बहुत-से तीर्थस्थल विध्वंस कर दिये गए। अपनी पुस्तक 'रिलीजस लिबर्टी' नामक पुस्तक में सर्ले बेट्स ने लिखा है कि "पूजा-स्थलों पर गायों की हत्या की गई, चौराहों पर देव-मूर्तियों को पैरों-तले रौंदा गया तथा इसी प्रकार के अनेक अमानुषिक दुष्कृत्य किये गए। १६७९ में उसने गैर-मुस्लिमों पर फिर से जजिया कर लगाया जिससे कि लोग इस्लाम ग्रहण कर लें।" हिन्दू धार्मिक मेलों को बन्द कर दिया गया। इस्लाम धर्म में दीक्षित होने वालों को सहायता, सरकारी नौकरी और यदि वह कैदी हो तो कैद से छूट का प्रलोभन देकर लोगों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया गया। इन प्रलोभनों का फल यह हुआ कि भारतीय समाज का बहुत-सा निर्बल अंग उससे कटकर बाहर से अल्पसंख्या में आनेवाले मुस्लिमों में जुड़ गया।

इस्लामी विजयों ने भारत में बौद्ध धर्म के टिमटिमाते दीपक को बुझा दिया

और जैन धर्म पर भी बड़ा भीषण आघात हुआ। हिन्दुओं में सिख धर्म, जिसका कुछ पीछे उदय हुआ, अपने सबल संगठन और अदम्य सैन्य शक्ति के सहारे ही रक्षित रह सका।

ऊपर हमने धार्मिक स्वतन्त्रता के इतिहास पर ही दृष्टिपात किया है। अब आइये, हम वर्तमान समय में भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में विद्यमान धार्मिक स्वतन्त्रता पर एक दृष्टि डालें।

सर्वप्रथम इटली को लें जो कैथोलिक चर्च का संचालन-केन्द्र तथा कैथोलिक धर्म के प्रधान पोप का निवास-स्थान है। फासिस्ट होने से पूर्व इटली का राष्ट्र कैथोलिक चर्च के आधीन था। पोप राजनैतिक मामलों में सर्वेसर्वा था। जब मुसोलिनी सत्तारूढ़ हुआ तब राज्य और चर्च के बीच क्या सम्बन्ध हो, इसपर एक समझौता हुआ।

इस समझौते के अनुसार इटली में कैथोलिक धर्म को राज्य का एकमात्र धर्म स्वीकार किया गया। इटली में कैथोलिक धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसको सरकारी सुरक्षा प्राप्त है तथा इटली में जनता के लिए जो शिक्षा-प्रणाली अपनाई गई है उसका आधार भी कैथोलिक परम्परा के अनुसार ईसाई सिद्धान्तों पर स्थित है। इटली में ऐसी शिक्षा केवल उन्हीं अध्यापकों और पादरियों द्वारा प्रदान की जाएगी जो चर्च के अधिकारियों द्वारा प्रमाणित होंगे।

कैथोलिक प्रदेशों में इटली के बाद स्पेन का महत्त्व है। समय पाकर कैथोलिक चर्च स्पेन में बहुत प्रभावशाली हो गया और राजनैतिक शक्ति उसी के अधीन हो गई। कैथोलिक चर्च वहाँ के सामाजिक और आर्थिक जीवन में सर्वेसर्वा हो गया, परन्तु कुछ समय के पश्चात् वहाँ के लोगों में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और इसके फलस्वरूप १९३१–३९ की स्पेनिश राज्य-क्रान्ति हुई। राजनैतिक स्वतन्त्रता के पुजारियों का गुस्सा स्पेन में चर्च के शासन के विरुद्ध उभड़ पड़ा। स्पेन में चर्च की बहुत दुर्गति हुई। यह कहा जाता है कि २०००० गिरजाघर तोड़े गए, नष्ट किये गए या लूट लिये गए और १६००० पादरियों, ईसाई भिक्षु और भिक्षुणियों को मौत के घाट उतार दिया गया। इस तरह ३००००० प्राणी हताहत हुए। अन्त में राज्य और चर्च के बीच इस नर-संहार के बाद शान्ति स्थापित हो गई। उस समय जो समझौता हुआ उसमें निम्न चार धाराओं को मान्यता दी गई—

१. कैथोलिक धर्म स्पेन के राष्ट्र का एकमात्र धर्म होगा।

२. स्कूलों में जो शिक्षण होगा वह कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों अनुसार होगा।

३. समस्त अधिकारियों के लिए यह उचित होगा कि वे बिशप महोदयों और पादरियों को बाइबिल के सिद्धान्तों के अनुसार मान्यता दें और जहाँ कहीं इन बिशप महोदयों को किसी सुरक्षा-विशेष की आवश्यकता होगी, सरकार उनके लिए सुरक्षा प्रदान करेगी। ईसाइयों के विरुद्ध किन्हीं ऐसी पुस्तकों का, जो इनके हित के लिए हानिकारक हों, प्रकाशन रोकने में सरकार उनकी सहायता करेगी।

४. ईसाई धर्म के प्रचार तथा उसकी सुरक्षा और संचालन में बिशप महोदयों और पादरियों को पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी।

कैथोलिक मिशनरी प्रायः पुर्तगाल को सबसे उत्तम कैथोलिक राज्य कहते हैं। पुर्तगाल में शिक्षा के क्षेत्र में चर्च को जो अधिकार प्राप्त हैं वे निम्न प्रकार हैं—

"राज्य के स्कूलों में होनेवाली शिक्षा देश की परम्परा तथा कैथोलिक धर्म के

अनुसार दी जायेगी।"

"जो पाठ्य पुस्तकें कैथोलिक धर्म की शिक्षा के लिए स्वीकृत होंगी वे चर्च के अधिकारियों द्वारा ही चुनी जायेंगी। कोई भी व्यक्ति बिना अधिकारियों की स्वीकृति के धार्मिक शिक्षा किसी और रूप में देने का अधिकारी नहीं होगा।"

पुर्तगाली सरकार अपने उपनिवेशों के सम्बन्ध में जो नीति का अनुसरण करती है उसके अनुसार वहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता नाम तक को भी नहीं है।

पुर्तगाली कैथोलिक चर्च ने अफ्रीका और एशिया के लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा देने का ठेका ले रखा है। वहाँ गैर-कैथोलिक मिशनों पर कई रोकें लगा रखी गई हैं, जो धार्मिक स्वतन्त्रता के संग्राम में अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की अवहेलना करती हैं।

स्वीडन में जो विधान चालू है, उसकी धारा २ में लिखा है कि शासक को सदा शुद्ध-पवित्र ईसाई धर्म का अनुयायी ही रहना पड़ेगा। इसी प्रकार शासक के मन्त्री भी इसी धर्म के अनुयायी होंगे। राज्य के मन्त्रियों को छोड़ अन्य पदों पर अन्य मतावलम्बी नियुक्त किये जा सकते हैं, परन्तु कोई भी आदमी जो शुद्ध-पवित्र ईसाई धर्म का नहीं माननेवाला होगा, वह न्यायाधीश अथवा ऐसे दूसरे पद पर नहीं नियुक्त किया जायगा।

उन विद्यार्थियों के लिए जिनके माता-पिता राज्य के अनुयायी हैं, राज्य के प्रारंभिक स्कूलों और दूसरे विद्यालयों अथवा अध्यापकों के ट्रेनिंग स्कूलों में धार्मिक शिक्षण आवश्यकीय है। केवल जो लोग राज्य के चर्च के अनुयायी नहीं हैं, उनको अपने बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल खोलने का अधिकार नहीं है। १९वीं शताब्दी के अन्त तक स्वीडन पूर्णतया एक लूथरन राज्य था और वहाँ पर अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं था।

शासन-सम्बन्धी और न्याय-सम्बन्धी जितने भी पद थे, उनके लिए लूथरन धर्म के अनुयायी होने की आवश्यकता थी। समस्त डॉक्टरी पेशे के शिक्षक के लिए लूथरन होना आवश्यक था। यदि लूथरन को अपना धर्म बदलने पर बाध्य किया जाता था तो इसको अपराध ठहराया जाता था और यदि कोई सरकारी धर्म का परित्याग कर देता था तो उसको जीवन-पर्यन्त देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाता था।

यदि नार्वे के विधान का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि इस विधान के अनुसार ईसाई लूथरन धर्म राज्य में जनता का धर्म है और लोगों को अपने बाल-बच्चों को इसी धर्म में शिक्षित करना होगा। परन्तु जैसुइट लोगों को मान्यता नहीं दी जायगी। सरकार राज्य के धर्म के प्रचार के लिए सक्रिय चेष्टा करेगी। शासक सदा ईसाई लूथरन धर्म का अनुयायी रहेगा और इसकी रक्षा करेगा। शासक के आधे से अधिक जो मन्त्री होंगे वे राज्य के चर्च को माननेवाले होंगे। शासक और मन्त्री चर्च की पूजा अथवा रीतिरिवाज इत्यादि के बारे में निर्देश देते रहेंगे और उन्हीं को पादरियों की नियुक्ति तथा अनुशासन की देख-रेख का अधिकार होगा।

नार्वे राज्य की शिक्षा-सम्बन्धी नीति के अनुसार बच्चों को ईसाई धर्म की शिक्षा अवश्य लेनी पड़ेगी। इसलिए राज्य के प्रारंभिक स्कूलों अथवा माध्यमिक तथा नार्मल स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए धार्मिक शिक्षा आवश्यक है।

केवल जिन लोगों ने राज्य के चर्च को छोड़ दिया है, उन्हीं के बच्चों को छूट मिल सकती है। शिक्षकों को धार्मिक शिक्षा दी जाती है और उनकी नियुक्ति विशप की

स्वीकृति से होती है। गैर-ईसाई विद्यालयों को किसी प्रकार की सरकारी सहायता नहीं दी जाती।

डेनमार्क में धार्मिक स्वतन्त्रता किस प्रकार विद्यमान है, यदि हम इसका अध्ययन करें तो पता चलेगा कि लूथरन चर्च ही राज्य का चर्च है और शासक को इस चर्च का अनुयायी होना आवश्यक है। राज्य ही चर्च का संचालन करता है और उसको सहायता इत्यादि देता है। ईसाई लूथरन चर्च डेनमार्क देश का राष्ट्रीय और सरकारी चर्च है और इसी हेतु उसे राज्य द्वारा सहायता प्राप्त है। जो विद्यालय सरकार द्वारा संचालित है, वहाँ समस्त बच्चों को बाइबिल का पाठ पढ़ाया जाता है। छोटी श्रेणियों में प्रार्थना इत्यादि कण्ठस्थ करायी जाती है और ऊपर की श्रेणियों में चर्च का इतिहास पढ़ाया जाता है।

रूस में १९३७ से लेकर १९३९ तक जो समय है, उसमें चर्च के नेताओं और चर्च पर अनेक प्रकार के कष्ट ढाये गये। अकेले १९३८ में ही बहुत-से बिशपों को गोली से उड़ा दिया गया और कोई ५० से ऊपर बिशपों को कारागार में डाल दिया गया अथवा उन्हें कैम्प-जेलों में भेज दिया गया। चर्च के मकानों पर बहुत ऊँचे दर के कर लगा दिये गये जिसके फलस्वरूप १९३७ में ११०० चर्च और सैकड़ों पूजा-पाठ के स्थान बन्द कर देने पड़े। रूस के १९४० के आँकड़ों से प्रकट है कि उस समय ४२२५ चर्च सूची पर थे और उनमें ५६६५ पादरी थे, जबकि १९१७ की क्रान्ति के पहले वहाँ ४६४५७ गिरजे और उनमें ५०९६० पादरी विद्यमान थे। १९४० में २८ बिशप और ३७ चर्च थे जबकि क्रान्ति के पहले १३० बिशप और १०२६ चर्च थे। परन्तु १९४४ से परिस्थिति बदल गयी। रूसी चर्चों का सरकार की ओर से पुनरुत्थान किया गया।

जिन देशों में रूढ़िवादी अथवा कट्टर चर्च हैं उनमें ग्रीस का स्थान दूसरे नम्बर पर है। ग्रीस के विधान की धारा १ में निम्न प्रकार लिखा है—

"ग्रीस में जो सर्वोपरि धर्म है वह ईसा का पूर्वीय परम्परावादी चर्च है। यहाँ दूसरे मत-मतान्तरों को नियम के अनुसार संरक्षण प्राप्त है, यदि वे उच्च नैतिक आचार और जनता के अनुशासन के सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। किसी प्रकार का धर्म-परिवर्तन नितान्त वर्जित है।"

धर्म-परिवर्तन शब्द की जो सरकारी व्याख्या की गयी है, वह निम्न प्रकार है। उससे न केवल इसके दुरुपयोग की कोई संभावना है वरन् इससे प्रलोभन इत्यादि के द्वारा किये गए धर्म-परिवर्तन की भी पूर्ण रोकथाम हो जाती है—

"यदि कोई दबाव डालकर या डर दिखाकर अथवा किसी कानूनी तरीके से अथवा किसी आर्थिक सहायता का आश्वासन देकर अथवा अन्य किसी प्रकार की सहायता से अथवा धोखे से या किसी प्रकार का नैतिक और भौतिक सहायता का वचन देकर अथवा दूसरे व्यक्ति की अनुभवहीनता से अनुचित लाभ उठाकर अथवा उसके विश्वास या आवश्यकता का अनुचित लाभ उठाकर अथवा किसी की आध्यात्मिक और मानसिक दुर्बलता और विवेक-हीनता का लाभ उठाकर तथा आमतौर पर कोई भी चेष्टा अथवा प्रयत्न, चाहे वह सफल हुआ हो या असफल, प्रत्यक्ष हो वा परोक्ष, उसके द्वारा किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा के धार्मिक विश्वास में, चाहे वह व्यक्ति प्रौढ़ हो अथवा कम आयु का, प्रवेश करने का प्रयास करेगा तथा उसे जान-बूझकर दूसरे धर्म में प्रवृत्त करेगा तथा उसके

आन्तरिक धार्मिक विश्वास को बदलने की चेष्टा करेगा, तो इस प्रकार की चेष्टा को धर्म-परिवर्तन में गिना जायगा।"

ग्रेट ब्रिटेन में 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' को राष्ट्रीय धर्म की पदवी मिली हुई है और उसके इस ऐतिहासिक महत्त्व पर ही ग्रेट ब्रिटेन में धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रश्न केन्द्रित है। सम्राट् और उसका लॉर्ड चान्सलर इन दोनों को 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' का सदस्य होना अनिवार्य है। हाउस ऑफ लॉर्ड्स में २४ पादरी और दो आर्च बिशप (बड़े पादरी) सदस्य के रूप में हैं। चर्च अपनी सम्पत्ति तथा देवस्य का स्वामी है।

चर्च ऑफ इंग्लैंड के प्रबन्ध तथा नियन्त्रण में ही प्रारंभिक विद्यालयों अथवा माध्यमिक विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा दी जाती है।

जर्मनी में धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का एक प्रकार से उन्मूलन ही हो चुका था। यहाँ सरकार धार्मिक बातों में केवल हस्तक्षेप ही नहीं करती थी, वरन् धार्मिक स्वतन्त्रता की अवहेलना भी करती थी।

वहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता का भंग हो रहा था और उसके अनुसार पादरियों के कार्यों में अन्धाधुन्ध हस्तक्षेप होता था। अक्टूबर १९३४ तक १००० से अधिक पादरी पकड़े जा चुके थे अथवा पुलिस के हाथों तंग किये जा चुके थे। केवल एक दिन अर्थात् मार्च ११, १९३५ को ७०० पादरियों को बन्दी बना लिया गया और ५००० लोगों को पुलिस द्वारा पूछताछ के कष्ट सहने पड़े। जर्मनी में यहूदियों पर जो नाना प्रकार के अत्याचार हुए, वह सर्वप्रसिद्ध है। मार्च १९३८ में जितने भी यहूदियों के धार्मिक संप्रदाय थे, उन सबको नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, और यहूदी अफ-सरों को सिविल सर्विस के पदों पर रखने के अयोग्य घोषित कर दिया गया। उसी वर्ष में ७ नवम्बर को एक युवक यहूदी ने पेरिस में जर्मन दूतावास के मन्त्री पर गोली दाग दी। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप १२ घंटे के भीतर यहूदियों के ४०० से ऊपर प्रार्थना-भवनों तथा संघ-स्थानों को गोला-बारूद से उड़ा दिया गया। यहूदी दूकानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया तथा लूट लिया गया और ६०००० से अधिक यहूदियों को कैम्प-जेलों में ठूंस दिया गया। यहूदी समाज पर भयानक कर लगा दिये गये। जर्मनी स्कूलों में जो यहूदी बच्चे पढ़ते थे, उनको स्कूलों से अलग कर दिया गया।

क्या अमरीकी संयुक्त राज्य कानून की दृष्टि में एक ईसाई राज्य है? इसके बारे में बहुत-से न्यायालयों ने इस प्रश्न का हाँ में उत्तर दिया है। इस तथ्य का उक्त देश के न्याय-विधान पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। डॉक्टर जोलमैन ने अपनी पुस्तक 'अमेरकन चर्च लॉ' में निम्न प्रकार की टिप्पणी की है—

"यह एक तथ्य है कि अमेरिका के संयुक्त राज्य में प्रचलित धर्म ईसाई धर्म है और उसका वहाँ प्रभाव है, क्योंकि बहुत अधिक संख्या में अमरीकन लोग ईसाई धर्म के अनुयायी हैं। इसलिए हमारे कानून और संस्थाओं का आधार मानव-समाज के उद्धारक ईसा की शिक्षाओं पर अवलम्बित होना चाहिए। ईसाई धर्म हमारे नैतिक सिद्धान्तों का आधार है और यही वह शक्ति है जो हमारी न्याय-प्रणाली को चलाती है। हमारी समस्त राजकीय शासन-प्रणाली तथा राष्ट्रीयता की तह में ईसाई धर्म स्थित है। वह इसके विधान अथवा कानूनों में निहित है और वह सब पर लागू हो सकता है, क्योंकि इसमें धर्म के वे आवश्यक सिद्धान्त निहित हैं जिसके अन्तर्गत सब ईमान रखनेवाले प्रवेश पा

सकते हैं।…इससे यह परिणाम निकलता है कि कुछ ऐसे कृत्य जो दूसरे देशों में प्रशंसा के योग्य हो सकते हैं, अमरीकनों की परम्पराओं के विरुद्ध होने से अमरीका में बुरे समझे जायेंगे अथवा अपराध के रूप में लिये जायेंगे। इसलिए नहीं कि इससे ईसाई धर्म को किसी प्रकार की सहायता मिलती है, किन्तु इसलिए कि इस प्रकार की त्रुटियों का होना राज्य के विरुद्ध कानूनी अपराधों में समझा जायेगा।

ईसाई धर्म के दश निर्देशों (Ten Commandments) में से कम-से-कम आधे किसी-न-किसी रूप में अमरीका के विधान में स्थान पाये हुए हैं। इन तथ्यों के होते हुए यह धारणा आम प्रचलित है कि ईसाई धर्म देश के कानून का एक अंग है।"

जापान में सिण्टो धर्म राज्य का धर्म है। एक जापानी लेखक के शब्दों में—

"यह धर्म जान-बूझकर राज्य ने नहीं अपनाया जैसेकि पश्चिम के देशों के सरकारी धर्म अपनाये जाते हैं। परन्तु उक्त धर्म प्रत्येक जापानी स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध, बड़ा, छोटा, शिक्षित और अशिक्षित इन सबके जीवन और हृदय का धर्म है। इसी कारण एक जापानी सदा सिण्टो धर्म को माननेवाला बना रहता है। यह धर्म उसका सामूहिक धर्म है और इसको वह अपना राष्ट्रीय धर्म समझता है। उसका यह धर्म उसके अपने व्यक्तिगत अथवा निजी धर्म से बिलकुल अलग होगा, चाहे वह बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को अपनावे और चाहे कन्फ्यूसियस धर्म को। प्रायः ईसाई धर्म भी जापान में इसी प्रकार प्रचलित है और वह भी एक व्यक्तिगत अथवा निजी धर्म के रूप में है। वास्तव में इसका यह अर्थ है कि यदि कोई जापानी सिण्टो धर्म का परित्याग कर दे, तब उसका यह अर्थ निकलेगा कि उसने जापानी साम्राज्य तथा जापान के सम्राट् से विद्रोह किया।… जापान में सम्राट् को साक्षात् भगवान् के रूप में माना जाता है और जापानी धर्म में उसको वही स्थान प्राप्त है जो जेहोवा का यहूदी धर्म में।"

अब हम चीन की ओर आते हैं। चीन को कुछ-एक व्यक्ति एक धर्म-निरपेक्ष राज्य कहते हैं और दूसरे लोग इस देश को नाना प्रकार के धर्मों को माननेवाला देश कहते हैं। इसके विधान की धारा १५ में कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक धर्म के मामले में स्वतन्त्र है और ऐसी स्वतन्त्रता पर कानून के अनुसार कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

अभी तक ऊपर हमने ऐसी धार्मिक स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है जो ईसाई और बौद्ध देशों में उनके विधान के अनुसार प्रचलित हैं। अब हम थोड़ी-सी दृष्टि उस धार्मिक स्वतन्त्रता की ओर ले जाते हैं जो इस्लामी देशों में पाई जाती है।

"मुसलमानों के समस्त जीवन पर इस्लाम का अंकुश है। इस्लामी धारणा के अनुसार मजहब, राज्य और जनता सब एक रूप है।"

सर्ल बेट्स नामक लेखक ने लिखा है कि कट्टर इस्लाम धार्मिक स्वतन्त्रता के उलटा है और पश्चिमी देशों में जो विचारधारा इस सम्बन्ध में प्रचलित है उसके लिए इस्लाम धर्म में कोई स्थान नहीं है। सिद्धान्तरूप से इस्लाम में धर्म-परिवर्तन एक काफिर का कार्य है और ऐसा करने पर उसमें घोर दण्ड का विधान है। यदि वहाँ धर्म-परिवर्तन की आज्ञा दी गयी है तो इसलिए कि दूसरे मतावलम्बी इस्लाम में दीक्षित हो सकें। एक दूसरे अंग्रेज लेखक, एस० ए० मोरीसन ने अपनी पुस्तक 'रिलीजस लिबर्टी इन दी नीयर ईस्ट' में इस प्रकार लिखा है—

"मुस्लिम देशों में धार्मिक स्वतन्त्रता का आमतौर पर यह अर्थ लिया जाता है कि पूजा-पाठ करने में स्वतन्त्रता हो अर्थात् हर एक संप्रदाय को अधिकार हो कि वह अपने ढंग से धार्मिक पूजा-पाठ कर सके और उसमें सरकार की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। परन्तु वहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि दूसरों को अपने धर्म में दीक्षित करने का अधिकार हो। ऐसे अर्थ में धार्मिक स्वतन्त्रता वहाँ कभी नहीं ली गई।" आगे चलकर वह लिखता है—

"मुसलमान अधिकारियों और जनता को इससे अधिक रोष और किसी अन्य बात पर नहीं आता जितना कि ईसाइयों के द्वारा मुसलमानों के धर्म-परिवर्तन पर। दूसरी ओर मुस्लिम और इस्लाम से सहानुभूति रखनेवाले प्रचारकों को प्रत्येक प्रकार की सुविधा प्रदान की जाती है। इस प्रकार यहूदी धर्म और ईसाई धर्म से इस्लाम धर्म में दीक्षित करने का कार्य सरल हो जाता है। इस्लाम मत ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्तियों को और भी कई प्रकार के आर्थिक अथवा अन्य प्रलोभन दिये जाते हैं। अल्पसंख्यक जातियों से होनेवाले नव-मुस्लिम लोगों को सरकारी नौकरी और प्राइवेट फर्मों में विशेष रियायतें दी जाती हैं।"

उक्त समस्या का स्पष्टीकरण करते हुए लेखक ने लिखा है कि ईरान देश में धर्म-प्रचार प्रायः वर्जित है और विशेषकर नाबालिग बच्चों के धर्म-परिवर्तन पर तो कड़ी रोक है। देश के कानून ने वैसे तो धार्मिक पूजा-पाठ के लिए स्वतन्त्रता दे रखी है, परन्तु ईसाई लोग केवल गिरजाघरों में ही सभा, उत्सव आदि मना सकते हैं। वे अपने-अपने घरों में व्यक्तिगत रूप से भी कोई धार्मिक सभा, सत्संग नहीं कर सकते।

मिस्र (ईजिप्ट) देश के विधान में इस्लाम धर्म को सरकारी धर्म घोषित किया गया है। यदि कोई गिरजाघर बनाना चाहे तो उसके लिए सरकारी आज्ञा लेनी पड़ती है।

टर्की देश के विधान में धार्मिक पूजा-पाठ इत्यादि की स्वतन्त्रता है और किसी व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत धार्मिक आचार-विचार अथवा रीति-रिवाज के कारण तंग नहीं किया जाता अथवा सताया नहीं जा सकता। टर्की के नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में यह घोषणा की गई है कि अठारह वर्ष अथवा इससे अधिक आयु वाले लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वे जिस धर्म को चाहें, उसे ग्रहण कर लें। ऐसा होते हुए भी वहाँ आम तौर पर धर्म-परिवर्तन को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। यही कारण है कि वहाँ छोटे बच्चों का धर्म-परिवर्तन करना प्रायः असम्भव बन गया है।

यदि हम अपने समीपवर्ती देशों की ओर आते हैं तो पता चलता है कि अफगानिस्तान और मध्य अरब में जो व्यक्ति इस्लाम धर्म से पतित हो जाता है, उसको मृत्यु-दण्ड दिया जाता है।

शिक्षा-क्षेत्र में धार्मिक स्वतन्त्रता के बारे में एस० ए० मोरीसन ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ९ पर लिखा है कि ईसाई मिशनरियों के शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप और प्रचार-कार्य से मुसलमान लोग बहुत नाराज होते हैं, क्योंकि इस्लामी राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझते हैं कि वे मुसलमान बच्चों को अन्य धर्म के शिक्षण के प्रभाव से रक्षा करें। इस प्रकार उनके माता-पिता को उनके अधिकार से वंचित रक्खा जाता है, और वे अपने बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षण के बारे में निर्णय देने में अशक्त बना दिये गये हैं। समीप-

वर्ती कई राज्यों ने उक्त सीमा को लाँघकर यह इच्छा प्रकट की है कि समस्त विद्यालयों में मुसलमान विद्यार्थियों के लिए इस्लामी शिक्षा-प्रबन्ध होना नितान्त आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप मिस्र देश में यदि किसी नाबालिग को, जिसकी तर्क-बुद्धि अभी परिपक्व नहीं हुई है, उसके माता-पिता के धर्म के विरुद्ध किसी अन्य धर्म की शिक्षा दी जाये तो इस कार्य को न केवल नैतिक और नागरिक अनुशासन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल, वरन् एक अपराध समझा जायेगा। कोई भी राज्य जो अपनी प्रजा के धार्मिक विश्वास अथवा विचारों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है, उक्त धर्म-परिवर्तन के प्रचार-कार्य को उचित न समझेगा। जहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता की छूट है वहाँ भी उपर्युक्त कार्य-वाहियों को अच्छा नहीं समझा जाता। जहाँ शिक्षणालयों में छोटे-छोटे बच्चों को उनके निजी धर्म के विरुद्ध अन्य धर्मों की शिक्षा देकर उनके कोमल हृदयों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने की चेष्टा की जाती है, वहाँ स्वतन्त्रता का ह्रास ही समझना चाहिए।

एस० ए० मोरीसन ने अपनी पुस्तक में यह भी लिखा है कि ईसाई मिशनवालों के ऐसे सामाजिक तथा चिकित्सा और शिक्षण-सम्बन्धी समस्त कार्यों की प्रायः प्रशंसा की जाती है जिसमें किसी प्रकार के धर्म अथवा राजनीति की कोई गन्ध न हो। यदि इस बात का तनिक भी सन्देह हो जाता है कि विदेशी मिशन किसी विदेशी राजनैतिक शक्ति के एजेण्ट हैं अथवा विदेशी सभ्यता के प्रसार में लगे हुए हैं अथवा सक्रिय रूप से ईसाई हैं, तब उनकी स्वतन्त्रता पर रोक लगाने के लिए कदम उठाये जाते हैं। विदेश से आने वाली आर्थिक सहायता तथा विदेशों से आनेवाले प्रचारकों पर वीसा (प्रवास-पत्र) के द्वारा नियन्त्रण लगा दिया जाता है।

उसी पुस्तक के ६वें पृष्ठ पर एस० ए० मोरीसन ने लिखा है कि "एक मुसलमान की दृष्टि में यदि कोई इस्लाम को छोड़ देता है तो वह अपने धर्म तथा समाज के लिए विश्वासघाती समझा जाता है। मध्य-पूर्व के प्रदेशों में आज जो नवीन राष्ट्रीयता की भावना जागृत हो पाई है, उसका कारण यह है कि प्रगतिशील पश्चिम के देशों में धर्म-निरपेक्षता की जो भावनाएँ हैं वह वहाँ फैल गई हैं। राष्ट्रीयता की भावना भी इसी बात पर जोर देती है कि राष्ट्र की एकता एक साँझी संस्कृति पर ही निर्भर रह सकती है। ऐसी एकता का आधार एक जाति के रूप में हो सकता है जैसाकि टर्की में है, अथवा एक धर्म के रूप में हो सकता है जैसेकि बहुत-से दूसरे इस्लामी प्रदेशों में है। यही कारण है कि मुसलमानी देशों की राष्ट्रीयता के ढाँचे में ईसाई और यहूदी लोगों की अलग संस्कृति दुर्बलता का अंग गिनी गई है।"

"आजकल समीपवर्ती पूर्वी देशों में लोगों के हृदय में विदेशी साम्राज्य के बारे में भयंकर सन्देह विद्यमान है और उनका प्रायः यह विश्वास है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से मिशनवाले विदेशी सरकारों के एजेण्ट होते हैं। समीपवर्ती पूर्वी देशों की सरकारें विदेशी शिक्षणालयों के सम्बन्ध में विशेष करके बहुत सशंकित हैं और उनको सन्देह है कि उक्त संस्थाओं के द्वारा ईसाइयत अथवा राजनीति का प्रचार किया जाता है।"

भिन्न-भिन्न देशों में धार्मिक स्वतन्त्रता, उनके अपने विधान के अनुसार किस प्रकार मानी जाती है, इसका ऊपर संक्षेप में उल्लेख किया गया है। आगामी पृष्ठों में इस बात पर विचार किया जायगा कि स्वतन्त्र भारत के विधान के अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता की क्या स्थिति है, और उसे क्या स्थान प्राप्त है।

भारतीय विधान के अन्तर्गत धार्मिक स्वतन्त्रता—मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जो धाराएँ विधान में रखी गई हैं, यदि हम उनके बारे में सोचें, तो हमें विधान में दिये हुए प्राक्कथन को विस्मरण नहीं कर देना चाहिए। साधारण कानूनों में जो प्राक्कथन होते हैं उनसे भिन्न हमारे विधान का प्राक्कथन है। इस प्राक्कथन में हमारे विधान का पूर्ण उद्देश्य घोषित किया गया है। वास्तव में यह प्राक्कथन एक बीज के रूप में है जो उगकर एक शक्तिशाली वृक्ष के रूप में फैल गया है और इसमें से जो फल-फूल निकले हैं, वे विधान में दी गई धाराओं अथवा अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। उक्त प्राक्कथन में लिखा है कि—

"हम भारत के वासी अपने-आपके लिए यह विधान तैयार करते हैं और इसके द्वारा समस्त नागरिकों को न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की सुरक्षा होगी।"

इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि यह विधान प्रायः इसके नागरिकों के लिए बनाया गया है, तथापि इसमें इस देश में रहनेवाले विदेशियों के लिए भी सुविधा है। परन्तु इस देश के नागरिकों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे विदेशियों के लिए जो अधिकार दिये गये हैं, उनसे अलग रखने होंगे, क्योंकि एक विदेशी के और एक भारतीय नागरिक के जो कर्त्तव्य राष्ट्र के प्रति हैं, वे एक-समान नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-सी धाराएँ भारतीय नागरिकों एवं विदेशियों के लिए एक-जैसी हैं। उदाहरणार्थ विधान की १४वीं धारा में घोषित है कि राज्य के कानून के सामने समस्त व्यक्तियों के साथ समानता का व्यवहार रहेगा और इस देश की सीमा में रहनेवाले सब लोगों को कानून के अनुसार समान सुरक्षा प्राप्त होगी। इसी प्रकार विधान की २०, २१, २२ और ३१ धाराओं में समस्त नागरिकों के, तथा जो नागरिक नहीं हैं उनके धन-सम्पत्ति और जान की रक्षा का विश्वास दिलाया गया है। इसी प्रकार २५वीं धारा में समस्त देशवासियों की अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता घोषित की गई है। परन्तु इसके साथ-साथ विधान में कुछ एक अन्य धाराएँ भी हैं, इसलिए धारा १९ (१) में जो व्यक्ति-स्वतन्त्रता के कुछ अधिकार दिये गये हैं, वे केवल भारतीय नागरिकों के लिए ही हैं। यह धारा नीचे उद्धृत की जाती है—

१. समस्त नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं—

(क) भाषण और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता

(ख) बिना शस्त्र के शान्तिपूर्वक एकत्रित होने की स्वतन्त्रता

(ग) सभा-समितियाँ बनाने की स्वतन्त्रता

(घ) बिना किसी रोक-टोक के भारत की समस्त सीमा के भीतर आने-जाने की स्वतन्त्रता

(च) भारत के किसी भी भाग में बसने की स्वतन्त्रता

(छ) सम्पत्ति के क्रय-विक्रय अथवा उपभोग की स्वतन्त्रता

(ज) किसी वाणिज्य, व्यवसाय अथवा काम-धन्धा करने की स्वतन्त्रता

ऊपर लिखी हुई जो सात प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है, उस पर पाँच प्रकार की रोकें भी लगा दी गई हैं। ये रोकें प्रदेशीय विधान सभा द्वारा राज्य की सुरक्षा के हित में, नागरिक अनुशासन और नैतिकता के हित में तथा परिगणित जातियों की रक्षा के लिए लगायी जा सकती हैं।

विधान में नागरिकों और अनागरिकों के बीच में जो भेद रखा गया है और जिसकी व्याख्या की गयी है, उसका विदेशियों के अधिकार और कर्तव्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है और हमारी जाँच के लिए यह बात विशेष महत्त्व की है।

इस अध्याय में हमने भारत में धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में वैधानिक धाराओं का उल्लेख लिखा है। परन्तु इसके पूर्व-अध्याय में हम उल्लेख कर चुके हैं कि अन्य देशों में धार्मिक स्वतन्त्रता का क्या स्वरूप है। इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में विश्व के देश दो बड़ी श्रेणियों में बँटे हुए हैं—

१. धर्म-सापेक्ष राष्ट्र अर्थात् ऐसे राष्ट्र जहाँ राज्य द्वारा अनुमोदित धर्म प्रचलित है।

२. धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र अर्थात् ऐसे राष्ट्र जिनमें सरकार का अपना कोई धर्म नहीं है।

यह स्वाभाविक है कि जिन राष्ट्रों में सरकारी धर्म चालू है, वहाँ प्रकट अथवा अप्रकट रूप से सरकार द्वारा अनुमोदित धर्म को विशेषता दी जाती है। ऐसे राष्ट्र ऊपर लिखी हुई पहली श्रेणी में आते हैं। सरकार द्वारा अनुमोदित धर्म के अनुयायियों को जो अधिकार और सुविधाएँ मिलती हैं, उनसे दूसरे मतावलम्बी वंचित रहते हैं। इसलिए ऐसे राज्यों में समस्त धर्मों की समानता का नियम पूरी तरह से लागू नहीं होता। बहुत-से इस्लामी और ईसाई राज्य उक्त श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

धर्म-निरपेक्ष राज्य दो उपश्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—

(क) वे राष्ट्र जहाँ धर्म के नाम से ही चिढ़ है और धर्म को जहाँ भयानक बात समझकर परित्याग कर दिया गया है।

(ख) वे राष्ट्र जहाँ धर्म का आदर किया जाता है।

पहले प्रकार के राष्ट्रों में धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थल नहीं है। यह बात इसलिए नहीं कि राष्ट्र का अपना कोई विशेष धर्म नहीं है, वरन् इसलिए कि वहाँ धर्ममात्र को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए वहाँ किसी भी धर्म के लिए किसी भी प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। कम्यूनिस्ट देश इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

दूसरी उपश्रेणी के राष्ट्रों में सब धर्मों को एक-जैसा सम्मान प्राप्त है और किसी एक धर्म को दूसरे पर विशेषता नहीं दी जाती। सब धर्मों के अनुयायियों को स्वतन्त्रता है कि वे अपनी मर्जी के धर्म को मान सकते हैं, परन्तु इस शर्त पर कि वह धर्म नागरिक अनुशासन के प्रतिकूल न हो। यह शर्त बिना किसी भेदभाव के सब धर्मों के अनुयायियों पर समान रूप से लागू होती है।

भारत उपर्युक्त दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में कई प्रकार के धर्म प्रचलित हैं, परन्तु भारत सदा विभिन्नता में एकता की खोज में रहा है। जब भारतीय विधान तैयार हो रहा था, तब उस समय श्री के० सन्थानम्, जो वर्तमान विन्ध्य प्रदेश के उपराज्यपाल रह चुके हैं, विधान का मसौदा बनानेवाली समिति के सदस्य थे। विधान की धारा २५वीं की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था: "महोदय, विधान में जो प्रचार शब्द का प्रयोग हुआ है उसपर कुछ वाद-विवाद हो चुका है। अन्ततः प्रचार को एक प्रकार की विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता ही कहना पड़ेगा। मैं यह उल्लेख कर देना चाहता हूँ कि कन्वर्ट (धर्म-परिवर्तन) नाम का शब्द कहीं नहीं है। इस देश में सामूहिक धर्म-परिवर्तन का कार्य ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों का एक अंग रहा है और जनता ने इसका कड़ा विरोध किया है। जिन्होंने इस विधान का

मसौदा तैयार किया था, उन्होंने इस बात की सावधानी रखी थी कि धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई असीम अधिकार नहीं दिया जाये। लोगों को अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता है। यदि कोई व्यक्ति अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के कारण अपनी मर्जी से धर्म-परिवर्तन कर ले तो ठीक है। ऐसे धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध कोई रोक अथवा शर्त नहीं लगाई जा सकती। परन्तु यदि धार्मिक सम्प्रदाय या संस्था दूसरों के सामूहिक धर्म-परिवर्तन की चेष्टा करे और विशेषकर जब यह धर्म-परिवर्तन रुपये-पैसे के लोभ से अथवा दूसरे तरीकों से किया जावे, तब राज्य का अधिकार हो जाता है कि वह ऐसी गतिविधि पर नियन्त्रण रखे।" विधान की इसी धारा की व्याख्या एक अन्य मामले में बम्बई हाई कोर्ट के समक्ष हो चुकी है और यहाँ उक्त निर्णय का उल्लेख अप्रासांगिक नहीं होगा। उक्त मामले में चीफ जस्टिस चागला ने कहा था—

"आप यह कह सकते हैं कि विधान की २५वीं और २६वीं धाराएँ धार्मिक स्वतन्त्रता की चर्चा करती हैं, परन्तु मैं अभी आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करूँगा कि हमारे विधान में जो धार्मिक स्वतन्त्रता निर्धारित की गयी है वह बिना रोक की स्वतन्त्रता नहीं है। विधान ने जो धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की है वह उस धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए होगी जिसको एक धर्म-निरपेक्ष राज्य के प्रसंग में उचित समझा जाएगा। धर्म के हर पहलू की सुरक्षा की गयी हो ऐसी विधान में कोई बात नहीं है और न ही विधान में इस बात की स्वीकृति है कि हर एक प्रकार की धार्मिक गतिविधि में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।"

मध्य प्रदेश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ईसाई मिशनरियों की हरकतें—यद्यपि भारत में विदेशी ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों के बारे में हमारे अनुभव और संस्मरण कटु हैं; यद्यपि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए जो स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी गयी उसमें एक्का-दुक्का छोड़कर ईसाइयों ने नहीं के बराबर भाग लिया था; यद्यपि धर्म के आधार पर हमारे देश का बँटवारा हुआ जिसका कटु स्मरण हम कभी भुला नहीं सकते; तथापि हमारे प्रधानमन्त्री के मुख से जो शब्द निकलते थे, वे हमारे देश की गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक थे। हमारे प्रधानमन्त्री ने उस समय कहा था—

"जब तक भारत के शासन की बागडोर मेरे हाथ में है, भारत एक हिन्दू राज्य नहीं बन सकता।" अतएव इसके फलस्वरूप एक वास्तविक धर्म-निरपेक्ष गणतन्त्र राज्य की स्थापना हुई। ३५ करोड़ की आबादी वाले देश में जहाँ बहुसंख्यकों का धर्म हिन्दू-धर्म है, वहाँ लगभग एक करोड़ की अल्प-संख्यक जातिवालों को प्रतिष्ठा और सम्मान के स्थान का आश्वासन दिया।

अतएव भारत के बहुसंख्यक जाति के लोग यदि यह आशा करें कि अल्पसंख्यक लोग भारतीय विधान बनानेवालों की इस उदारता का सम्मान तथा अभिनन्दन करेंगे, जिसमें कि भारत एक प्रगतिशील और शक्तिशाली राष्ट्र बन सके तो यह कोई अनुचित बात नहीं है। परन्तु अल्पसंख्यकों का विगत काल में व्यवहार कोई सहयोगपूर्ण नहीं रहा है। वे पीछे के दरवाजे से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा करते रहे हैं। परन्तु देश आशा रखता था कि स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् उनका बहुसंख्यकों के साथ सहयोग होगा और वे उन पर विश्वास रखेंगे। परन्तु खेद की बात है हमारे विधान को घोषित हुए अभी कुछ थोड़ा ही समय बीता था कि भारत के भिन्न-

भिन्न भागों से विदेशी मिशनरियों की अनुचित कार्यवाहियों के बारे में तरह-तरह की सूचनाएँ आने लगीं।

हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि हमारे विधान के पास होने के बाद मिशनरियों की गतिविधियाँ तुरन्त बढ़ गयी थीं। हम यहाँ उन प्रमाणों तथा साक्षियों की चर्चा करेंगे जो हमारे समक्ष रखी गयी हैं और जिनसे पता चलता है कि मिशनवालों को विदेशी सहायता कितनी और कहाँ तक प्राप्ति होती रही है।

विदेशों से प्राप्त धन—जनवरी १९५० से लेकर जून १९५४ तक २९·२७ करोड़ रुपये की विशाल राशि भारत में आ चुकी थी। इसका विवरण निम्न प्रकार है—

संयुक्त राज्य अमेरिका	...		२०६८६३०००
कनाडा	...		१६७५६०००
बेलजियम	...		६४७०००
डेनमार्क	...		३३९१०००
फ्रान्स	...		७६१०००
जर्मनी	...		१११६०००
नार्वे	...		२७९७०००
स्वेडेन	...		६४४१०००
स्विट्जरलैण्ड	...		१५७७०००
गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र से प्राप्त धन-राशि	...		१४७२०००
योग			२४,१८,२१,०००
युनाइटेड किंगडम के स्टर्लिंग क्षेत्र से	...	४८३८९०००	५०९१८०००
अन्य स्टर्लिंग क्षेत्र से	...	२५२९०००	
कुल योग			२९,२७,३९,०००

उक्त आँकड़े भारत सरकार से प्राप्त हुए थे।

जब हम जाँच के सिलसिले में भ्रमण कर रहे थे तब पादरी लकरा ने १० जून १९५४ को कुसमी में हमारे सामने यह स्वीकार किया था कि १९५३ में उन्हें जेनेवा की 'लूथरन वर्ल्ड फेडेरेशन' साठ हजार रुपये की राशि भारत के पाँच प्रान्तों में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्राप्त हुई थी और इसी प्रकार उसके लूथरन मिशन के अमरीकी बोर्ड के द्वारा नव्वे हजार रुपया की भारी रकम केवल एक वर्ष के लिए सरगुजा क्षेत्र में ईसाई धर्म के लिए अमेरिका से प्राप्त हुई थी।

जनवरी १९५० में हमारा विधान घोषित हुआ। इसके फलस्वरूप सरगुजा इत्यादि स्थानों में मिशनरियों के ईसाई धर्म के प्रचार के लिए द्वार खुल गया और वहाँ धर्म-परिवर्तन-कार्य के लिए मिशनरियों को बड़ी-बड़ी रकमें मिलने लगीं। गौसनर लूथनर मिशन ने सरगुजा में एक नया मिशन-कार्य-क्षेत्र स्थापित किया और उसमें बहुत-से प्रचारक भर्ती किये। ये प्रचारक गाँव-गाँव में धर्म-परिवर्तन-कार्य के लिए फैल गए।

मद्रास राज्य में पार्वतीपुरम् स्थान पर ६-७ मार्च १९५३ को एक सभा हुई। उसमें घोषणा की गई कि सरगुजा क्षेत्र में बारह सौ व्यक्तियों को ईसाई बनाया गया है और वहाँ के लिए एक सौ प्रचारक और सात पादरी नियुक्त किये गये। मिशनवालों ने अम्बिकापुर में २३ एकड़ भूमि भी खरीद ली। उक्त सभा में यह भी घोषित किया गया

था कि अमरीका से १९५३ में प्रचार-कार्य के लिए नव्वे हजार रु० की आर्थिक सहायता स्वीकृत हुई है।

उपर्युक्त तथ्य से पता चलता है कि ज्यों ही भारत के विधान की घोषणा हुई, ईसाई मिशनरियों के लिए सरगुजा का क्षेत्र प्रचार-कार्य के लिए खुल गया। तब से उक्त क्षेत्र पर कई-एक मिशनों ने जैसे रोमन कैथोलिक, चर्च ऑफ क्राइस्ट मिशन और लूथरन मिशन इत्यादि ने इकट्ठे होकर धावा बोल दिया है और उनको इस धर्म-परिवर्तन-कार्य के लिए लूथरन बोर्ड फेडेरेशन से आर्थिक सहायता प्राप्त होती रही।

यह जानना रुचिकर होगा कि लूथरन ईसाई यहाँ पर क्यों आगे आये। प्रोटेस्टैण्ट ईसाइयों में से लूथर के अनुयायी बहुसंख्या में है। जर्मनी में उनका बहुत प्रभाव है। स्केण्डेनेवियन देशों में वे दूसरों पर हावी हैं और उत्तरी अमरीका में भी उनकी संख्या अधिक है। अन्य किसी ईसाई सम्प्रदाय की अपेक्षा लूथरन लोगों ने राज्य को चर्च पर कड़ा नियन्त्रण रखने की अधिक सुविधा दे रखी है। कई अवसरों पर तो ऐसा देखा गया है कि चर्च ने अपने-आपको राजनैतिक दलों और नीतियों के साथ गठजोड़ कर लिया है, जो कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से उचित नहीं है।

दुनिया जानती है कि मिशनरियों का कार्य केवल ईसाई बनाना ही है। इसलिए जो रुपया उनके पास बाहर से आता है, उसको वे बहुत-से पादरी और शिक्षक-प्रचारक नियुक्त करने में लगा देते हैं। जब हम अपने पहले दौरे में सरगुजा जिले में गए थे तो लूथरन मिशन के पास ६०-७० प्रचारक थे और प्रत्येक को ४० रु० मासिक वेतन मिलता था। बसना एक छोटा-सा स्थान है। वहाँ ३६ प्रचारक केवल ३ गाँवों में कार्य करने के लिए नियुक्त थे। प्रत्येक प्रचारक को ३५ रु० से लेकर ४० रु० तक मासिक वेतन मिलता था। विलासपुर जिले में तुलाराम नाम का एक प्रचारक था जिसको ८२) रु० मासिक वेतन मिलता था। उसके कहने के अनुसार वहाँ ६ मील के घेरे के अन्दर ४ प्रचारक नियुक्त थे। बासीम में हमें बताया गया कि नजरीन चर्च के क्षेत्र में ४८ प्रचारक धर्म-परिवर्तन का कार्य करते थे। हमें यह भी बताया गया कि विदेशी पादरियों की संख्या २४ थी और उसमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं। प्रचार के लिए भ्रमण पर जितना भी खर्च होता था, वह सारा मिशन फंड से चुकता किया जाता था। अमरावती जिले में २६ मिशनरी कार्य करते थे और उनके साथ १२ देशी प्रचारक होते थे, जिनका वेतन ६० से ९० रु० तक होता है। यवतमाल में मोजेज डेविड नामक एक प्रचारक था, जिसको १५७ रु० मासिक वेतन दिया जाता था। जान गड्डियों जालकोट गाँव का ईसाई पटेल है, उसको प्रचार-कार्य के लिए ६० रु० मासिक वेतन मिलता था। सोलोमन धम्तरी में एक अध्यापक है, उसने हमको बतलाया था कि मैनोनाइट चर्च के अन्तर्गत कुल ६-७ प्रचारक हैं जो फिल्म, तसवीर अथवा नाटक इत्यादि की सहायता से प्रचार करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विदेशों से जो रुपया यहाँ आता है, उससे केवल धार्मिक अथवा चिकित्सा-सम्बन्धी संस्थाएँ ही नहीं चलायी जातीं, बल्कि उसमें से अधिकांश रुपया पेशेवर धर्म-परिवर्तन-कार्य करनेवाले मिशनरियों के पास, चाहे वे विदेशी हों या देशी, चला जाता है।

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में विदेशी मिशनरी कितने थे और उसके बाद कितने हैं, यह आगे दिये गये तुलनात्मक आंकड़ों से पता चलेगा—

१९४७ में	५०४० मिशनरी समस्त भारत में थे जिसमें पाकिस्तान भी सम्मिलित था।
१९५१ में	४३७७ मिशनरी केवल भारत में थे।
१९५५ में	४८७७ मिशनरी केवल भारत में थे।

उपर्युक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि १९५१ से १९५५ तक पाँच वर्षों में मिशनरियों की संख्या में ५०० की वृद्धि हुई है।

हमारे पास जो सरकारी सूचना प्राप्त हुई है उसके अनुसार केवल मध्य प्रदेश में ४८० विदेशी मिशनरी भिन्न-भिन्न मिशनों के अन्तर्गत प्रचार-कार्य कर रहे हैं। इसका विवरण निम्न प्रकार है—

१. अमेरिकन	२३६	११. आयरिश	३
२. फ्रेंच	५९	१२. स्काटिश	२
३. ब्रिटिश	५४	१३. ब्रजीलियन	२
४. स्वेडन	३२	१४. आस्ट्रेलियन	१
५. डच	२९	१५. अर्जेण्टाइनी	१
६. जर्मन	१७	१६. फिन	१
७. स्विस	१६	१८. पुर्तगाली	१
८. बेल्जियम	१३	१८. इटेलियन	१
९. स्पेनिश	४	१९. हुंगेरियन	१
१०. कनेडियन	६	२०. डैनिश	१
		योग	४८०

धर्म-परिवर्तन के साधन

स्कूल, अस्पताल और अनाथालय—जिन साधनों के द्वारा ईसाइयत का प्रचार होता है वे प्रायः स्कूल, अस्पताल और अनाथालय ही हैं। रिच्टर ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ क्रिश्चियन मिशन्स' में लिखा है कि भारत के लिए एक नये युग का समारम्भ हुआ है। लोग शिक्षा के लिए लालायित हैं।……क्या मिशनवाले अपने कार्य को अपने-आप तक ही सीमित रखेंगे और इस जागृति से कोई लाभ न उठायेंगे ? अथवा वे इसमें अपना स्थान ग्रहण करेंगे और अन्त में इस आन्दोलन के नेता बन जाएँगे तथा इसको एक ऐसा साधन बना लेंगे कि जिससे समूचे भारत को ईसाई बनाया जा सके ?" इसी पुस्तक में आगे जाकर लिखा है कि मिशनवालों के लिए यह कोई आदेशात्मक अथवा आवश्यक नहीं है कि वे अंग्रेजी साहित्य, इतिहास, गणित अथवा प्राकृतिक विज्ञान इत्यादि की शिक्षा का प्रचार करें। मिशनवालों का मूल कर्त्तव्य यह है कि वे गैर-ईसाई लोगों में बाइबिल का प्रचार करें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकेंगे तो उनके सारे श्रम व्यर्थ हो जाएँगे। एक ही साँस में उक्त लेखक अनाथालयों, वाइ० एम० सी० ए०, चिकित्सा-सेवा और कुष्ठाश्रम, इन सबों का उल्लेख करता है अर्थात् ये सब संस्थाएँ ईसाइयत के प्रचार के साधन बतलाई गयी हैं।

सन् १९३१ में तम्बरम् में अन्तर्राष्ट्रीय मिशनरी काउँसिल की एक सार्वभौम

कांफ्रेन्स बुलायी गई थी। उसमें एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई थी जिसका नाम "दी वर्ल्ड मिशन आफ दी चर्च" है। उस रिपोर्ट में स्कूलों को धर्म-परिवर्तन-कार्य के लिए एक विशेष महत्त्व का साधन बताया गया है और इस सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि इस बात का विशेष ध्यान रखा जाए कि जो भी चिकित्सा अथवा शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ हैं उनमें प्रधान स्थान ईसाइयत के प्रचार को देना चाहिए।

'घर-बन्धु' नामक ईसाई पत्र के जनवरी १९५२ के अंक में एक लेख 'स्कूल से लाभ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। उसके पढ़ने से पता चलता है कि स्कूलों के सम्बन्ध में उक्त नीति अक्षरशः बरती जाती है। उक्त लेख में लिखा है—

"क्लीसा (चर्च) को स्कूल से क्या फायदा है?"

"स्कूल क्लीसा (चर्च) के लिए राज्य-वृद्धि का कार्य करता है।……"

इसी विषय में 'कैथोलिक धर्म प्रचारक' के एक अंक में निम्न प्रचार लिखा है—

"स्कूल में जाने का पहला फल—

स्कूल में लोग भक्त क्रिस्तान बन जाते हैं।……"

लेफ्टिनेण्ट कर्नल एच० डब्ल्यू० सी० राब्सन, ओ० बी० ए० ने, जो पूर्वी स्टेटों में रेजिडेण्ट थे, वायसराय के सचिव को एक पत्र ता० १५ अप्रैल, १९३७ को लिखा था। उससे पता चलता है कि रुकावटों के होते हुए भी सरकार के पास ऐसी रिपोर्ट पहुँच रही थी कि कैथोलिक चर्च के पादरी युवकों तथा बालक-बालिकाओं को ईसाई बनाने के लिए विशेष परिश्रम कर रहे हैं और शिक्षा देने के बहाने लोगों को ईसाई धर्म में परिवर्तन करने के लिए चेष्टा कर रहे हैं। "चर्च ऑफ दी नजरीन" की एक रिपोर्ट में इसी बात को बड़े जोरदार तरीके से निम्न प्रकार लिखा है—

"ईसाइयत का प्रचार हमारा ध्येय है। इस बात के लिए न हम कोई क्षमा की याचना करते हैं और न हम ध्येय को छुपाते हैं। ईसा ने हमको आदेश दिया है कि हम प्रत्येक व्यक्ति को बाइबिल का पाठ पढ़ावें और हम यह करके रहेंगे। हमारा कार्य चाहे किसी प्रकार का हो, चाहे वह शिक्षा-सम्बन्धी हो या चिकित्सा-सम्बन्धी हो या केवल ईसाइयत के प्रचार का ही हो, हम हर जगह बाइबिल का प्रचार करेंगे।"

'जाओ प्रचार करो और विजय प्राप्त करो' यह है निर्देश, जिसके अन्तर्गत हम कार्य करते हैं। हम इस ध्येय को कभी ढीला नहीं कर सकते।"

स्कूल—सबसे पहले हम उन प्रमाणों को लेंगे जिनका सम्बन्ध स्कूलों से है।

हमारे समक्ष जो बयान आये हैं उनसे यह रहस्योद्घाटन होता है कि स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों को प्रभावित करने के लिए कई प्रकार के ऐसे तरीके अपनाये जाते हैं।

रामचन्द्र तिवारी (खंडवा) ने कहा कि जो बलाही बच्चे रोमन कैथोलिक गिरजाघर की ओर आकृष्ट होते हैं, वे निःशुल्क भोजन और निवास की सुविधा के कारण ही होते हैं। उनके बड़े-बूढ़ों पर अप्रत्यक्ष रूप से दबाव डाला जाता है कि वे गिरजाघर में होनेवाली प्रार्थना में उपस्थित हों। श्री सी० डी० मेघश्याम (खंडवा) ने, जो एक वकील हैं और नीमार हरिजन सेवक संघ के प्रधान हैं, बताया कि जब उन्होंने बलाही जाति के हरिजनों के लिए स्कूल खोले तो ईसाई मिशनवालों ने उनके स्कूल के पड़ोस में ही उसके मुकाबिले में स्कूल खोल दिये और उसके साथ ही उन्होंने बिना मूल्य की पुस्तकें और अन्य सुविधाओं का भी प्रलोभन दिया।

बाबूलाल (खंडवा) महू में रोमन कैथोलिक स्कूल में रह चुका था। उसनेअपने व्यक्तिगत अनुभव से बताया कि बलाही विद्यार्थियों को भोजन, रहने का स्थान और पुस्तकें इत्यादि मुफ्त दिये जाते थे और उनको ईसाइयों की प्रार्थना में उपस्थित होने के लिए कहा जाता था। यह निर्देश सबके लिए आवश्यक था, चाहे वह ईसाई हो या गैर-ईसाई हो।

उक्त तीनों साक्षियों ने यह भी कहा कि रोमन कैथोलिक स्कूलों में प्रवेश होने के पश्चात् लड़कों के नाम बदल दिये जाते थे। लूथरन मिशनवाले भी इसी प्रकार के ढंग अपनाते रहे हैं जैसाकि 'घर-बन्धु' नामक पत्र के मार्च-अप्रैल, १९५२ वाले अंक से प्रकट होता है। वहाँ इस प्रकार लिखा है—

"... ...स्वराज्य हो जाने से सरगुजा में धर्म-प्रचार का द्वार खुल गया है।...दो लड़के सरगुजा से ईचकेला स्कूल में लाए।... ...उनका नाम पतरस (पीटर) और पावल (पाल) रखा गया।......"

बाबूलाल के निज के उदाहरण से सिद्ध हुआ कि उसके मूल नाम के आगे वाल्टर लगा दिया गया था। देवी पुष्पावती (खंडवा) रोमन कैथोलिक स्कूल में ६ वर्ष तक अध्यापिका थी। उसने भी विद्यार्थियों के नामों को बदलने के सम्बन्ध में बताया। बहुत-से बलाही विद्यार्थियों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि वहाँ का कैथोलिक फादर, जो स्कूल का मैनेजर था, उनका अभिभावक बन गया और अपने अभिभावकत्व का लाभ उठाकर उसने उन लड़कों के नाम तथा धर्म बदल दिये। उसने एक विद्यार्थी का उदाहरण दिया कि एक छात्र का पूर्व नाम मुकुन्द था, उसके पीछे निकोलस नाम जोड़ दिया गया, जब वह ५वीं कक्षा में प्रविष्ट हुआ। वर्धमान बलाही (खंडवा) को उसके मैट्रिकुलेशन के आवेदन-पत्र पर जोजेफ के नाम से दर्ज किया गया। जब उसने इसका विरोध किया तब उसका यह नाम हटा दिया गया। अम्बिकापुर में हीरालाल उरांव ने अपना प्राइमरी सर्टिफिकेट दिखाया जिस पर उसका नाम जोहन मिन्ज लिखा हुआ था, यद्यपि वह एक हिन्दू था। व्यवहार राजेन्द्र सिंह (जबलपुर) के कथनानुसार ऐसे कितने ही परोक्ष ढंग सिभौरा के नार्मल स्कूल में बरते गये हैं जिन्हें डॉ० एल्विन और ठक्कर बापा ने भी उद्घाटित किया है। मध्य प्रदेश विधान सभा में उक्त नार्मल स्कूल के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रश्न रखे गए जिससे उक्त स्कूल को मध्य प्रदेश सरकार द्वारा अपने नियन्त्रण में लेना पड़ा।

एजूकेशन मैनुअल (शिक्षण-विधि) में तथा भारतीय विधान में अपनी अन्तरात्मा के विश्वास की स्वतन्त्रता होते हुए भी, ईसाई मिशनरियों द्वारा उचित-अनुचित उपायों से लोगों को उनके धार्मिक विश्वास से विचलित करने का प्रयत्न किया जाता है। १४ वर्षीय जनार्दनशंकर लाल (जबलपुर) जब १९५३-५४ में क्रिश्चियन मिशन स्कूल में ७वीं-८वीं कक्षा में पढ़ता था, तब वहाँ ईसाई और गैर-ईसाई सभी छात्रों को बाइबिल पढ़ाई जाती थी और दूसरे दिन उसकी परीक्षा हुआ करती थी। बाइबिल के घंटे में ही सबकी उपस्थिति ली जाती थी और उस समय जो छात्र अनुपस्थित रहता था, उसकी सारे दिन की अनुपस्थिति गिनी जाती थी। विद्यावती (गायकवाड़) जोन गर्ल्स स्कूल में प्राइमरी कक्षा से लेकर मैट्रिक कक्षा तक की छात्रा थी। इस अवधि में प्रातः-काल की प्रार्थना सबके लिए अनिवार्य थी और यह ईसाई मत की प्रार्थना थी। मत के

छात्रावास में रहनेवाले विद्यार्थियों को रविवार के दिन अनिवार्य रूप से चर्च में जाना पड़ता था। १९५४ के १५ अगस्त को स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष्य में एक नाटक अभिनीत किया था। विश्व के चार भागों के चार प्रतिनिधियों की भूमिका में चार अभिनेता पाकिस्तान, इंग्लैंड, अमेरिका और भारत के राष्ट्रीय झंडों के साथ मंच पर आए। एक स्वल्प वार्तालाप के पश्चात् भारत का ध्वज लहराया गया। इसके बाद पवित्र पुरुष की भूमिका में एक बालक मंच पर अवतरित हुआ, जिसने विश्व-भर की शान्ति की घोषणा की, और इसके उपरान्त क्रॉस चिह्न से अंकित-ध्वज लिये हुए बालिकाओं का एक समूह मंच पर आया। यह ध्वज सबसे ऊपर लहराया गया। स्कूल के प्रिन्सिपल ने अपने भाषण में बताया कि इस नाटक का उद्देश्य पाकिस्तान, इंग्लैंड, अमेरिका और भारत में मैत्री स्थापित करना है। जबलपुर के नवभारत (१७ अगस्त, १९५४) के अंक में इस नाटक की कुछ लोगों ने आलोचना की। कुमारी जिल्सा सोले (जबलपुर) ट्रेनिंग कॉलेज की प्रिन्सिपल हैं। उन्होंने बताया कि बाइबिल क्लास ईसाई छात्रों के लिए भी अनिवार्य नहीं है। फिर भी गैर-ईसाई छात्राएँ भी इसमें इसलिए उपस्थित होती हैं कि यह एक सामूहिक उपस्थिति का अवसर होता है और उसी समय दिन-भर के कार्यक्रमों की घोषणा की जाती है। छात्राएँ उन घोषणाओं को सुनने के ही लिए उस समय उपस्थित रहती हैं। इसी बात को कुछ घटा-बढ़ाकर श्री राबिन्सन हेडमास्टर, क्राइस्ट चर्च हाई स्कूल, जबलपुर ने भी बताया। एफ० एम० पी० सिंह, हेडमास्टर क्रिश्चियन हाई स्कूल, जबलपुर ने यह स्वीकार किया कि सितम्बर, १९५४ से पूर्व बाइबिल की शिक्षा और ईसाई प्रार्थना सबों के लिए अनिवार्य थी।

महादेव तुकाराम (यवतमाल) मिशन हाईस्कूल, दरव्हा का एक विद्यार्थी है। उसने बताया कि सभी छात्र प्रार्थना में सम्मिलित होते हैं और रविवार को बाइबिल के पवित्र पाठ का श्रवण करते हैं। सुमित्रा गायकवाड़ (यवतमाल) "इण्डियन फ्री मेथोडिस्ट कान्फ्रेन्स स्कूल" उमरी की अध्यापिका हैं। उनके कथनानुसार हिन्दू लड़के प्रार्थना में सम्मिलित होते हैं, क्योंकि वह प्रार्थना ईश्वर के प्रति तथा छात्रों की विद्योन्नति और देश की सुख-शान्ति के लिए होती है। नन्दलाल दुबे, अध्यापक मिशन हाई स्कूल, छोटा पारा (बिलासपुर) ने कहा कि उपस्थिति ले चुकने के बाद प्रार्थना कराई जाती है और जो छात्र अनुपस्थित पाया जाता था, उस पर एक आना दण्ड कर दिया जाता था।

रेवेरेण्ड टी०एच० मेजर, सुपरिण्टेण्डेण्ट, 'कोठारा कुष्ठ चिकित्सालय' अचलपुर ने अपने लिखित वक्तव्य में बताया कि उनके अस्पताल में २९९ रोगियों में से २९० सरकार की ओर से प्रविष्ट हुए थे और ९ मिशन की ओर से। इनमें से प्रायः १०० रोगी ईसाई बनकर निकले, यद्यपि प्रवेश के समय उनमें से बहुत ही थोड़े ईसाई थे। ८ वर्षों के भीतर १५४ रोगी ईसाई बनाए गए। निश्चय ही ये सरकारी खर्च पर भर्ती होनेवाले रोगियों में से बनाए गए थे, जिनपर सरकार २६००० रु० प्रतिवर्ष व्यय कर रही थी।

महन्त नयनदास एम० एल० ए०, मन्त्री, अखिल भारतीय सतनामी सभा (रायपुर) ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से बताया कि किस प्रकार अस्पतालों में रोगियों को ईसाई बनाने के लिए दबाया जाता है। उन्होंने एक उदाहरण दिया कि मोडपा का एक केभा नामक व्यक्ति मुँगेली के अस्पताल में भर्ती था, उससे कहा गया कि यदि वह अच्छा होना चाहता है तो वह ईसाई बन जाय। इसी प्रकार ढबरा बाटा को बोधन सत-

नामी भी बिलासपुर के अस्पताल में भर्ती था, जिसे ईसाई बनने को बाध्य किया गया और उसे ईसाई बना लिया गया। एक वर्ष बाद जब वह अस्पताल से बाहर आया तो महन्त नयनदास के पास आया और सतनामी समाज में फिर वापस आने के लिए प्रार्थना की, जिस पर उसे सतनामी समाज में वापस ले लिया गया। महन्त नयनदास स्वयं टिल्डा के अस्पताल में रोगी थे और उन्होंने स्वयं अस्पताल में इस प्रकार से ईसाई धर्म का प्रचार होते देखा। डॉ० पिल्ले (सागर) ने कहा कि एक अच्छे डॉक्टर का कर्त्तव्य है कि वह अस्पताल के रोगी के समक्ष ईसा को रखे। रेवेरेण्ड रमन (सागर) ने भी कहा कि बीमारी की अवस्था में रोगी सर्वाधिक ग्रहण करने की मानसिक दशा में होता है। मिस बिजनौर (सागर) ने कहा कि एक ईसाई डॉक्टर का कर्त्तव्य है कि वह न केवल रोगी को शारीरिक रोग से नीरोग करे प्रत्युत वह उसके सम्मुख ईसा को भी रखे।

अब ईसाई अनाथालयों को लीजिए। वे तो निस्संदेह ईसाइयों की जनसंख्या बढ़ाने के लिए ही खोले गए हैं। अकाल, बाढ़, भूकम्प तथा इसी प्रकार के अन्य प्रकृतिजन्य आपत्तियों के अवसर पर अनाथों को जमा कर ईसाई समाज में मिला लिया गया। कोई आश्चर्य नहीं यदि ईसाई धर्म में दीक्षित होनेवालों की सबसे बड़ी संख्या ऐसी पिछड़ी जातियों में से है, जिनका निवास प्रायः मिशन के स्कूलों अथवा अस्पतालों के निकट होता है। बहुत-से धर्म-परिवर्तन आर्थिक सेवाओं तथा अन्य भौतिक लाभों की आशा से हुए हैं।

धर्म-परिवर्तन के लिए काम में लाए जानेवाले प्रत्येक निन्दनीय उपायों में से कर्जा देना भी एक है जो कैथोलिक मिशन काम में लाते हैं। हमारे जाँच-संबंधी दौरे में यह शिकायत रामगढ़ सरगुजा जिले में पाई गई कि 'ऋण लेनेवाला व्यक्ति अपनी चोटी कटा ले' इस शर्त पर रोमन कैथोलिक मिशन कर्जा देता है। यदि यह शर्त उसे स्वीकार नहीं है तो उसे सूद-समेत ऋण चुकता करना होगा। व्यवहार राजेन्द्रसिंह (जबलपुर) मालगुजारी गाँव, जि० माँडला के एक जागीरदार थे, जहाँ बहुत-से गोंड रहते थे। वे महाकौशल के "हरिजन सेवक-संघ" के सभापति और वनवासी सेवा मंडल, माँडला के उपसभापति भी रहे हैं। उनका दावा है कि इस प्रकार का ऋण देना धर्म-परिवर्तन के साधनों में से एक है। धर्मदेव त्रिपाठी (रायगढ़), हिसामुद्दीन सिद्दीकी (रायगढ़), विद्याधर लूदेग (रायगढ़), धूनू उराँव (रायगढ़), छुटिया उराँव (रायगढ़) और अन्य लोगों ने भी ऋण देने के सम्बन्ध में बताया कि यह धर्म-परिवर्तन का ही एक उपाय है।

कैथोलिक मिशन द्वारा इस प्रकार ऋण का प्रलोभन देने की पुष्टि प्रोफेसर आई० बी० जौहरी, एम० ए०, बी० डी०, इन्दौर की लिखी पुस्तिका 'क्रिस्टी मण्डली का इतिहास' के द्वारा भी हो जाती है—

"रोमन कैथोलिक मिशनरी गाँव के कृषकों को कुछ रुपये उधार देने लगे और यह नियम ठहराया कि वे कृषक यदि रोमन कैथोलिक रहें तो उनसे उधार जो दिया गया है सो वापस लिया न जाएगा। परिणाम यह हुआ कि अन्य मिशन के बहुत-से लोग रोमन कैथोलिक हो गए।"

छोटा नागपुर का उल्लेख करते हुए रेवेरेण्ड पिकेट लिखते हैं—

"रोमन कैथोलिक मिशन सहकारी समितियों द्वारा आर्थिक सहायता के प्रलोभन, ऋण, नौकरी, स्कूल में निःशुल्क शिक्षा और मुकद्दमे में धन की सहायता आदि के

द्वारा प्रोटेस्टैण्ट-वर्ग के लोगों में से अपने वर्ग में मिलाने की प्रबल चेष्टा कर रहे हैं।"

इन बातों का रहस्य तब खुला जब लेफ्टीनेण्ट कर्नल ए० एस० मीक ने, जो राँची में पूर्वी राज्यों में गवर्नर जनरल के एजेण्ट थे, जाँच प्रारम्भ की। उनकी रिपोर्ट का उल्लेख एक पत्र में मिलता है, जो उन्होंने भारत सरकार के विदेशी राजनीतिक विभाग के मन्त्री के पास पूर्वी राज्यों में ईसाई मिशन के कार्य के विषय में भेजा था।

उदयपुर राज्य में मिशनरियों के प्रवेश पर रोक लगी हुई थी। उस समय वहाँ के राजा नाबालिग थे और राज्य का प्रबन्ध राजनीतिक विभाग द्वारा ही होता था। जून १९३५ में कर्नल मीक के पास जब यह रिपोर्ट पहुँची कि प्रायः छै हजार व्यक्तियों ने बप्तिस्मा के लिए याचना की है, तब उन्होंने राँची के बिशप से भेंट की, और उनसे जानना चाहा कि क्या उन लोगों को ऋण आदि का प्रलोभन तो नहीं दिया गया है? इस पर बिशप ने उत्तर दिया कि जिन लोगों को रुपयों की आवश्यकता होती है, उन लोगों को मिशन ऋण देता है। ऐसा सुनकर दूसरे लोगों को ईसाई धर्म में प्रविष्ट होने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिल जाता है। इस पर कर्नल मर्फी द्वारा एक बाकायदा जाँच कराई गई। कर्नल मर्फी ने इस सम्बन्ध में उदयपुर राज्य के १५ गाँवों का दौरा किया और उन्हें पता चला कि उदयपुर राज्य में एकदम से ईसाई बनने की बात निरी झूठी है। यदि लोग ईसाई बनने को उद्यत होते हैं तो केवल इसलिए कि ईसाई बनने पर उन्हें मिशन से रुपया उधार मिल जाएगा। उन्हें उक्त दौरे में यह भी पता चला कि समस्त राज्य में यह समाचार फैलाया जा चुका है कि तपकारा मिशन केन्द्र से, बिना किसी जमानत के केवल हैण्ड नोट लिख देने मात्र से, ऋण मिल जाता है। इसमें केवल एक शर्त होती है कि ऋण लेने वाले को अपनी चोटी कटा लेनी होती है। कुछ लोग जिन्हें ऋण मिला हुआ था नाबालिग थे। इस बात का भी पता चला कि जिस परिवार में से एक भी व्यक्ति कर्ज ले लेता था, उसके परिवार के सारे व्यक्तियों के नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिये जाते थे कि ये ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके हैं। जो रकम ऋण में दी जाती थी, उसपर १० प्रतिशत के हिसाब से ब्याज लिया जाता था। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि ऋण की रकम में से एक वर्ष का ब्याज पेशगी काट लिया जाता था। जब लोगों से पूछा गया तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया कि मिशनवालों के पास वे इसीलिए जाते हैं कि उन्हें रुपया-पैसा मिले, और सब ने एक स्वर से कहा कि बिना रुपया-पैसा के प्रलोभन के वे कभी भी ईसाई बनने के लिए तैयार नहीं थे।

उक्त जाँच के फलस्वरूप कर्नल मीक ने ईसाई मिशनरियों की गतिबिधियों पर कड़ी पाबन्दी लगा दी और उनके इस कार्य का भारत सरकार ने समर्थन भी किया।

इन पाबन्दियों के होते हुए भी सरकार के पास ऐसी सूचना पहुँचती रही कि नवयुवकों को स्कूलों में शिक्षा देने के बहाने मिशनवाले ईसाई बनाने की चेष्टा करते रहे हैं। इसी प्रकार की परिस्थिति रायगढ़ राज्य में उपस्थित हुई, जब डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, डी० लिट्० इस राज्य के दीवान थे। १९३६ में राँची के बिशप ने उनसे प्रार्थना की कि हमें एक गिरजाघर निर्माण करने के लिए उस राज्य में कोई स्थान दीजिए, क्योंकि वहाँ ४००० ईसाई रहते हैं और उनके आध्यात्मिक कल्याण के लिए हम उत्तरदायी हैं। डॉ० मिश्र ने जब वहाँ की परिस्थिति की जाँच करवाई तो उन्हें पता चला कि रायगढ़ राज्य में रोमन कैथोलिक मिशनवालों ने कर्ज देने का प्रबन्ध कर रखा था।

कर्ज लेनेवालों के आगे शर्त यह रखी गई थी कि उन्हें अपनी चोटी कटवानी पड़ेगी। मिशनवालों के रजिस्टर के निरीक्षण करने पर पता चला कि रजिस्टर पर न केवल परिवार के मुखिया का ही, जिसने ऋण लिया है, नाम लिखा जाता था वरन् उसके परिवार के सभी सदस्यों के नाम ऋण लेनेवालों में लिखे जाते थे। जब डॉ० मिश्र ने रांची के बिशप को इस बात की रिपोर्ट की कि रायगढ़ राज्य में, एक भी ईसाई नहीं है तो उनको उत्तर मिला कि उनके रजिस्टर में कर्ज लेनेवालों के नाम ईसाई के रूप में लिखे हुए हैं। यही कारण था कि रायगढ़ राज्य में 'एण्टी कन्वर्शन एक्ट' (धर्मपरिवर्तन-निरोध कानून) पास किया गया।

हमारे सामने ऐसे अनेक उराँव गवाह पेश हुए हैं जिन्होंने यह सिद्ध किया कि धर्म-परिवर्तन के लिए ही रुपया कर्ज दिया जाता है। उन्होंने वे रसीदें भी प्रस्तुत कीं जो उनको कर्ज की अदायगी पर तपकारा केन्द्र के मिशन अधिकारियों से प्राप्त हुई थी।

अन्य प्रलोभन—हमारे सामने बहुत-सी गवाहियाँ गुजरीं, जिनसे यह प्रकट होता है कि धर्म-परिवर्तन के समय लोगों को नमक, हल-बैल और जमा हुआ दूध इत्यादि के उपहारों का प्रलोभन भी दिया जाता है।

प्रचारकों की नियुक्ति

हमने जब जाँच के लिए दौरा किया उस अवसर पर हमारे ध्यान में यह बात लाई गई कि प्रचारकों के रूप में नियुक्ति के लिए ईसाई धर्म में नव-दीक्षित ईसाइयों को लिया जाता है। अनेक प्रलोभनों में से यह भी एक प्रलोभन है। ऐसे प्रचारक को ४० रु० मासिक वेतन दिया जाता है। सरगुजा जिले में ६० रु० से ७० रु० मासिक वेतन पर प्रचारक नियुक्त हैं। श्री गुणवन्त तामड़े (अमरावती) ने जो महार जाति में से हैं, अपने बयान में कहा कि जो लोग २० रु० भी नहीं कमा सकते, उनको प्रचारक बनाने पर १०० रु० तक मासिक वेतन मिल जाता है। रेवेरेण्ड ग्रब (अमरावती) ने स्वीकार किया कि उनके अधीन १२ प्रचारक कार्य करते हैं और उनको ६० रु० से ९० रु० तक मासिक वेतन मिलता है। सोनाबाजी (यवतमाल) महार जाति से ईसाई धर्म में दीक्षित हुआ और उसे एक ईसाई प्रचारक नियुक्त कर लिया गया और इस रूप में उसे ४५ रु० मासिक मिलने लगा है। साइलस जिगरे (यवतमाल) एक अन्य ईसाई प्रचारक है उसको ६० रु० मासिक वेतन मिलता है और वह १०० व्यक्तियों को ईसाई बना चुका है। पैस्टर जे० सी० नाथर (यवतमाल) को जो उमरी के गिरजाघर से सम्बन्धित ९८ रु० मासिक वेतन मिलता था। वह उमरी के एक अस्पताल में एक प्रचारक है और वहाँ उसने १५ व्यक्तियों को ईसाई बनाया है। श्री मोजेज डेविड (यवतमाल) १५७ रु० मासिक वेतन प्राप्त करते हैं। १९४७ से लेकर वे २०० व्यक्तियों को ईसाई बना चुके हैं। श्री लक्ष्मण भटकर (बुलढाना) एक एम० पी० हैं और महार जाति के हैं। वह ३५ वर्ष से समाज-सेवा का कार्य करते आ रहे हैं और आजकल चोखमेला में एक छात्रावास चला रहे हैं। १९३८ से लेकर १९४२ तक प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य भी रह चुके हैं। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर कहा है कि बरार में जो ईसाई हुए हैं, वे शत-प्रतिशत हरिजन जाति में से हुए हैं। जो हरिजन गरीब और अशिक्षित हैं उनको यदि एक प्रचारक अथवा एक अध्यापक के पद का लालच दे दिया

जाता है तो वे ईसाई हो जाते हैं। हीरालाल पगारे (बुलढाना) एक पैस्टर (पादरी) हैं, उन्हें ८५ रु० वेतन मिलता है। इसी प्रकार रेवेरेण्ड गोफने (बुलढाना) को ६० रु० और लूथर मनमोथे को ८१ रु० मासिक वेतन मिलता है। इसी तरह तुलाराम (बिलासपुर) को ८२ रु० प्रतिमास के हिसाब से वेतन मिलता है। उसने यह भी बयान दिया कि छः मील के घेरे में ४ प्रचारक कार्य करते हैं।

गाँव के अधिकारियों के प्रभाव का उपयोग—ईश्वरी प्रसाद कोतवाल (मांडला) एक सरकारी ग्रामीण अधिकारी हैं। उनसे रोमन कैथोलिक चर्च के फादर ने कहा कि वे गाँववालों में पैम्फलेट बितरण किया करें और गाँववालों को प्रति रविवार को गिरजाघर लाया करें। परन्तु गाँववाले उनके कहने पर गिरजाघर में उपस्थित होने को राजी न हुए। इस पर कैथोलिक फादर उक्त देहाती अफसर पर रुष्ट हो गया। भगवानसिंह (मांडला) डिंडोरी जनपद सभा के एक सदस्य हैं। उन्होंने कहा कि रोमन कैथोलिक मिशनवालों ने गाँव के मुखिया को गाँठ लिया और उसके प्रभाव से और लोगों को ईसाई बना लिया। गंजूराम उराँव (रायगढ़) मुदीकेला के पटेल हैं। उनके पास बहुत-से ईसाई पहुँचे और उनसे कहा कि उनको पादरी साहेब ने उनके पास भेजा है और आदेश दिया है कि वे गाँववालों की एक सभा बुलाएँ और उनको ईसाई बनने के लिए प्रेरित करें। इसी प्रकार का दूसरा बयान श्री काशीराम मिश्र (रायगढ़) ने भी दिया है। वह प्रान्तीय विधान सभा के एक भूतपूर्व सदस्य हैं और उदयपुर जनपद सभा के अध्यक्ष हैं। उपर्युक्त गवाहियों से ऐसा प्रकट होता है कि मिशनवाले प्रायः इस प्रकार के आदेश जारी करते रहे हैं और लोगों को ईसाए बनाने के लिए इस प्रकार के ढंग अपनाते रहे हैं। 'मिशन्स इन मिड इण्डिया' के हिन्दी संस्करण में पृष्ठ १५१-५२ पर निम्न प्रकार के आदेश का उल्लेख है—

"यहाँ पर जो ईसाई पुलिस का काम करते हैं या जंगल-अफसर हैं या स्कूलों में पाठक का काम करते हैं, अगर तीन दिन के लिए इन लोगों के लिए एक सभा लगाई जाए और अन्य धर्मियों के धर्मान्तर का बोझा उनके कन्धे पर रखा जाए तो बड़ी अच्छी बात होगी।"

ईसाइयों ने अब अपने प्रचार में भजन-कीर्तन की प्रथा भी चालू कर दी है और इन भजनों को 'ईसा भजन' कहते हैं तथा बाइबिल को 'ईसा भागवत' कहते हैं। 'ईशावास्योपनिषद्' में 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यह वाक्य आता है। इसकी व्याख्या करते हुए एक ईसाई प्रचारक ने कहा कि इस वाक्य का अर्थ यह है कि समस्त जगत् ईसाई हो रहा है। इसी प्रकार एक ईसाई प्रचारक बाजार में प्रचार कर रहा था और कह रहा था कि मैं आप लोगों को ईसा भागवत सुना रहा हूँ। इस अवसर पर उसने राम और कृष्ण के जीवन पर भी बहुत भद्दे आक्षेप किये। मुकन्द चतले एडवोकेट (बिलासपुर) तथा जटाशंकर शर्मा (रायपुर) ने अपने बयान में कहा कि महासमन्द में डॉ० सैमुएल ने अपने प्रचार में कहा था कि मुक्ति केवल ईसा के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। राम जिसकी पत्नी अपहृत कर ली गई थी वह क्या मुक्ति प्रदान कर सकता है ?

तुलसीदास की रामायण में गिरिजापूजन का प्रसंग आया है। ईसाइयों ने लोगों के समक्ष इसकी व्याख्या गिरजाघर अर्थात् चर्च के रूप में की। हरिराम जी ने, जिन्होंने रायपुर में गवाही दी थी, अपने बयान में कहा कि तिलड़ा के अस्पताल में एक प्रचारक

रोगियों से कह रहा था कि राम, कृष्ण, शंकर और विश्वामित्र इत्यादि हिन्दुओं के देवता ईसा के जन्म पर उनके दर्शनों के लिए गए थे। 'गुरु परीक्षा', 'राम परीक्षा', 'चन्द्र-लीला' और 'सच्चा मजहब कौन-सा है', ये ईसाइयों के प्रचार के पर्चे हैं। उनमें न केवल राम पर वरन् इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद पर भी घातक आक्षेप्र किये गए हैं। 'गुरु-परीक्षा' में यह लिखा है—

"राम·· कृष्ण मुक्तिदाता नहीं हो सकते, क्योंकि सब-के-सब बुराइयों के वश में लिप्त थे।" (पृष्ठ ४)

"वह (कृष्ण) चोर था। उससे कंस के निरपराध धोबी का घात किया। ऐसे देवताओं पर आसरा रखना बड़ी मूर्खता है।" (पृष्ठ ५)

"राम···पापी था···आप मर गया और फिर नहीं जी उठा···"(पृष्ठ ३४)

इसी प्रकार ईसाइयों के प्रचार की 'सच्चा मजहब कौन-सा है' नामक पुस्तक में हजरत मुहम्मद के बारे में निम्न शब्दों में उल्लेख है—

"मुहम्मद···दूसरे आदमियों की तरह गुनहगार पैदा हुआ।" (पृष्ठ ६)

"मुहम्मद की छः (६) औरतें थीं···" (पृष्ठ १०)

"वह आदमी जो मस्ती, गुस्सा और कठोरता से भरा हुआ था।" (पृष्ठ ११)

"वह मर गया, गाड़ा गया और उसका बदन कब्र में सड़ गया।" पृष्ठ १२)

क्या कोई भी न्यायप्रिय व्यक्ति यह कह सकता है कि भारत में बहुसंख्यक जाति के धर्म पर जो भद्दे आक्षेप किये जाते हैं, वे ईसाई धर्म का अंग हैं अथवा उनसे सार्वजनिक अनुशासन अथवा नैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है ?

हम जानते हैं कि मिशन के अधिकारियों ने ऐसे आक्षेपों को अस्वीकार किया है और सरकार को विश्वास दिलाया है कि ऐसी बातें केवल कुछ-एक बिगड़े दिमाग के धर्मान्ध प्रचारकों के द्वारा की गई हैं। यदि ऐसे उदाहरण एक्का-दुक्का अथवा थोड़े होते तो हम उनकी यह बात मान लेते, परन्तु हमारे सामने तो इतनी सारी मौखिक और लिखित गवाहियाँ हैं, जिनसे स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म और उसके देवी-देवताओं पर जो आक्षेप किये जाते हैं, वे ईसाइयत के प्रचार के एक अभिन्न अंग बन गए हैं। ऐसा प्रचार जान-बूझकर राज्य के सभी भागों में ईसाई प्रचारकों द्वारा किया जाता है। इसपर कुछ हिन्दू संस्थाओं में इसके प्रति रोष उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। इस बात को प्रकट करने में हमारा उद्देश्य यही है कि एक हिन्दू धर्म-प्रधान देश में इस प्रकार के भद्दे प्रचार से ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे राज्य की शान्ति और अनुशासन के भंग होने का भय रहता है। हमें आश्चर्य है कि राज्य के बहुत-से हिस्सों में बिगड़े हुए दिमागवाले, असभ्य और अशिक्षित प्रचारकों के इतना व्यापक प्रचार होते हुए भी हिन्दुओं द्वारा शांति भंग करने के बहुत ही कम उदाहरण मिलते हैं। संभव है इसका कारण हमारे ग्रामीण भाइयों की स्वाभाविक सहनशीलता का भाव और अधिकारियों की सतर्कता हो। परन्तु इसमें कोई संशय नहीं कि इस प्रकार के प्रचार से शांति भंग होने का भय बना रहता है और यदि कहीं शांति भंग हो तो उसका उत्तरदायित्व उनपर है जो दूसरे लोगों के धर्म पर आक्षेप करते हैं।

सामूहिक धर्म-परिवर्तन—हमारे सामने जितनी गवाहियाँ गुजरीं, उनसे स्पष्ट होता है कि बहुत-से लोग जो अपने धर्म का परित्याग करते हैं और ईसाई बनते हैं,

वास्तविक रूप में ईसाई नहीं बनते। यदि धर्म-परिवर्तन एक व्यक्तिगत वस्तु है, तो धर्म-परिवर्तन से पहले उसका गूढ़ और विचारपूर्ण अध्ययन आवश्यक हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत हमें विदित हुआ है कि अशिक्षित आदिवासियों के दल-के-दल, उनके परिवार तथा बच्चे, केवल उनकी चोटी काटकर, ईसाई बना लिये जाते हैं। उनमें से बहुत तो अपने इस नये धर्म का क, ख, ग, भी नहीं जानते। उदाहरण-स्वरूप बेनी-माधव (बिलासपुर), जो एक मालगुजार का लड़का था, यह भी न बता सका कि बाइबिल किन वाक्यों से प्रारम्भ होती है और किस प्रकार समाप्त होती है। वह ईसाई मत-सम्बन्धी ईश्वर की प्रार्थना से भी अनभिज्ञ पाया गया। सरकार ने हमें विधान बनाने के बाद सरगुजा जिले में ईसाई बने लोगों की सूची दी है। उससे पता चलता है कि किस प्रकार ४००० उराँव दो वर्ष के भीतर ईसाई बनाये गए हैं। इस सूची में ६० वर्ष से लेकर १ वर्ष की आयु तक के लोग सम्मिलित हैं, जो ईसाई धर्म में दीक्षित हुए दिखाए गये हैं। "बहुत-से ईसाई लोग तो केवल नाम-मात्र के ईसाई हैं, उनके रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वास सब हिन्दुओं जैसे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य धार्मिक न होकर सामाजिक और आर्थिक है।..." "अबतक केवल वे बलाही ही ईसाई-आचार का पालन करते आ रहे हैं जो ईसाई स्कूलों में बहुत समय तक शिक्षित किये गये हैं अथवा जो ईसाई मिशनरी संस्थाओं की आर्थिक दासता में फँसे हुए हैं। यह विश्वास योग्य बात नहीं है कि उन लोगों ने, ईसाई होने से पहले, ईसाई धर्म की शिक्षा पाई हो या बप्तिस्मा के पूर्व उन्हें परीक्षा के तौर पर कुछ समय दिया हो। उस क्षेत्र के प्रचारकों में से अधिकांश, जिनसे हमने भेंट की, स्वयं अपने धर्म के ज्ञान से वंचित हैं। वे लोग वेतनभोगी प्रचारक मात्र हैं। हमें विश्वसनीय सूचना मिली है कि मिशनरी संस्थाएँ बप्तिस्मा का दैनिक विवरण रखती हैं। अतएव इसमें क्या कठिनाई थी कि इस प्रकार का विवरण हमें दिखा दिया जाता और उससे पता चलता कि अमुक-अमुक व्यक्ति को कुछ समय ईसाई धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही बप्तिस्मा दिया जाता है। अतएव सिद्ध है कि केवल असली सत्य के प्रकट हो जाने के भय से ही रोमन कैथोलिक मिशन की संस्थाओं ने इस प्रकार के प्रमाण नहीं प्रस्तुत किये। दूसरी ओर हमारे सामने सरगुजा जिले के उन ४००० से अधिक लोगों की सूची रखी गई जो ईसाई बनाये गये और जिनमें सभी आयु के लोग तथा परिवार-के-परिवार सम्मिलित हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आमतौर पर समुदाय-के-समुदाय ही ईसाई बनाये गये हैं। केवल अपवाद-स्वरूप बहुत थोड़े ऐसे उदाहरण हैं जहाँ व्यक्तिगत रूप से धर्म-परिवर्तन किया गया है। हम लोगों के सामने व्यक्तिगत धर्म-परिवर्तन के जो मामले आये वे ग्राम के उन अगुओं के थे, जिनके धर्म-परिवर्तन के पश्चात् ही साधारणतया गाँव-के-गाँव सामूहिक रूप से ईसाई बन गये थे।

रेवेरेण्ड मकबूल मसीह (बिलासपुर) ने स्वीकार किया कि १०० धर्म-परिवर्तन में से, जो उनके द्वारा सम्पन्न हुए हैं, आधे पुनः सतनामी समाज में वापस लौट गए हैं। बरार (विदर्भ) के गवाहों ने भी इसी प्रकार की बातें स्वीकार कीं। मंगन भाई एवेञ्जिलिस्ट (अमरावती) ने २०० व्यक्तियों का धर्मान्तर किया था, किन्तु उनमें केवल ५० ही ईसाई बने रहे। नजरीन चर्च की रिपोर्ट में यह लिखा हुआ है कि अंजनी में एक चर्च है, परन्तु कोई गिरजाघर में जानेवाला नहीं है, क्योंकि सब फिर से हिन्दू धर्म में चले

गये हैं। उसमें यह भी लिखा गया है कि पिछले साल इण्डियन डिस्ट्रिक्ट असेम्बली में जो आँकड़े दिये गये हैं, उनमें सदस्यों की संख्या में कमी दिखाई गई है। इस प्रकार यह निस्सन्देह बात है कि पिछड़े हुए भागों में तथा परिगणित क्षेत्रों में अशिक्षित आदिवासी तथा हरिजन लोग सामूहिक रूप से ईसाई बनाये जा रहे हैं। वे ईसाइयत के प्रति प्रेम के लिए नहीं, वरन् भौतिक प्रलोभनों तथा मिशनरियों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से दिये नाना प्रकार के लोभ-लालच के वशीभूत होकर ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे हैं। इस सामूहिक धर्म-परिवर्तन का नंगा रूप रायगढ़, धर्मजयगढ़ और सरगुजा के क्षेत्रों में देखा जा सकता है। चूँकि अधिकतर धर्म-परिवर्तन आदिवासियों, सतनामियों और हरिजनों में से होता है, अतः यह भी दिखाने का प्रयत्न किया जाता है कि ब्राह्मण भी ईसाई बने हैं। धरनी में एक व्यक्ति ने अपने को ब्राह्मण से ईसाई बना बताया और कहा कि मैं रामनारायण दूबे (वा मिश्र) का पुत्र हूँ। किन्तु जिरह करने पर उसे प्रकट करना पड़ा कि वह एक वैरागी है और अब एक वेतनभोगी ईसाई प्रचारक है।

राष्ट्र-विरोधी भावनाओं का प्रचार—मिशनरियों के सम्बन्ध में एक अत्यन्त गम्भीर आरोप यह है कि उनके द्वारा राष्ट्र-विरोधी भावनाओं का प्रचार होता है, यद्यपि ईसाई मिशनरी इसका घोर विरोध करते हैं। हमारे सामने इस सम्बन्ध में जो कुछ गवाहियाँ गुजरीं, वे विचारणीय हैं। गांधी जी ने मिशनरियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि भारत में अराष्ट्रीयता और पश्चिमी सभ्यता के फैलाव में ईसाइयत का काफी हाथ है। राष्ट्रीय भावना के प्रचार के सम्बन्ध में सबसे बड़ा उदाहरण हमें 'हेरिटेज ऑफ ऐन इण्डियन क्रिश्चियन" नामक पुस्तक से, जो एक भारतीय की लिखी हुई है, मिलता है। उसमें लेखक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उसकी सभ्यता का स्रोत यूरोप है। किस प्रकार से लोगों के हृदय में राष्ट्र-विरोधी भावनाएँ उत्पन्न की जाती हैं, यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा।

जब हम जाँच के दौरे में जशपुर क्षेत्र में थे तो वहाँ हमारे सामने यह आम शिकायत सुनी गई कि ईसाई प्रचारक ग्रामवासियों को यह कहते फिरते हैं कि "जब से जवाहर राज्य स्थापित हुआ है, सुख का नाम-निशान नहीं है, लेकिन हम विश्वास दिलाते है कि जवाहर राज्य अब समाप्त होनेवाला है और ईसाई राज्य आने को है।" इस बात को वहाँ उस समय उपस्थित ईसाइयों ने मानने से इन्कार कर दिया, फिर भी इसकी पुष्टि होशंगाबाद जिले के खिरकिया से प्राप्त एक लिखित वक्तव्य द्वारा हो जाती है जिसमें कहा गया है कि 'जय हिन्द' से मिशनरियों को कष्ट पहुँचता था और वे इसके स्थान पर 'जय ईशु' रखना पसन्द करते थे। 'किंग ऑफ किंग्स' नामक फिल्म दिखाकर लोगों में ईसा के अद्वितीय राज्य की घोषणा की जाती है। इस फिल्म को देखने का अवसर हमें बुलढाना में मिला। जबलपुर के एक स्कूल में अभिनीत किये जानेवाले एक नाटक में राष्ट्रीय ध्वज के ऊपर ईसाई ध्वज की गुरुता दिखाई गई।

'घर बन्धु' नामक पत्र के जून १९५२ के अंक में पृष्ठ १२ पर प्रकाशित एक लेख 'निराला राज्य और उसके कर्मचारी' में निम्नलिखित प्रकाशित हुआ था—

"आज हमारे सामने सरगुजा का विस्तृत राज्य है जिसे मसीह के साम्राज्य में मिलना है।" 'घर बन्धु' नामक पत्र के ८ सितम्बर १९५३ के अंक में अग्रलिखित प्रकाशित हुआ था—

"गत ७ महीनों के अन्दर बप्तिस्मा पाये हुओं की संख्या १६५३ जुलाई तक १५७० संख्या से ज्यादा ही है। प्रान्तीय मुख्यमन्त्री मान्यवर आर० एस० शुक्ला के कुछ विरोधी आरोपन होते हुए भी प्रति माह धर्म की भूखी-प्यासी जनता पवित्र बप्तिस्मा के जरिये नया जन्म पाके प्रभु की मण्डली में…"

जब एक ग्रामीण को ईसाई बना लिया जाता है तब उसके मस्तिष्क को उसके समाज, देश और राज्य के विमुख बना देना सरल हो जाता है। गुणवन्त तयाडे (अमरावती) ने कहा कि ईसाई धर्म में दीक्षित व्यक्ति अपनी वेश-भूषा बदल लेते हैं और अपने को यूरोपियन समझने लग जाते हैं। डॉ० पिकेट ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है 'यूरोपियन नाम, यूरोपियन ढंग के रहन-सहन तथा वेश-भूषा आदि से ईसाई बने लोग अपने उन देशवासियों से घृणा करने लग जाते हैं जो भारतीय परम्परा से अनुराग रखते हैं" (क्रिश्चियन मास मूवमेण्ट इन इण्डिया, पृष्ठ ३३२)।

जाँच से प्राप्त निर्णय

हमारे सम्मुख जो भी सामग्री आई, उसके आधार पर हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि—

जब से भारतीय संविधान लागू हुआ है, भारत में काम करनेवाली मिशनरी संस्थाओं में अमेरिकन लोगों की संख्या पर्याप्त बढ़ी है। यह संख्या-वृद्धि निश्चय ही "इण्टरनेशनल मिशनरी कौन्सिल" की उस नीति का परिणाम है जिसके अनुसार हाल में स्वतन्त्र हुए देशों में, जहाँ वैधानिक रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता की सुविधा हो, ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रेस, फिल्म, रेडियो और टेलीविजन आदि से सुसज्जित ईसाई प्रचारकों के दल-के-दल भेजने की योजना बनाई गई थी (मिशनरी ऑब्लिगेशन ऑफ दी चर्च, पृष्ठ २७ और ३१)।

विदेशों से अपरिमित धनराशि भारत में आ रही है और उसका व्यय मिशनरियों द्वारा शिक्षा-प्रचार, चिकित्सा तथा ईसाइयत के प्रचार के लिए हो रहा है। इसी धन के बल पर लूथरन और अन्य धर्मान्तर करनेवाली ईसाई संस्थाओं ने सरगुजा में ४००० व्यक्तियों को ईसाई बना लिया।

अधिकतर धर्म-परिवर्तन अनुचित प्रभाव द्वारा तथा मिथ्या प्रचार द्वारा किये गये हैं। दूसरे शब्दों में, लोगों के अन्तःकरण की प्रेरणा से नहीं, वरन् अनेक प्रकार के प्रलोभनों द्वारा ही ईसाई बनाया गया है। छोटे बच्चों को प्राथमिक अथवा माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा देने के बहाने तथा उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ, जैसे बिना मूल्य पुस्तकें और बिना शुल्क पढ़ाई आदि की व्यवस्था करके उन्हें धर्म-परिवर्तन की प्रेरणा की गई। रुपया उधार देना धर्म-परिवर्तन के लिए काम में लाये जानेवाले अनेकानेक उपायों में से एक साधारण उपाय है। इस प्रकार के ऋण देने की व्यवस्था रोमन कैथोलिक मिशन में विशेष रूप से पाई गई जो सरगुजा, रायगढ़ और मांडला आदि जंगली क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं। उन स्थानों पर विशेष दबाव डालने की बात सुनी गई जहाँ ईसाई बने व्यक्ति अपने परिवार के अन्य सदस्यों को भी ईसाई धर्म में दीक्षित करना चाहते थे अथवा जहाँ वे विवाह के लिए स्त्रियाँ प्राप्त करना चाहते थे।

कुछ स्थानों में मिशन धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी लगे हुए पाए गये।

यद्यपि विदेशी और देशी मिशनरियों की ओर से अधिकारियों को यह विश्वास दिलाया गया था कि वे राजनीति में भाग नहीं लेंगी, तथापि परोक्ष रूप से उन्हें राजनैतिक गतिविधियों में भाग लेते हुए पाया गया। इसके उदाहरण हमारी कमेटी के सामने लाए गये।

चूंकि धर्म-परिवर्तन होने से धर्मान्तरित होनेवाले व्यक्ति का उसके समाज से विच्छेद हो जाता है, इसलिए देश और राज्य के प्रति उसकी निष्ठा सन्दिग्ध हो जाती है।

भारत के बहुसंख्यकों के धर्म के विरुद्ध एक निन्दनीय संगठित और निश्चित प्रयोजन के साथ प्रचार किया जा रहा है, जिससे जनसाधारण की शान्ति भंग हो जाने की आशंका है।

भारत में ईसाई प्रचार ईसाइयों की उस विश्व-नीति का एक अंग है, जिसका उद्देश्य संसार में फिर से पश्चिम के प्रभुत्व की स्थापना करना है। यह प्रचार आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रेरित नहीं प्रतीत होता। इसका स्पष्ट उद्देश्य स्थान-स्थान पर ईसाई अल्पसंख्यकों का संगठन करना और उसके द्वारा गैर-ईसाई समाजों की एकता को नष्ट करना तथा आदिवासियों के एक विशाल जन-समूह को ईसाई मत में धर्मान्तरित कर राष्ट्र के लिए खतरा उपस्थित करना है।

स्कूल, अस्पताल और अनाथालय धर्म-परिवर्तन के विशेष लक्ष्य हैं। इसका कारण यह है कि उनके क्षेत्र में अस्पताल, स्कूल, अनाथालय तथा अन्य सामाजिक सेवा-संस्थाओं की कोई समुचित सुविधा तथा व्यवस्था नहीं है।

मध्य प्रदेश सरकार ने सदा निष्पक्षता की नीति का पालन किया है और धार्मिक मामलों में उसने कभी हस्तक्षेप नहीं किया। सरकारी कर्मचारियों द्वारा ईसाइयों के प्रति कोई अनुचित व्यवहार हुआ या उनपर कोई अत्याचार हुआ, यह आरोप सिद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार के आरोप लगाना उस पुरानी नीति का अंग है, जिसके अनुसार वे स्थानीय अधिकारियों पर रोब गाँठते हैं और फिर विदेशों में यह प्रचार करते हैं कि उन पर अत्याचार हो रहा है।

समिति की प्रमाण-सहित सिफारिशें

चर्च अब ईसा की संस्था नहीं, वरन् एक राष्ट्रीय संस्था बन गया है अर्थात् अब वह उन राजनीतिज्ञों का साधन मात्र ही रह गया है जो किसी देश की राजनीति का संचालन करते हैं। यही भावना रेवेरेण्ड इमानुएल द्वारा इन शब्दों में प्रकट की गई है—"चर्च, आर्चबिशप लोग ईसा के धर्म के संरक्षक नहीं वरन् राजनीतिज्ञों के पीछे चलनेवाले बन गये हैं।"

गांधी जी ने स्वयं लोगों को ईसाई बनाये जाने पर घोर विरोध प्रकट किया था। उन्होंने कहा था कि यदि ईसा एक बार फिर इस धरती पर आते तो उन्हें ईसाइयत के नाम पर किये जानेवाले अनेक कामों से लज्जित होना पड़ता।

सर एण्ड्रू फ्रेजर बंगाल के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर थे। उन्होंने सन् १९१२ में एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम 'एमंग राजाज एण्ड रैयत्स' है। उसमें उन्होंने लिखा था कि भारत के लिए यदि कोई आशा है तो इस बात में है कि यहाँ ईसाई सभ्यता को

प्रश्रय दिया जाए। उनकी दृष्टि में भारत को ऐसी सभ्यता प्रदान करना जो ईसाइयत से रहित हो, उसे उस चीज से वंचित रखना है जो हमारी सभ्यता की श्रेष्ठतम वस्तु है और जिसके द्वारा ही सभ्यता स्वस्थ और पवित्र रह सकती है।

गांधी जी द्वारा स्वतन्त्रता-आन्दोलन आरम्भ करने के पश्चात् मुसलमानों ने अपने लिए एक अलग स्वतन्त्र राज्य की माँग रखकर इस आन्दोलन को एक धार्मिक रूप दे दिया। मिशनरियाँ भी हिन्दू-जाति की एकता को छिन्न-भिन्न करने की जी तोड़ कोशिश कर रही थीं, जिसका परिणाम हम आगे चलकर देख सकेंगे।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट १९२९ में छपी। उसने आदिवासियों के क्षेत्रों को राज्यशासन से बहिष्कृत क्षेत्र के रूप में रखने की सिफारिश की। इसमें उनका उद्देश्य यह था कि ऐसा करने से उनके हितों की विशेष रक्षा होगी और वे दूसरे लोगों की भाँति शीघ्र-से-शीघ्र उनके स्तर तक आ जाएँगे। मिशनरियों ने इससे अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा की और ग्रामीण तथा आदिवासियों को ईसाई बनाने की योजना तैयार की। डॉ० बटरफील्ड एक ईसाई मिशनरी थे। उन्होंने मिशन तथा मिशन से सम्बन्धित संस्थाओं के बीच अच्छे सम्पर्क स्थापित करने तथा संगठित और सरकारी ढंग से कार्य करने पर बल दिया। उन्होंने ईसाइयों को सम्बोधित करते हुए कहा कि भारत में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र है। ६०००००० (छः करोड़) हरिजनों तथा प्रायः इतनी ही संख्या की पिछड़ी हुई जातियों को ईसाई धर्म में परिवर्तित किया जा सकता है। उन्होंने सुझाव रखा कि भारतीय गाँवों की समस्या को अमेरिका की जनता के समक्ष रखा जाय और उनसे इसके लिए सहायता और सहानुभूति प्राप्त की जाय। उन्होंने उन शक्तियों की ओर भी संकेत किया जिनका उन्हें इस कार्य में सामना करना होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने इस प्रकार के अर्थ-भरे शब्द कहे—

"भारत में नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों में ईसाइयों को अन्य देशों की भाँति यहाँ भी धर्म-निरपेक्षता, उत्कट राष्ट्रीयता और संभवतः साम्यवाद तथा भौतिक औद्योगिकवाद का सामना करना होगा।" उन्होंने उक्त योजना को कार्यान्वित करने के लिए यह सुझाव दिया कि "ईसाई मत को इसके लिए ईसा को एक प्रभावशाली और आक्रान्ता के रूप में उपस्थित करना होगा।...और प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य होगा कि वह अपने व्यक्तित्व को ईसा के उत्साह से समन्वित करे।"

सन् १९३०-३१ और ३२ में गोलमेज कान्फ्रेन्स की बैठकें हुईं। उस अशान्ति और उत्तेजना के समय अमेरिका में एक जाँच कमेटी बैठायी गई जिसका नाम 'लेमैन्स फारेन मिशन्स इन्क्वायरी' रखा गया। इसमें अमेरिका के १५ संभ्रान्त नागरिक सम्मिलित थे। डॉ० हाकिंग इसके अध्यक्ष थे। अपनी रिपोर्ट में उन्होंने विश्व-व्यापी चर्च और विश्व-सभ्यता में एकता का स्वप्न देखा, क्योंकि उनके मत में ईसाई धर्म कोई पश्चिम की वस्तु नहीं वरन् विश्व-मात्र की वस्तु है। उक्त कमेटी में यह निश्चय किया गया कि मिशन का मूल उद्देश्य ईसाई धर्म के द्वारा विश्व को विजय करना है।

सामूहिक धर्म-परिवर्तन—उक्त योजना के अनुसार संगठित रूप से ईसाई धर्म का प्रचार आरम्भ हुआ। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सामूहिक रूप से अनेक धर्म-परिवर्तन किये गये। डॉ० पिकेट ने २५००० डालर तो "राकफेलर फाउंडेशन" से और १०००० डालर डॉ० माट से प्राप्त किये। इसी के बल पर उन्होंने

विस्तृत जाँच करके एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसका नाम 'क्रिश्चियन मास मूवमेण्ट इन इण्डिया' है। डॉ० माट ने इस रिपोर्ट की भूमिका लिखी है। उसमें गांधी जी के साथ सामूहिक धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध में उनकी जो बातचीत हुई थी, उसका भी उल्लेख है। गांधी जी ने कहा था—

"इस प्रकार का प्रचार यदि मुसलमानों द्वारा किया जाए तो उसे मैं समझ सकता हूँ, किन्तु ईसाई मिशन तो केवल आध्यात्मिक प्रचार करने का दावा करते हैं। यह जानकर मुझे दुःख होता है कि ईसाई संस्थाएँ मुसलमानों और सिक्खों की देखा-देखी केवल अपने समाज की संख्या-वृद्धि करने में लगी हुई हैं। यह एक गर्हित कार्य है और धर्म का उपहास मात्र है।" जब भारत में ईसाई प्रचार के लिए बाहर से अन्धाधुन्ध रुपया आने लगा तो गांधी जी ने कहा—"केवल कुबेर देवता को सेवा के लिए भारत में भेज दिया गया है, परन्तु भगवान् स्वयं पीछे रह गए हैं।" इस पर डॉ० माट ने व्यंग से कहा —"रुपया एक संचित व्यक्तित्व है।"

हैदराबाद में १९२१ से १९३१ तक १० वर्षों में ईसाइयों की जनसंख्या में जो वृद्धि हुई वह लगभग १४२ प्रतिशत थी और १९३१ से १९४१ तक ४५ प्रतिशत थी। इसी सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि बर्मा में वहाँ के ईसाई करेन लोगों ने मुसलमानों की ही तरह एक अलग राज्य की स्थापना की माँग की और अपनी इस माँग को राउँड टेबल कान्फ्रेन्स में बड़े जोरदार शब्दों में रखा। उनका यह आन्दोलन स्पष्टतया मिशनरियों की प्रेरणा का फल था, जैसा कि 'रीथिंकिंग मिशन्स' नामक पुस्तक की निम्नलिखित टिप्पणी से ज्ञात होता है—

"मिशनरियों ने करेन लोगों को शिक्षित किया और बाइबिल के अनुवाद द्वारा उन्हें एक लिपिबद्ध भाषा दी। इस प्रकार करेनों में एक राष्ट्रीयता की भावना जागृत की गयी, जो आगे चलकर बर्मा के लिए घातक सिद्ध हुई। करेनों को अपने राष्ट्र से इस प्रकार विच्छिन्न करने का उत्तरदायित्व इन मिशनरियों पर ही है। आज करेन एक संगठित दल के रूप में हैं, जिन्होंने अपने अलग करेन राष्ट्र के समर्थन के लिए अपना एक शिष्टमंडल गोलमेज कांन्फ्रेंस में भेजा था।

१९३० से १९४० के अगले दस वर्षों में ईसाइयों की जो गतिविधियाँ रही हैं, उन्हें देखकर हम यह सोचने को विवश हुए हैं कि उनकी कार्यवाहियाँ सदा से भारतीय ईसाइयों को पृथक् रखने की दिशा में हुई हैं। वे उन्हें अपने लिए विशेष सुविधाओं की माँग करने के लिए भी प्रोत्साहन देते रहे हैं। इस प्रकार उनकी गतिविधियाँ स्पष्ट रूप से राजनैतिक रही हैं।

कोई यह न सोचे कि यह बीते हुए युग का इतिहास-मात्र है, जो १९४७ में भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद लोप हो गया। नहीं, ऐसा सोचना सच्ची परिस्थिति की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेना है।

सन् १९४५ में न्याययुक्त स्थायी शान्ति कमीशन ने ईसाई प्रचार के चतुर्मुखी कार्यक्रम पर जोर दिया जिससे कि एक विश्व-व्यापी ईसाई संगठन बनाया जा सके और जिससे ईसाई शक्तियाँ एक प्रबल, अनुशासित और लड़ाकू अल्पसंख्यक जाति का रूप ले लें।

इस प्रकार जो ईसाई आन्दोलन १९३० में प्रारम्भ हुआ था, वह बड़े वेग से

पनप रहा है। इसे जन-धन का पूरा समर्थन प्राप्त है। 'क्रिश्चियन मिशन्स इन रूरल इण्डिया' नामक पुस्तक में यह सुझाव रखा गया है कि धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता, कम्यूनिज्म और आर्थिक औद्योगीकरण की शक्तियों को पराभूत करने के लिए भारत के ६००००० (छः लाख) गाँवों को ईसाई धर्म में धर्मान्तरित करना होगा। रेवेरेण्ड मैक्लीश 'वर्ल्ड डोमिनियन प्रेस' के एक ट्रस्टी हैं, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय मिशनरी कौन्सिल से गहरा सम्पर्क है। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि भारत के ६००००० गाँवों को १० वर्ष के भीतर ईसाई बना लिया जाय।

हठीले हिन्दू-समाज से लोहा लेने के लिए मिशनरियों के द्वारा 'हिन्दू-राष्ट्रवाद' 'गैर-ईसाई धर्मों के हवाई किले' आदि अनेक मुहावरे गढ़े गए। हिन्दू लोगों के इस विश्वास की खिल्ली उड़ाई गई कि सभी धर्म यदि सचाई के साथ आचरित किये जाएँ तो परमात्मा तक पहुँचने में समर्थ हैं। इस विश्वास को एक अंध मान्यता कहा गया। हिन्दू-धर्म राष्ट्रवाद की भौतिक भावना से सर्वथा मुक्त है, किन्तु जब इसे ईसाई धर्म के भीषण आक्रमण का सामना करना पड़ा तो उसमें भी कुछ राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। कैण्टरबरी के आर्चबिशप की यह घोषणा थी कि ईसाई धर्म साम्राज्यवादी धर्म है। हिन्दुओं की उदार भावना को अन्ध मान्यता बताना सहिष्णुता को सहन न करने के समान है। हिन्दुओं को इसलिए तुच्छ समझा जाता है कि वे ईसाइयों की भाँति यह नहीं मानते कि उनके अपने धर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे धर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती। परन्तु जैसाकि रूसो ने लिखा है, इस प्रकार की धर्मान्धता किसी धर्मान्ध राज्य में ही आदर पा सकती है। रूसो की सम्मति में ऐसे व्यक्ति को, जो यह कहता हो कि ईसाई मत के बाहर मुक्ति का कहीं अस्तित्व नहीं है, राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार की मिथ्या धारणा एक धर्मान्ध राज्य में ही स्थान पा सकती है, किन्तु दूसरे राज्यों के लिए यह एक भयानक बात है।

एक ध्यान देने योग्य बात यह भी है मिशनरी लोग अत्यन्त दीनता और असहायावस्था में पड़े हुए लोगों में ही धर्म का प्रचार करते हैं। वे लोगों की आर्थिक विपत्ति का अनुचित लाभ उठाकर उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं। एवेरेट कैटेल नामक लेखक ने लिखा है—"यदि हम किसी व्यक्ति को ईसाई धर्म की शिक्षा देना चाहें तो सर्वप्रथम हमें यह देखना चाहिए कि उसकी आवश्यकताएँ क्या हो सकती हैं और तब उसे ईसा के सम्बन्ध में बतावें।"

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि सरगुजा जिले में सामूहिक धर्म-परिवर्तन करने के लिए मिशनरियों द्वारा किस प्रकार अटूट धन पानी की तरह व्यय किया गया। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसा तब हुआ जब भारतीय संविधान में दी गयी धार्मिक स्वतन्त्रता के अनुसार सरगुजा क्षेत्र मिशनरियों के प्रचार के लिए बिलकुल खुल गया। अन्तर्राष्ट्रीय मिशन कौंसिल ने १९५२ में चर्च के लिए 'मिशनरी ऑब्लीगेशन' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें मिशनरियों के लिए कुछ आदेश दिये गये हैं। उन्हीं आदेशों के अनुसार सामूहिक रूप से लोग ईसाई बनाये गए। इस पुस्तक के २७वें पृष्ठ पर लिखा है—"विश्व के अधिकांश भागों में जो समस्या है वह भूख की समस्या है। इस परिस्थिति में चर्च के लिए प्रचार के अच्छे अवसर हैं... जिन देशों ने अभी हाल में स्वतन्त्रता पाई है, उनमें से कुछ-एक देशों में धर्म-प्रचार के

लिए वैधानिक छूट दी गयी है'''उन देशों में प्रेस, फिल्म, रेडियो और टेलीविजन के द्वारा सामूहिक धर्म-परिवर्तन और प्रचार के नवीन क्षेत्र खुल गये हैं।"

हमारे सामने इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि ईसाई मिशनरी पहले विज्ञापन के द्वारा, जिसमें कर्ज आदि देने का प्रलोभन रहता है, लोगों को बुलाते हैं। जब इस प्रकार लोग उनके पास पहुँचते हैं तब दिखावे के तौर पर उनके नाम एक सूची में लिख लिये जाते हैं। पाठक निम्नलिखित आँकड़ों से कल्पना कर सकते हैं कि वह कौन-सी धर्म-पिपासा हो सकती है जिसके कारण जनता सामूहिक रूप से अपना धर्म छोड़कर ईसाई मत ग्रहण करने को एकदम से दौड़ पड़ी।

१ फरवरी १९५२ को ६९ सदस्यों के १० परिवार एकदम से ईसाई बनाये गए।

३ फरवरी १९५२ को १४४ सदस्यों के २८ परिवार एकदम से ईसाई बनाये गए।

५ फरवरी १९५२ को ८५ सदस्यों के १८ परिवार एकदम से ईसाई बनाये गए।

१० फरवरी १९५२ को ६५ सदस्यों के १६ परिवार एकदम से ईसाई बनाये गए।

('घरबन्धु' मई, १९५२, पृष्ठ ५)

उक्त उदाहरण तो नमूने के तौर पर है। कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात पर विस्मित हुए बिना न रहेगा कि क्या यही आध्यात्मिक ज्ञान या धर्म के प्रचार का उचित तरीका है?

राष्ट्रीय कार्यों से ईसाइयों की तटस्थता—राष्ट्र-हित के कार्यों में हमने ईसाइयों को भाग लेते हुए नहीं पाया। 'नेशनल क्रिश्चियन कौन्सिल रिव्यू' नामक पत्रिका के अप्रैल १९५५ के अंक में, १५८ पृष्ठ पर, एक ईसाई लेखक ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है कि भारतीय ईसाई सामूहिक रूप से राष्ट्र-निर्माता-कार्यों में भाग लेने से तटस्थ रहे हैं।

संकट के समय विदेशी प्रभुत्व की आशंका—भारत के विशाल जन-समूह से पृथक् कर ईसाइयों को मिशनरियों के शासन में रखने की मनोवृत्ति से यह शंका उत्पन्न होती है कि उनका उपयोग किसी खतरे के समय विदेशी स्वार्थों के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रयत्न मिशनरियों द्वारा पहले भी किये जा चुके हैं, जबकि १८५७ में स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दमन के लिए उन्होंने १०००० सशस्त्र कोलों की सेना देने को कहा। इसी प्रकार उस समय बर्मा से डॉ० मैसन ने भी ईसाई हुए करेनों की सेना देने की बात कही थी। अभी हाल में करेन, नागा और अम्बायनीज लोगों की, जो ईसाई हो गए हैं, विद्रोही भावनाएँ भी इसी मनोवृत्ति का परिचय देती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि जंगली जातियों के क्षेत्रों में मिशनरियों की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखी जाए। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में ईसाई मिशनों की स्थापना का एकमात्र उद्देश्य इसी सामूहिक धर्म-परिवर्तन के लिए सुविधा प्रस्तुत करना है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के पास कोई बाहरी क्षेत्र नहीं है, अतः इस कमी को वह अन्य देशों में अपने सैनिक अड्डे बनाकर तथा दूसरे देशों से सैनिक संधि करके पूरा करना चाहता है (पृष्ठ २२, क्रिश्चियन रिवोल्यूशन)। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में

इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन-आन्दोलन के द्वारा यह यहाँ मनोवैज्ञानिक अड्डा या आधार तैयार करना चाहता है।

जो व्यक्ति हमारे सम्मुख आए, उन्होंने अमेरिका के उद्देश्यों के प्रति गहरी आशंका प्रकट की और इस सम्बन्ध में उक्त पुस्तक के २३वें पृष्ठ पर लिखा भी है—'पश्चिम के देश कम्यूनिज्म का खतरा बताकर एक बहाना चाहते हैं, जिससे कि नए स्वतन्त्र हुए देशों में वे फिर से अपना प्रभुत्व जमा सकें।" अमेरिकन मिशनरियों की गतिविधियाँ बहुत-कुछ कम्युनिस्ट-बिरोधी विश्व-नीति से सम्बन्ध रखती हैं और लोगों की दृष्टि से ओझल हैं। मॉरीशन भी अपनी रिपोर्ट 'रिलीजस लिबर्टी इन नीयर ईस्ट' (अर्थात् निकट पूर्व में धार्मिक स्वतन्त्रता) में लिखते हैं कि अनेक देशों में विदेशी मिशनों के सम्बन्ध में यह आशंका की जा रही है कि वे विदेशी राजनैतिक शक्तियों के एजेण्ट हैं। उन्होंने इन शब्दों में अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं—"इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि पिछले वर्षों में मिशनों का उपयोग राजनैतिक स्वार्थों के लिए किया जाता रहा है।"

दुर्भाग्यवश एशिया में ईसाई मिशनरियों का जो इतिहास है, उससे पता चलता है कि उनका उद्योग राजनैतिक ढंग का ही रहा है।

भारत के चर्च स्वतन्त्र नहीं हैं—यह कहा जाता है कि भारत के चर्च स्वतन्त्र हैं। फिर भी हमने देखा है कि मिशनरियों का अबतक भी चर्च के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे उन्हें रुपये-पैसे के बल पर अपने प्रभाव में रखते हैं। वे भारतीय चर्चों पर अपना अनुशासन इस आधार पर भी रखते हैं कि वे तथा भारतीय चर्च दोनों ही ईसाई होने के नाते साझीदार हैं। यद्यपि बाहर से आनेबाले रुपये को दान का नाम दिया जाता है, परन्तु वास्तव में यह दान उपर्युक्त साझेदारी की शर्त पर ही निर्भर है। यह स्वाभाविक है कि जो रुपया पानेवाला है वह उसके प्रति जिम्मेवार हो जिससे उसे रुपया मिलता है। अतएव भारतीय चर्च भी उन बिदेशों के प्रति ऋणी और कृतज्ञ रहते हैं जिनसे उन्हें सहायता प्राप्त होती है। रेवेरेण्ड आर० सी० दास ने इस बात को जोरदार शब्दों में कहा है। यह कहना कि 'क', एक बिशेष उद्देश्य के 'ख' से रुपया प्राप्त करता है और फिर वह 'ख' का बराबर साझीदार भी है तो यह परस्पर-विरोधी बात है और समझ में नहीं आ सकती।

अमेरिकन मिशनरियों की संख्या में असाधारण वृद्धि—यदि भारत में चर्च सच-मुच ही स्वतन्त्र हैं तो उनके सम्बन्ध में यह विश्बास स्थापित होना चाहिए कि वे अपना कार्य स्वयं बिना बाहरी लोगों की सहायता से चला सकते हैं। किन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि बाहरी मिशनरियों की संख्या में एक आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। यह मान भी लिया जाए कि वे भारत में यहाँ के गरीब और दुःख से पीड़ित लोगों के प्रति करुणा की भावना से आए हैं, तो फिर यह समझ में नहीं आता कि वे अपनी सारी चेष्टा केवल कुछ विशेष लोगों के प्रति और वह भी केबल धर्म-परिवर्तन की ही दृष्टि से क्यों केन्द्रित कर रहे हैं। इन बातों से पता चलता है कि बिदेशी मिशनरियों की यह बड़ी संख्या यहाँ केबल आध्यात्मिकता के उद्देश्य से ही नहीं आई है। डॉ० आसीर्बाथम ने इस बात को इन शब्दों में प्रकट किया है—यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में इतना ही हिन्दू मिशनरियों का प्रवाह चला जाए जितना कि ईसाई मिशनरियों का प्रवाह अमरीका से

भारत में आया है, तब इससे पता चल सकता है कि अमेरिका में कितनी सहनशीलता या सहिष्णुता है।

धर्म और समाज—किसी एक व्यक्ति के लिए एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म में जाने का अर्थ यह है कि वह अपनी परम्परागत जीवनधारा को छोड़कर तथा जिस वातावरण में वह जन्मा और पला है उसको त्यागकर दूसरी जीवनधारा और वातावरण में प्रवेश करे। ऐसी दशा में अपने धर्म को छोड़कर जो मनुष्य दूसरे धर्म या मत में प्रवेश करता है, वह स्वयं को अपने समाज से बहिष्कृत करता है। यही कारण है कि आज तक ईसाइयत को भारत में एक विदेशी धर्म समझा जाता है, क्योंकि जो लोग ईसाई बना लिये जाते हैं उनपर विदेशी सभ्यता और संस्कृति अपना प्रभाव जमा लेती है।

यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि जिन तरीकों से लोग ईसाई बनाए जाते हैं, वे भारतीय विधान में दी गई धार्मिक स्वतन्त्रता और छूट का दुरुपयोग है।

सरगुजा जिले में सामूहिक रूप से जिस प्रकार लोगों का धर्म-परिवर्तन कराया गया है, उसके सम्बन्ध में यह कभी नहीं कहा जा सकता कि वह धार्मिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत किया गया है। ऐसे सामूहिक धर्म-परिवर्तन की गांधीजी ने बहुत निन्दा की थी। इसे डॉ० स्टेनले जोन्स ने भी बुरा माना था, क्योंकि इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन से ईसाई बने हुए लोगों में किसी प्रकार का नैतिक अथवा आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता था। डॉ० निकोल ने भी ऐसे सामूहिक धर्म-परिवर्तन के आन्दोलन को भारतीय चर्च के उत्थान में एक रोड़ा माना है। कई स्थानों पर जिस प्रकार मिशनरियों का आन्दोलन चल रहा है, उसे देखते हुए यह स्पष्ट विदित होता है कि यह धर्म-परिवर्तन का आन्दोलन एक राजनैतिक प्रयोजन से किया जा रहा है। यदि कोई कार्यवाही वास्तव में राजनैतिक हो, किन्तु उसे धर्म के परदे के भीतर चलाया जाए, तो ऐसी गतिविधि किसी राष्ट्र की रक्षा के लिए खतरे से खाली नहीं कही जा सकती।

हमारी सिफारिश है कि जिन मिशनरियों का प्राथमिक उद्देश्य धर्म-परिवर्तन है, उनको वापस भेज दिया जाए। विदेशी मिशनरियों का देश के अन्दर बड़ी संख्या में आना उचित नहीं है। इसको रोकना चाहिए। कई-एक देशों में, जैसाकि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, कुछ समय से इस सम्बन्ध में मिशनरी लोग स्वयं यह सोचने लग गए हैं कि एक-न-एक दिन उन्हें यहाँ से वापस जाना ही पड़ेगा।

भारत में जो विदेशों से धन आता है, उसके बारे में भी विचार करना पड़ेगा। यदि विदेशी मिशनरियों को वापस भी भेज दिया जाए और यदि चर्च की जो सम्पत्ति है वह भारतीय चर्च के नाम हस्तान्तरित भी कर दी जाए, तब भी समस्या हल नहीं होगी, जब तक कि बाहर से आनेवाले धन पर कोई नियन्त्रण अथवा शर्त न लगाई जाए। क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो भारतीय चर्च सदा विदेशों के इशारे पर ही चलता रहेगा।

अस्पतालों और चिकित्सालयों का दुरुपयोग—जनता के धर्म-परिवर्तन के लिए अस्पताल और चिकित्सालय एक विशेष साधन रहे हैं। इन साधनों को धर्म-परिवर्तन के लिए उपयोग करने के सम्बन्ध में ईसाई लोग यह कहते हैं कि ईसा ने अपने शिष्यों को लोगों को शिक्षा देने तथा उनकी सेवा करने के लिए आदेश दिया था। परन्तु बाइबिल के वाक्यों की इस प्रकार की व्याख्या न्यायसंगत नहीं है।

बात यह है कि अस्पताल और चिकित्सालय रोगियों को ईसाई बनाने के लिए

एक प्रलोभन का काम देते हैं। डॉ० थिरूमल्लई (सागर) ने, जो एक ईसाई हैं, कहा कि यदि कोई ईसाई डॉक्टर अस्पताल में किसी रोगी के सामने ईसा को रखता है, तो इसमें कोई बुराई नहीं है।

परन्तु कानून की दृष्टि में डॉक्टर और रोगी के बीच या वकील और उसके मुवक्किल के बीच या एक अध्यापक और उसके शिष्य के बीच जो सम्बन्ध है वह एक ट्रस्ट और ट्रस्टी का सम्बन्ध है और यदि कोई डॉक्टर, वकील या अध्यापक रोगी, मुवक्किल और शिष्य पर प्रभाव या दबाव डालता है तो यह अनुचित करता है। इसलिए अस्पताल और चिकित्सालय के द्वारा ईसाई मत का प्रचार सर्वथा निन्दनीय है।

स्वयं गांधीजी ने भी अस्पतालों को धर्म-परिवर्तन के लिए उपयोग में लाने की निन्दा की थी। समाज के निर्बल और असहाय समुदाय की रक्षा करना सरकार का एक कर्त्तव्य है इसलिए हम सिफारिश करते हैं कि अस्पताल, औषधालय तथा अन्य सेवा-सम्बन्धी संस्थाओं का धर्म-परिवर्तन के साधन के रूप में उपयोग कानून द्वारा बन्द कर दिया जाए।

स्कूल तथा शिक्षालय—स्कूलों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि रोमन कैथोलिक मिशनरी गाँवों में प्राथमिक विद्यालयों के द्वारा धर्म-परिवर्तन का कार्य करते हैं। उनकी योजना अगली पीढ़ी को अपने हाथ में लेने की है। हमारे सामने ऐसी बहुत-सी शिकायतें रखी गईं कि वे किन भिन्न-भिन्न उपायों से प्राइमरी स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों को अपने प्रभाव में लाते हैं। लूथरन मिशन स्कूलों का उपयोग केवल छोटे बच्चों को धर्मान्तरित करने में ही करते हैं। 'घरबन्धु' नामक ईसाई पत्र के मार्च १९५३ के अंक में पृष्ठ ८ पर लिखा है—

"इस मिशन क्षेत्र का उद्देश्य यह है कि स्कूल द्वारा मसीह का प्रचार किया जावे।..."

हमारे विधान में एक स्पष्ट धारा इस आशय की है कि किसी भी विद्यार्थी को बिना उसके माता-पिता और संरक्षक की विशेष अनुमति के किसी धर्म की कक्षा में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। हमने अपनी जाँच के बीच यह मालूम किया है कि हमारे उक्त वैधानिक आदेश का सही तरीके से पालन नहीं किया जाता।

हमने यह भी पाया कि रोमन कैथोलिक चर्च श्रमिकों की भर्ती करता है और इसे उसने धर्म-परिवर्तन का साधन बना रक्खा है। हम सिफारिश करते हैं कि धार्मिक संस्थाओं को इस प्रकार के कार्यों से रोका जाए।

अनाथालय अल्प-वयस्कों के धर्मान्तर के लिए एक बहुत उत्तम क्षेत्र है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि धर्म-परिवर्तन से किस प्रकार राजनैतिक उलझन खड़ी हो जाती है। अतः यह सरकार का प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वह स्वयं अनाथालयों का संचालन करे। क्योंकि राज्य ही ऐसे नाबालिग बच्चों का वैधानिक रूप से अभिभावक है जिनके माता-पिता, या अभिभावक नहीं हैं।

चूँकि हमारा कर्त्तव्य सरकार के सम्मुख अपनी सिफारिशें रख देने का है, हम केवल वही सुझाव रखेंगे जिन पर हमारी सरकार हमारे विधान के अन्तर्गत चल सकती है। परन्तु मिशनरी समस्या से भारत में जो एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसे दृष्टि में रखते हुए हम यह उचित समझते हैं कि मध्य प्रदेश में जो खास-खास मिशन-

संस्थाएँ कार्य कर रही हैं, उनके समक्ष भी कुछ सुझाव रखें।

भारतीय ईसाई बड़े उच्च स्वर से स्वतन्त्र भारत के प्रति अपनी निष्ठा (वफ़ादारी) की घोषणा कर रहे हैं। रोमन कैथोलिक ईसाई इस सम्बन्ध में सबसे आगे हैं। फिर भी उनके प्रति सन्देह बना हुआ है। इसका कारण यह है कि भारतीय ईसाई विदेशी प्रभाव में हैं और पश्चिमी देश भारत को साम्यवाद से बचाने की चेष्टा में हैं। यदि रोमन कैथोलिक मिशन कांग्रेस सरकार का समर्थन करते हैं तो केवल इसलिए कि यह सरकार कम्यूनिस्ट-विरोधी है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत को कम्यूनिज्म से बचाये रखने के लिए रोमन कैथोलिक मिशन और अमरीकी धन के बीच एक अपवित्र सन्धि-सी हो गई है। हमारे राष्ट्रीय प्रयत्नों का, जैसे हरिजन सेवक संघ द्वारा किये गए हरिजनों के प्रति सामाजिक और आर्थिक अन्याय को दूर करने के आन्दोलन का, कस्तूरबा ट्रस्ट के द्वारा स्त्री-जाति की सेवा का, तथा राष्ट्रीय सरकार द्वारा समाज-कल्याण जैसे कार्यों का, मिशनरियों तथा भारतीय ईसाइयों द्वारा, उपेक्षा तथा विरोध यह संकेत करता है कि वे लोक-कल्याण में रुचि नहीं रखते। उनका मुख्य प्रयोजन लोगों को ईसाई बनाना है। वर्तमान धर्म-निरपेक्ष भारत में अल्पसंख्यकों के लिए सबसे बड़ी सुरक्षा इसमें है कि वे बहुसंख्यकों की उदारता तथा शुभेच्छा में विश्वास तथा भरोसा करें। ऐसा करने में ईसाइयों की कोई भी क्षति की सम्भावना नहीं है। मध्यप्रदेश में ईसाइयों के प्रति कोई भेद-भाव नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि उन्हें अपनी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक स्थान और नौकरियाँ आदि मिली हुई हैं। ईसाईस्थान या मसीहीस्थान की पुकार सर्वथा अविवेकपूर्ण और भयानक है। धर्म के नाम पर भारत का जो विभाजन हुआ और विभाजन के समय जो भयानक मारकाट हुई, वह हमें अभी स्मरण है। अतएव देश की सुरक्षा और संगठन को जिस बात से धक्का पहुँचे, वह स्वतन्त्र भारत को सह्य न होगी। आज एक भारतीय चाहे वह उच्च वर्ण का हो अथवा आदिवासी, हिन्दू हो या ईसाई, जिसका हृदय उन्नति की ओर अग्रसर होते हुए अपने देश के प्रति प्रेम और श्रद्धा से रहित है, वह अपने-आपके प्रति ईमानदार नहीं है और देश-द्रोही है। हम ईसाइयत को भारत में सच्चे भारतीय रूप में और सच्चे ईसाई रूप में देखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि भारत के सभी धर्म एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हुए राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर आगे ले चलें।

हम अपनी सरकार से सिफारिश करते हैं कि वह ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित संस्थाओं के अधिकारियों और प्रतिनिधियों के नाम तथा सर्वसाधारण ईसाइयों के नाम एक अपील प्रकाशित कर उनसे कहे कि वे सब एकत्र होकर अपनी एक उत्तरदायी संस्था बनायें, जो सरकार को ईसाई धर्मप्रचार के सम्बन्ध में अपनाई जानेवाली नीति तथा धर्म-परिवर्तन के लिए उपयोग में लानेवाले साधनों और उन प्रयत्नों को स्पष्ट करें, जो नागरिक अनुसासन, नैतिकता और स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुचित नहीं।

हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि कुछ लोगों में यह धारणा फैली हुई है कि भारतीय विधान की २५वीं धारा के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति, चाहे वह विदेशी क्यों न हो और अस्थायी रूप से ही भारत में क्यों न रह रहा हो, उसको अपने धर्म के प्रचार का पूर्ण अधिकार है और इस अधिकार के अन्तर्गत उसको दूसरे लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने का अधिकार भी सम्मिलित है। यह बहुत विवादास्पद बात है कि धर्म-

प्रचार की जो सुविधा अथवा अधिकार दिया गया है, उसमें दूसरे को धर्मान्तरित करने का अधिकार भी सम्मिलित है या नहीं। हम यह आवश्यक समझते हैं कि इस बात को इस प्रकार अस्पष्ट या असंदिग्ध नहीं छोड़ देना चाहिए। हमारी राय में विधान में संशोधन करके यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि धर्म-प्रचार का अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को दिया गया है। दूसरा संशोधन यह होना चाहिए कि दबाव, छल-कपट या किसी अनुचित उपाय द्वारा किये गए धर्मान्तरण को मान्यता नहीं दी जाएगी।

यह बात सदा से विवाद का विषय बनी हुई है कि ईसाई मत में धर्मान्तरित करने के लिए जो तरीके अपनाये जाते हैं, वे अनुचित हैं। हमें अपनी जाँच से पता चला है कि ऐसे अनुचित तरीके व्यापक रूप से अपनाये गए हैं और ऐसे धर्म-परिवर्तन के उदाहरण तो बहुत ही कम हैं जो विश्वास और आत्म-प्रेरणा से हुए हैं। पहले जो कुछ भी हुआ हो परन्तु हम नहीं चाहते कि इस सम्बन्ध का यह विवाद भविष्य में भी ऐसा ही बना रहे। इसलिए हमारी सिफारिश है कि जो धर्म-परिवर्तन अनुचित ढंग से होते हैं, उनपर उचित नियन्त्रण रखा जाए, और यदि इसके लिए कानून की आवश्यकता हो तो कानून भी बनाये जाएँ। हमारी सम्मति में इस प्रकार के जो कानून बने, उनके द्वारा उन समस्त धार्मिक संस्थाओं का रजिस्ट्रेशन अनिवार्य हो जाना चाहिए, जो धर्म-परिवर्तन का कार्य करती हैं अथवा दूसरे धर्म के लोगों की सामाजिक सेवा के कार्य में लगी हुई हैं। ऐसी संस्थाओं की समस्त सम्पत्ति को एक पब्लिक ट्रस्ट के अधीन रखना उचित होगा और ऐसे ट्रस्टों को आदेश होगा कि दे अपना हिसाब-किताब एक नियमित ढंग से रखें और उसकी बाकायदा जाँच सरकार द्वारा नियुक्त चार्टर्ड एकाउँटैंट से करायें। उन्हें अपने आय-व्यय का हिसाब जनसाधारण की जानकारी के लिए भी प्रकाशित कर देना चाहिए। इसी प्रकार कानून द्वारा ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए कि ऐसे गैर-ईसाइयों की, जो ईसाई धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखते हैं अथवा जो ईसाई धर्म में दीक्षित हुए हैं, उनकी एक सूची उनके नाम-पता सहित प्रति मास या तीन-तीन मास पर सरकार के पास पहुँचनी चाहिए।

हम यह भी सिफारिश करते हैं कि किसी व्यक्ति को भी बप्तिस्मा लेने अथवा देने की आज्ञा तबतक नहीं होनी चाहिए जब तक कि इसके बारे में स्थानीय तथा जिला बोर्ड ने सिफारिश न की हो और उस सिफारिश को प्रान्तीय बोर्ड का अनुमोदन न प्राप्त हो गया हो। इसी प्रकार बिना सरकारी बोर्ड की आज्ञा के कोई स्कूल और कोई अस्पताल इत्यादि भी नहीं खोला जाना चाहिए।

जितना शीघ्र हमारी सरकार अपना यह उत्तरदायित्व समझ लेगी कि परिगणित क्षेत्रों में बसनेवाले लोगों में शिक्षा, स्वास्थ्य और ओषधि आदि की व्यवस्था करना उसका ही कर्त्तव्य है, उतना ही शीघ्र अशिक्षित आदिवासी धर्मान्तर से बचाये जा सकेंगे। हम सिफारिश करते हैं कि सरकार एक ऐसी नीति निर्धारित करे कि जिससे इन क्षेत्रों में सामाजिक सेवाओं का उत्तरदायित्व स्वयं सरकार पर ही हो और ऐसी सेवाएँ शीघ्र-से-शीघ्र चालू की जाएँ। गैर-सरकारी संस्थाओं को केवल अपने धर्म के लोगों के लिए ही सामाजिक सेवा-संस्थाओं को चलाने की अनुमति दी जाए।

हम निम्नलिखित कुछ और भी सिफारिश करते हैं—

१. किसी भी गैर-सरकारी एजेन्सी को यह आज्ञा नहीं होनी चाहिए कि वह

बिना सरकारी अनुमति के बाहर विदेश से सहायता प्राप्त करे। विशेषज्ञ और प्रबन्धक के रूप में भी किसी विदेशी की नियुक्ति को विदेश से आनेवाली सहायता का ही अंग समझा जाना चाहिए।

२. किसी भी विदेशी को स्वतन्त्र रूप से अथवा परिगणित क्षेत्र में कार्य करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए जबतक कि वह इस बात का लिखित रूप में आश्वासन न दे दे कि वह राजनीति में भाग नहीं लेगा।

संक्षेप में कमेटी की सिफारिशें

पिछले अध्याय (पृष्ठों) में हमने जो सिफारिशें की हैं, संक्षेप से निम्न प्रकार हैं—

१. जिन मिशनरियों का मुख्य उद्देश्य केवल धर्म-परिवर्तन ही है, उन्हें वापस जाने के लिए कहा जाए। देश के भीतर विदेशी मिशनरियों का बहुत संख्या में आना अवांछनीय है और इसकी रोक-थाम होनी चाहिए।

२. भारतीय चर्च के लिए सबसे प्रथम मार्ग यह है कि वह भारत में एक संयुक्त स्वतन्त्र ईसाई चर्च की स्थापना करे, जो विदेश से आनेवाली सहायता पर निर्भर न रहे।

३. ऐसी चिकित्सा-सम्बन्धी सेवाओं अथवा अन्य सेवाओं को, जो धर्म-परिवर्तन-कार्य के लिए काम में लाई जाती हों, कानून द्वारा वर्जित कर देना चाहिए।

४. भारतीय विधान में बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षा-सम्बन्धी भी कुछ धाराएँ हैं, जिनके अनुसार बिना माता-पिता अथवा संरक्षक की मर्जी के उनके बच्चों को धार्मिक शिक्षा देना वर्जित है। उन धाराओं को कार्यान्वित करने के लिए शिक्षा-विभाग को चाहिए कि वह तत्सम्बन्धी फार्म इत्यादि तैयार करे और उनको सब स्कूलों में वितरण करे।

५. कोई भी ऐसी चेष्टा या प्रयत्न, जिसके द्वारा दबाव से, छल-कपट से या अनुचित भय दिखाकर अथवा आर्थिक या दूसरी प्रकार की सहायता का आश्वासन देकर ऐसा प्रयास किया जाए जिससे कि दूसरे के धार्मिक विश्वास बदल जाएँ, और जिससे कि उसकी धार्मिक मान्यताएँ बदलकर धर्मान्तर करनेवाले की ही भाँति बन जाएँ, तो ऐसी चेष्टाओं को सर्वथा रोक देना चाहिए।

६. धार्मिक संस्थाओं को यह छूट नहीं होनी चाहिए कि वह चाय के बगीचों के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए श्रमिकों को भर्ती कर सकें।

७. सरकार का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह अनाथालयों का स्वयं संचालन करे, क्योंकि जिन नाबालिगों के माता-पिता या संरक्षक नहीं हैं, उनकी वैधानिक संरक्षक सरकार ही है।

८. सरकार को चाहिए कि वह बड़ी-बड़ी और प्रतिनिधि मिशनरी संस्थाओं तथा समस्त ईसाइयों के लिए एक अपील निकाले कि वे सब एकत्र होकर अपनी एक उत्तरदायी संस्था स्थापित कर लें, जिनका कर्त्तव्य यह हो कि वह सरकार की सूचना के लिए अपनी नीति स्पष्ट शब्दों में निर्धारित करे कि मिशन और ईसाई लोगों को अपने धर्म के प्रचार में किस प्रकार कार्य करना उचित होगा, और धर्म परिवर्तन के लिए वे क्या-क्या साधन काम में लाएँगे।

९. भारतीय विधान में संशोधन की चेष्टा होनी चाहिए ताकि यह बात स्पष्ट

हो जाए कि विधान में जो धर्म-प्रचार का अधिकार दिया गया है, वह केवल भारतीय नागरिकों के लिए ही है। परन्तु इसके अन्तर्गत धर्म-परिवर्तन के ऐसे मामले नहीं आते जहाँ धर्म-परिवर्तन दबाव, धोखा, छल-कपट अथवा दूसरे अनुचित उपायों से किया जाता है।

१०. जो धर्म-परिवर्तन अनुचित ढंग से किये जाते हैं, उनपर उचित नियन्त्रण रखा जाए और इसके लिए यदि कानून बनाने की आवश्यकता हो तो कानून बनाया जाए।

११. ऐसे गैर-सरकारी सलाहकारी बोर्ड प्रान्तीय स्तर पर तथा जिला स्तर पर स्थापित किये जाएँ, जिनमें अल्पसंख्यकों का, जैसे आदिवासियों तथा हरिजनों का, प्रतिनिधित्व बहुसंख्या में हो।

१२. डॉक्टर, नर्स तथा दूसरे व्यक्ति जो अस्पतालों में कार्य करते हैं, उनके रजिस्ट्रेशन के सम्बन्ध में जो नियम-कानून इत्यादि हैं उनका संशोधन हो जाना चाहिए और उनमें यह शर्त रख देनी चाहिए कि वे जबतक उक्त सेवा-कार्य के लिए वहाँ नियुक्त हैं तब तक धर्म-प्रचार-सम्बन्धी कार्यों में भाग नहीं ले सकते।

१३. धर्म-प्रचार के लिए जो भी साहित्य हो, वह बिना सरकार की अनुमति के वितरण नहीं किया जाना चाहिए।

१४. जिन संस्थाओं को सरकार की ओर से सहायता मिलती है अथवा जिन्हें सरकारी मान्यता प्राप्त है, उनका मासिक निरीक्षण सरकारी अफसरों द्वारा अवश्य होना चाहिए।

१५. सरकार एक ऐसी नीति निर्धारित करे कि आदिवासियों तथा परिगणित जाति के लोगों तथा पिछड़ी हुई जातियों के लिए समाज-सेवा-सम्बन्धी कार्य जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा इत्यादि को सरकार स्वयं अपना उत्तरदायित्व मानकर उक्त प्रकार की सेवाएँ वहाँ शीघ्र-से-शीघ्र चालू करे। उन क्षेत्रों में ऐसी जो गैर-सरकारी संस्थाएँ हों उन्हें केवल अपने धर्म के लोगों के बीच ही सेवाकार्य करने की अनुमति दी जाय।

१६. राजकीय स्तर पर सांस्कृतिक तथा धर्म-सम्बन्धी कामों के लिए सरकार की ओर से एक पृथक् विभाग स्थापित होना चाहिए, जिसका सम्बन्ध उपर्युक्त बातों से हो। ऐसा विभाग एक मन्त्री के आधीन होना चाहिए और वह मन्त्री परिगणित जाति अथवा दूसरी पिछड़ी जातियों में से हो।

१७. किसी गैर-सरकारी संस्था को यह आज्ञा नहीं होनी चाहिए कि वह बिना सरकारी स्वीकृति के विदेश से किसी प्रकार की सहायता प्राप्त करे।

१८. किसी भी विदेशी को स्वतन्त्र रूप से अथवा किसी धार्मिक संस्था के सदस्य होने के नाते, परिगणित अथवा बहिष्कृत क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति नहीं दी जाए जबतक कि वह लिखित रूप में यह आश्वासन न दे दे कि वह राजनीति में भाग नहीं लेगा।

१९. गैर-सरकारी अथवा धार्मिक संस्थाओं के पास यदि कोई सामाजिक और आर्थिक उत्थान का कार्यक्रम हो तो उसको सबसे पहले सरकारी अनुमोदन मिलना चाहिए।

धन्यवाद और कृतज्ञता-ज्ञापन

सात-सात सौ के लगभग पृष्ठों के सात भागों में आर्यसमाज के इतिहास के सम्पादन व प्रकाशन का जो संकल्प हमने सन् १९८० ई० में किया था, वह अब पूरा हो गया है। इतिहास का सातवाँ भाग आपके हाथों में है, और छः भाग पहले प्रकाशित हो चुके हैं।

इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में जिन विद्वानों, संन्यासियों, नेताओं, प्रचारकों तथा अन्य महानुभावों ने हमारी सहायता की, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा कर्तव्य है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती, परोपकारिणी सभा के प्रधान स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती और यति-मण्डल के अध्यक्ष स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती का आशीर्वाद एवं संरक्षण हमें प्रारम्भ से ही प्राप्त रहा है। आर्यसमाज के इतिहास के लिए आर्थिक साधन जुटाने में पंडित सत्यदेव जी भारद्वाज वेदालंकार ने जो उत्साह प्रदर्शित किया, उसके लिए शब्दों द्वारा धन्यवाद दे सकना सम्भव ही नहीं है। पण्डित जी स्वयं हमारे संरक्षक-सदस्य बने। उनकी सहधर्मिणी श्रीमती गायत्री देवी जी हमारी संरक्षिका बनीं, और इस आर्य-दम्पती की प्रेरणा से नैरोबी (केनिया) में नौ व्यक्ति और लण्डन में चार व्यक्ति हमारे संरक्षक-सदस्य बनने को तैयार हो गये। यही नहीं, पण्डित सत्यदेव जी ने १५ हजार के लगभग रुपयों के 'इतिहास' के सेट भी इस प्रयोजन से क्रय किये, ताकि उन्हें केनिया की शिक्षण-संस्थाओं तथा संभ्रान्त लोगों को उपहार रूप से प्रदान कर सकें।

कलकत्ता आर्यसमाज (१९ विधान सरणी) की हम पर विशेष कृपा रही है। प्रो० उमाकान्त जी उपाध्याय और पण्डित प्रियदर्शन जी जैसे विद्वानों और श्री गजानन्द आर्य, श्री सीताराम आर्य, पण्डित सुखदेव शर्मा, श्री पूनमचन्द आर्य और श्री राजेन्द्र-प्रसाद जायसवाल सदृश आर्य नेताओं तथा कर्मठ कार्यकर्त्ताओं के प्रयत्न से कलकत्ता के कितने ही महानुभाव हमारे संरक्षक व प्रतिष्ठित सदस्य बने, और बहुत-से नर-नारियों ने 'इतिहास' के सातों भागों के पूरे सेट का ग्राहक बनना स्वीकार किया। बम्बई में काकड़वाड़ी, फोर्ट और सान्ताक्रुज के आर्यसमाजों ने इस 'इतिहास' का उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और श्री तिलकराज अग्रवाल, श्री गणपतराय आर्य, श्रीमती सुमित्रा अमीन, श्री बजरंगलाल गोयल और श्री प्रकाशचन्द्र मूना आदि की प्रेरणा व सहयोग से वहाँ के कितने ही महानुभाव हमारे संरक्षक-सदस्य, प्रतिष्ठित सदस्य और साधारण सदस्य बन गये। श्री तिलकराज अग्रवाल सच्चे अर्थ में आर्यश्रेष्ठि थे। धर्म तथा समाज के कार्यों के लिए वे मुक्तहस्त से दान दिया करते थे। हम पर भी उनकी कृपा थी। वे स्वयं हमारे संरक्षक-सदस्य बने। अपने परिवार के सब सदस्यों को हमारा प्रतिष्ठित सदस्य बनाया, और बम्बई के सम्भ्रान्त वर्ग को इस 'इतिहास' से परिचित कराने के लिए एक विशेष आयोजन भी किया।

आर्यसमाज के जिन अन्य नेताओं का हमें पूर्ण समर्थन व सहयोग प्राप्त हुआ, उनमें श्री सोमनाथ मरवाह तथा श्री वीरेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री सोमनाथ जी प्रसिद्ध व प्रतिष्ठित एडवोकेट हैं और चिर काल से सार्वदेशिक सभा के कोषाध्यक्ष हैं। सन् १६८० ई० के प्रारम्भ में जब इस 'इतिहास' की योजना प्रकाशित हुई, तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ इसका स्वागत किया। सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा के समक्ष इस योजना के प्रस्तुत होने पर श्री सोमनाथजी ने ही यह प्रस्ताव रखा था कि सभा द्वारा इस "इतिहास" के लिए पच्चीस हजार रुपये प्रदान किये जाएँ। वे स्वयं हमारे संरक्षक-सदस्य बने, और साथ ही ८,५०० रुपये मूल्य के "इतिहास" के भाग क्रय करके उन्हें इस प्रयोजन से अपने मित्रों को प्रदान किया, ताकि वे आर्यसमाज के कार्यकलाप के परिचय प्राप्त कर सकें। श्री वीरेन्द्र आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता हैं, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के वे प्रधान हैं, और चिर काल तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति (चान्सलर) रहे हैं। पंजाब के आर्य संसार को इस "इतिहास" का परिचय कराने और इसे समर्थन प्राप्त कराने में जो सहायता उन्होंने प्रदान की, उसके लिए हम किन शब्दों में उन्हें धन्यवाद दें !

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार और डॉक्टर हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार ने इस 'इतिहास' के लिए आर्थिक साधन जुटाने में जो श्रम किया, वह अत्यधिक महत्त्व का है। वे स्वयं हमारे संरक्षक-सदस्य बने, और कितने ही महानुभावों को उन्होंने हमारा प्रतिष्ठित सदस्य बनाने तथा पूरे सेट के ग्राहक बनने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रकार का सक्रिय सहयोग हमें स्वामी सच्चिदानन्द जी, श्रीमती कमला जी आर्या, श्री योगेन्द्र अवस्थी, श्री ओम्प्रकाश वेदालंकार तथा श्री प्रह्लाद कुमार आर्य द्वारा प्राप्त हुआ। आर्य नर-नारियों को इस "इतिहास" की उपयोगिता से अवगत कराने तथा इसके संरक्षक व प्रतिष्ठित सदस्य बनाने या पूरे सेट के ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करने में जो परिश्रम उन्होंने किया, वह अत्यन्त सराहनीय है। इस प्रसंग में अमृतसर की श्रीमती कौशल्या देवीजी का उल्लेख करना भी आवश्यक है। बहिन कौशल्याजी प्रतिष्ठित आर्य महिला हैं, वदिक धर्म में उन्हें अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक हाथ बँटाने में वे सदा तत्पर रहती हैं। उनके पति श्री सेठ कुन्दनलाल जी अग्रवाल भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के श्रद्धालु अनुयायी हैं। कौशल्या जी और कुन्दनलाल जी ने दस हजार रुपये इस "इतिहास" के लिए प्रदान किये, जिसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद प्रदान करते हैं।

आर्यसमाज के इतिहास के लिए आर्थिक साधन जुटाने के प्रयोजन से जो व्यक्ति हमारे संरक्षक-सदस्य एवं प्रतिष्ठित सदस्य बने, उनके सचित्र परिचयों को 'इतिहास' के सभी भागों में प्रकाशित किया जाता रहा है। इस सातवें भाग में भी उन सबके चित्र (संक्षिप्त जीवनवृत्त के साथ) विद्यमान हैं। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यह ढंग हम शुरू से अपनाते रहे हैं। पर इससे हम उनके ऋण से उऋण नहीं हो जाते। इस विशाल इतिहास को सम्पादित व प्रकाशित करने में हम जो सफल हो सके, वह इन महानुभावों के समर्थन व सहयोग से ही सम्भव हुआ है। हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं।

जो व्यक्ति "आर्यसमाज का इतिहास" के सातों भागों के पूर सेट के ग्राहक बन गये और जिन्होंने उसका रियायती मूल्य हमारे पास पेशगी जमा करा दिया, उन्हें हम

"सहायक सदस्य" कहते हैं। ऐसे सदस्यों की कुल संख्या ३४३ है। "इतिहास" के प्रत्येक भाग का मूल्य १०० रुपये हैं। पर पूरे सेट का रियायती मूल्य शुरू (सन् १९८० ई०) में ३०० रुपये रखा गया था, कागज, छपाई, जिल्द आदि की कीमत में वृद्धि के साथ-साथ जिसे बढ़ाकर बाद में ३५० रुपये (सन् १९८१ ईसवी में), ४०० रुपये (सन् १९८४ ई० में), ४५० रुपये (सन् १९८६ ईसवी में) और ५०० रुपये (सन् १९८७ ईसवी में) कर दिया गया। सातों भाग के पूरे सेटों के ग्राहकों में अच्छी बड़ी संख्या आर्यसमाजों और आर्य शिक्षण-संस्थाओं की है। सार्वदेशिक सभा ५० सेटों की ग्राहक है, और डी०ए०वी० कॉलिज मैनेजिग कमेटी २६ सेटों की। आर्यसमाज के अनेक कॉलिजों, गुरुकुलों और विद्या-पीठों आदि ने भी सातों भागों के पूरे सेटों की रियायती कीमत पेशगी प्रदान कर हमें सहायता पहुँचायी है। जिन सज्जनों ने अपने वैयक्तिक उपयोग के लिए इस 'इतिहास' के पूरे सेट का मूल्य हमें पेशगी प्रदान किया, उनके हम विशेष रूप से आभारी हैं, क्योंकि उन्होंने हमारी कार्यक्षमता और ईमानदारी पर विश्वास किया। हमें ज्ञात है कि आर्य सज्जनों तथा संस्थानों द्वारा साहित्य के प्रकाशन के सम्बन्ध में आकर्षक योजनाएँ बना-कर उनके लिए पेशगी रुपया प्राप्त कर लिया जाता है और बाद में यह शिकायत भी सुनने में आती है कि जिस साहित्य (वेदभाष्य आदि) के लिए रुपया प्राप्त किया गया था, वह या तो प्रकाशित ही नहीं हुआ और या कुछ खण्ड प्रकाशित होने के पश्चात् बन्द हो गया। इस कारण किसी योजना के लिए पेशगी रुपया देने में संकोच होना सर्वथा स्वाभाविक है। पर आर्य जनता ने हम पर विश्वास किया, और सैकड़ों व्यक्ति इस "इतिहास" के स्थायी ग्रहक बन गये। इन सबके नाम यहाँ दे सकना सम्भव नहीं है। इनमें से अनेक ऐसे भी हैं, जो बाद में हमारे प्रतिष्ठित-सदस्य बन गये। उनके सचित्र परिचय इस "इतिहास" में दे दिये गये हैं। पर अपने साधारण-सदस्यों (स्थायी ग्राहकों) में से कुछ के नाम व पते उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन की दृष्टि से यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१) श्री रामकृष्णय्या, सुगन्धा अगरबत्ती, माइसूर (२) आचार्य सत्यप्रिय शास्त्री, दयानन्द उपदेक महाविद्यालय, हिसार। (३) श्रीमती सुशीला पण्डित, आर्य कन्या गुरुकुल, पोरबन्दर। (४) डॉक्टर भारतभूषण वेदालंकार, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार। (५) श्री अर्जुनलाल नरेला, नीमच छावनी, मध्य प्रदेश। (६) श्रीमती अमृता पाल ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली। (७) श्री हरिश्चन्द्र, गुरु तेगबहादुर नगर, लखनऊ। (८) श्री खुशीराम सहगल, करोल बाग, नई दिल्ली। (९) श्री जितेन्द्र कुमार चूड़ामणि, पंचशील पार्क, नई दिल्ली। (१०) श्री यशपाल अग्रवाल, करोल बाग, नई दिल्ली। (११) श्री अजयकुमार भल्ला, हरध्यानसिंह रोड, नई दिल्ली। (१२) श्री ओम्प्रकाश सुनेजा, बीडन पुरा, नई दिल्ली। (१३) श्री वेदमित्र, आनन्दलोक, नई दिल्ली। (१४) डॉक्टर के०के० पसरीचा, जालन्धर। (१५) श्री रामलुभाया नन्दा, बस्ती गुजां, जालन्धर। (१६) वैद्य ओम्प्रकाश इन्दु, फगवाड़ा (कपूरथला)। (१७) श्री अमृतलाल गुलाटी, फगवाड़ा (कपूरथला)। (१८) प्रोफेसर जयदेव आर्य, बहादुरगढ़ (हरियाणा) (१९) श्री सत्यदेव एडवोकेट, लखनऊ। (२०) श्री तीर्थराम अहूजा, करोल बाग, नई दिल्ली। (२१) श्री सुरेश शर्मा, करोल बाग, नई दिल्ली। (२२) श्री बोधराज, करोल बाग, नई दिल्ली। (२३) श्री प्रेमचन्द गोयल, नया बाँस, दिल्ली। (२४) डॉक्टर सत्यव्रत राजेश, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार। (२५) स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती, समर्पण शोध संस्थान, नई दिल्ली।

(२६) श्री प्रेमपाल शास्त्री, आर्यसमाज शक्तिनगर, दिल्ली। (२७) श्री ओम्प्रकाश क्रीमवाले, नया बाँस, दिल्ली। (२८) श्रीमती कमला प्रधान, नया हैदराबाद, लखनऊ। (२६) श्री प्रभाकर आर्य, हिण्डोन सिटी (राजस्थान)। (३०) श्री आर० ए० सहगल, मोहल्ला कस्सबाग, कपूरथला। (३१) श्री प्रह्लाद कुमार आर्य, हिण्डोन सिटी। (३२) श्री ए० एस० चौधरी, गोविन्दपुरी, भोपाल। (३३)श्री प्रतापसिंह, गाँव इमलोटा, भिवानी। (३४) कविराज श्री भँवरलाल शर्मा, फुलेरा (राजस्थान)। (३५) डॉक्टर ओ० पी० बत्रा, वाराणसी। (३६)पण्डित राजेन्द्र शर्मा, औरंगाबाद। (३७)श्री रामवृक्ष-लाल वर्णवाल, बेतिया (बिहार)। (३८) श्री दीनदयाल गुप्त, महात्मा गांधी मार्ग, कलकत्ता। (३९) श्री जनरल स्टोर, लातूर। (४०) श्री के० एम० प्रभु, माइसूर। (४१) श्री भैरोलाल आर्य, मोहल्ला खेड़ा खदान, पार्श्वनाथ। (४२) श्री प्रकाशचन्द्र कलाकार, आर्यसमाज मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली। (४३) मन्त्री, स्त्री आर्यसमाज, (हरिद्वार)। (४४) श्री पण्डित सोमदत्त शास्त्री, बांद्रा वेस्ट, बम्बई। (४५) श्रीमती सुमित्रा अमीन, आर्यसमाज फोर्ट, बम्बई। (४६) श्री भगवती प्रसाद गुप्त, सागर विहार होटल, बम्बई। (४७) श्री महेन्द्र प्रताप शास्त्री, कन्या गुरुकुल, सासनी, हाथरस। (४८) श्रीमती प्रकाशवती अरोड़ा, सान्ताक्रुज, बम्बई। (४९) श्री मारवाड़ी नवयुवक पुस्तकालय, लातूर। (५०) श्री गोपाल शरण सक्सेना, ईस्ट आफ कैलाश, नई दिल्ली। (५१) चन्द्र आर्य विद्यामन्दिर, नई दिल्ली। (५२) श्री आर्य बालगृह, पटौदी हाउस, दिल्ली। (५३) श्री सत्यपाल पथिक, कृष्ण कोट, अमृतसर। (५४) श्री खूबीराम गुप्त, दिल्ली। (५५) श्री गुरुदत्त गौतम, राणा प्रताप बाग, दिल्ली। (५६) श्री सुरेन्द्र प्रताप हिन्दी, अशोक विहार, दिल्ली। (५७) श्री सतीश कुमार मित्तल, अम्बाला छावनी। (५८) श्री डा० रामरंग बाटला, अम्बाला छावनी। (५९) श्री द्विजेन्द्र कुमार पुरोहित, आर्यसमाज राजौरी गार्डन, नई दिल्ली। (६०) श्रीमती सीता पाल, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली। (६१)डॉक्टर विद्याप्रकाश, मेहबड़ कलाँ, रुड़की। (६२)पण्डित पृथ्वीराज शास्त्री, आर्यसमाज रानी बाग, नई दिल्ली। (६३) स्वामी सत्यपति, कमलानगर, दिल्ली। (६४) डॉक्टर रामनाथ वेदालंकार, गीता भवन, आर्यनगर, ज्वालापुर, हरिद्वार। (६५) प्रो० रत्नसिंह, गांधीनगर, गाजियाबाद। (६६) श्री सत्यपाल गुप्त, कमलानगर, दिल्ली। (६७) श्री चैतन्यस्वरूप, करोलबाग, नई दिल्ली। (६८) श्री नरसिंह राव आर्य, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)। (६९) श्री आदित्यपाल सिंह, चार इमली, भोपाल। (७०) श्री जे० एम० शर्मा, चण्डीगढ़। (७१) श्री कृष्णलाल चड्ढा, अमृतसर। (७२) पाण्डे सूर्यनारायण शर्मा, सिमरी, बिहार। (७३) श्री हर्षकुमार आर्य, हाडबाग, जबलपुर। (७४) श्री विजयसिंह गायकवाड़, जबलपुर। (७५) श्री वेदकुमार, आर्यसमाज ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली। (७६) श्री महेन्द्र प्रताप सिंह, एडवोकेट, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली। (७७) श्रीमती रश्मि कश्यप, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली। (७८) स्वामी वेदानन्द सरस्वती, रोपड़ (पंजाब)। (७९) श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, एडवोकेट, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली। (८०) श्रीमती सुनंदा नांगिया, स्त्री आर्यसमाज कलकत्ता-१४। (८१) श्री भृगुनाथ प्रसाद, डी० ए० वी० हाई स्कूल, आसनसोल। (८२) श्री सहदेव शर्मा, तांग्रा रोड, कलकत्ता। (८३) स्वामी रामेश्वरानन्द जी महाराज, गुरुकुल घरोण्डा, करनाल। (८४) डॉक्टर आर० एस० लाल, बड़ा मलहरा, छत्तरपुर। (८५) श्रीमती प्रेमलता गुप्ता, बंगलोर।

कतिपय आर्य संन्यासी, परिव्राजक, महात्मा, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी

महात्मा आर्यभिक्षु

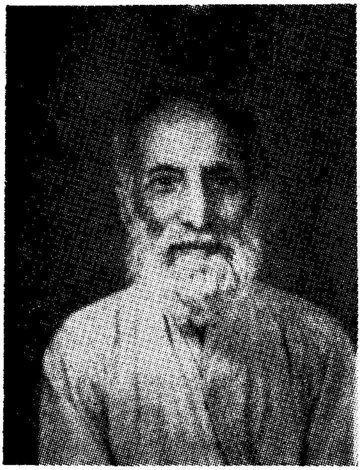

स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती

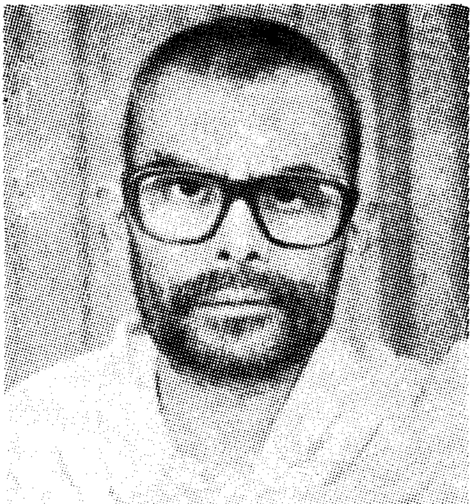

स्वामी लक्ष्मणानन्द सरस्वती

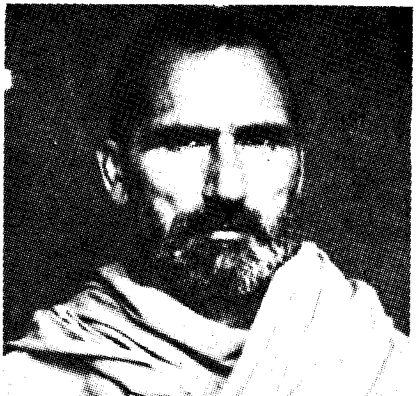

ब्रह्मचारी बलदेव नैष्ठिक

कतिपय आर्य संन्यासी, परिव्राजक, महात्मा, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी

स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती

स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती

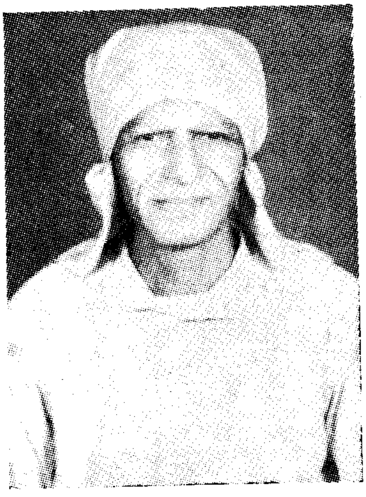

श्री रणजित् मुनि वानप्रस्थ

स्वामी ईशानन्द सरस्वती

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

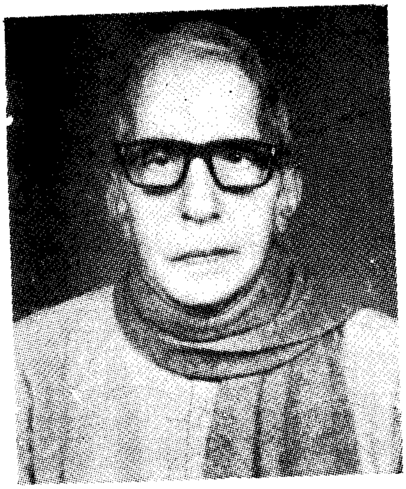

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आचार्य उमाकान्त उपाध्याय

सुदर्शन देव आचार्य

श्री वासुदेव शर्मा
पटना (बिहार)

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

पण्डित श्रीशचन्द्र शास्त्री

श्री यज्ञपाल शास्त्री

श्री श्रीपाल शर्मा आर्योपदेशक

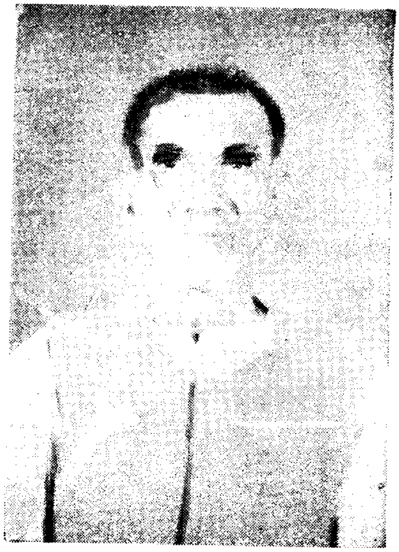

श्री सर्वेन्द्र शास्त्री

कतिपय आर्य संन्यासी, परिव्राजक, महात्मा, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी

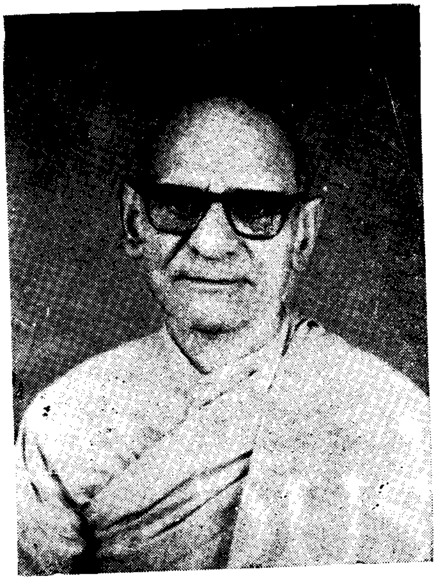

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
दिल्ली

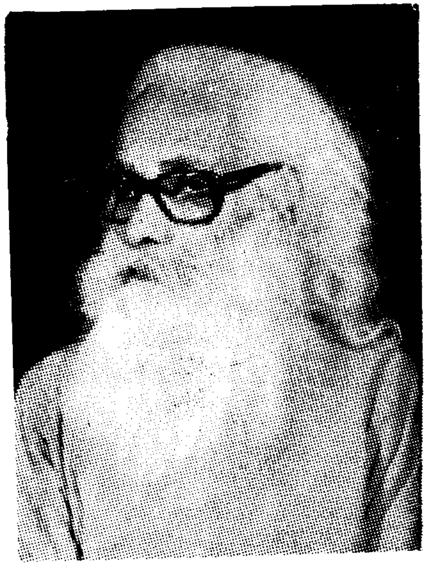

स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
नजीबाबाद

स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी सरस्वती
एटा

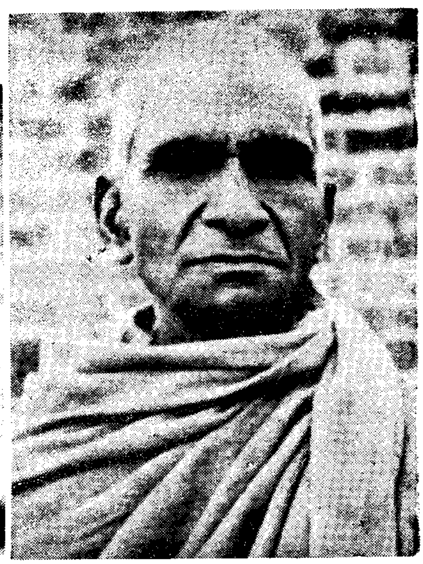

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
बयाना (भरतपुर)

कतिपय आर्य संन्यासी, परिव्राजक, महात्मा, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी

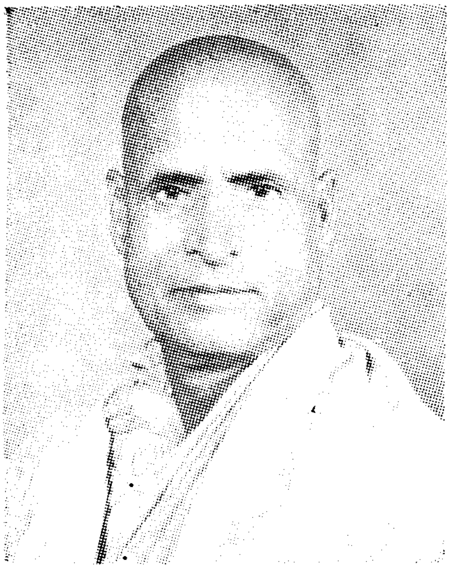

स्वामी त्यागानन्द सरस्वती
गुरुकुल अयोध्या

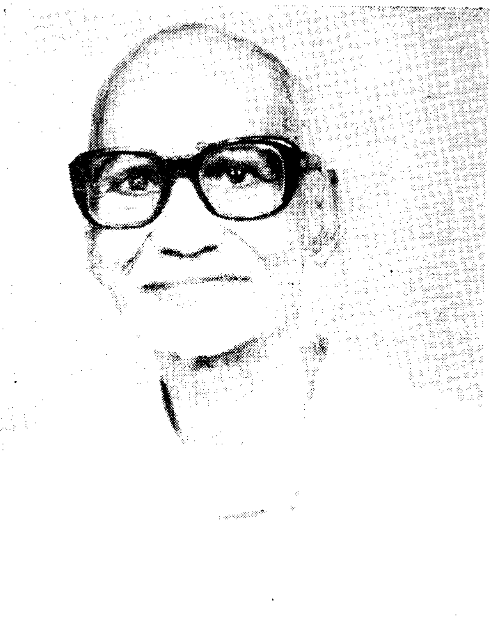

स्वामी उत्तममुनि वानप्रस्थी
लातूर (महाराष्ट्र)

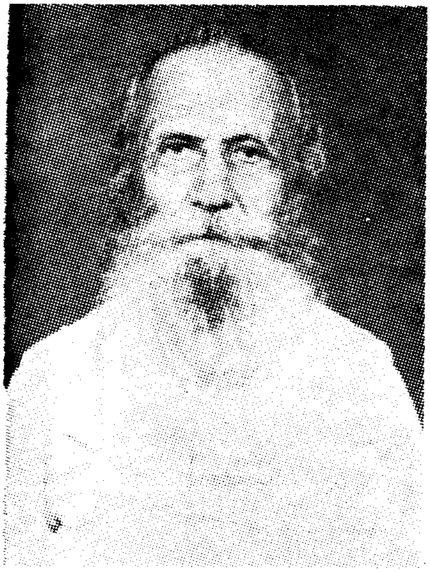

स्वामी देवमुनि वानप्रस्थी

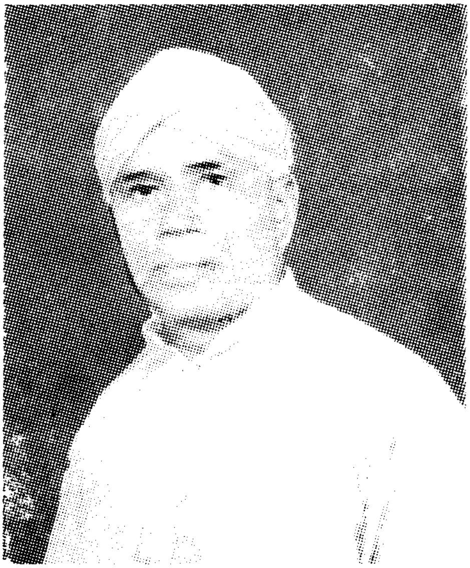

स्वामी सत्यपति महाराज
साबरकांठा (गुजरात)

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

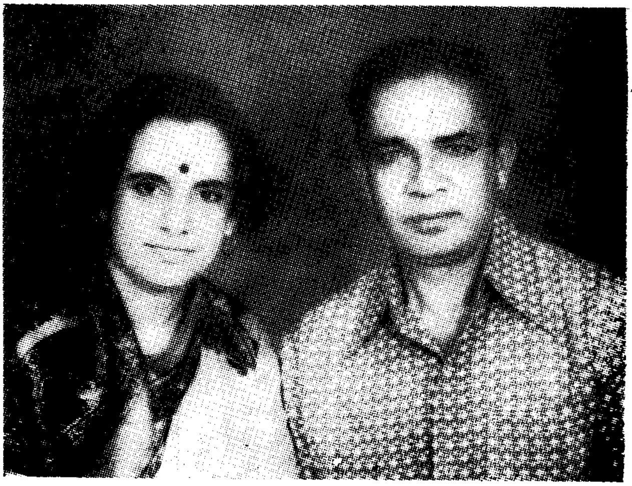

श्री ज्ञानचन्द्र रंगन और श्रीमती रंगन

श्री अर्जुनदेव बगाई

श्री बनवारीलाल आर्य

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

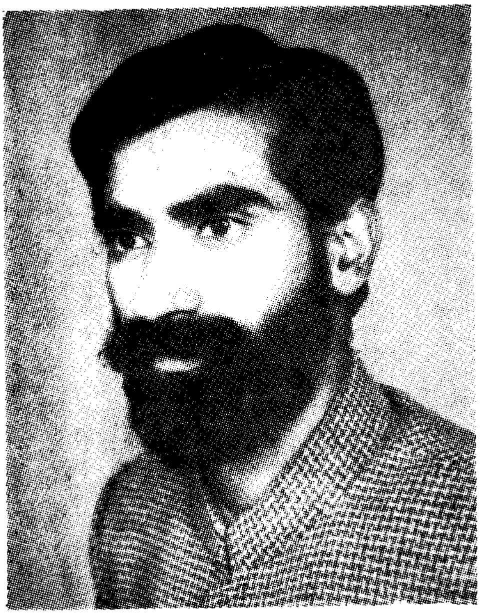

श्री दत्तात्रेय चैतन्य

श्री विद्याधर (चम्बा)

श्री श्यामसुन्दर आर्य

श्रीमान् कर्मचन्द्र (गाजियाबाद)

(८६) श्रीमती कान्ता गुप्ता, सूरत। (८७) श्री महेन्द्र कुमार चौधरी, सूरत। (८८) श्रीमती विजयलक्ष्मी, सूरत।(८९)श्री शिवकान्त उपाध्याय, दिल्ली।(९०)श्री वाचस्पति उपाध्याय, दिल्ली। (९१) ब्रह्मचारी आर्य नरेला, माडल बस्ती, दिल्ली।(९२) आचार्य रामलालआर्य, जबलपुर।(९३)ब्रह्मचारी हंसराज, गाजियाबाद।(९४)ब्रह्मचारी ज्ञानेश्वर गाजियाबाद। (९५) ब्रह्मचारी वीरेन्द्र, गाजियाबाद। (९६) श्री प्रेमप्रकाश आर्य, रांची, बिहार। (९७) ब्रह्मचारी अखिलेश्वर, गाजियाबाद। (९८) श्री रवीन्द्र आर्य, गुरुकुल डिकाडला, करनाल। (९९) ब्रह्मचारी ओम्प्रकाश आर्य, डिकाडला, करनाल। (१००) ब्रह्मचारी विवेककुमार आर्य, आर्य नगर, रोहतक। (१०१) श्री विशम्भर दयाल गर्ग, कलकत्ता। (१०२) डॉक्टर नारायणदत्त, माडल टाउन, पानीपत। (१०३) श्री प्रेमचन्द आर्य, पानीपत। (१०४) प्रोफेसर सदाशिव भगत, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार। (१०५) स्वामी सत्यप्रकाश जी महाराज, आर्यसमाज मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली। (१०६) पण्डित ब्रह्मानन्द शर्मा, नया बाँस, दिल्ली। (१०७) श्री रामकिशोर कासदे, सिवनी। (१०८) श्री यज्ञपाल शास्त्री, सेना कार्यालय। (१०९) श्री आदित्यप्रकाश आर्य, पानीपत। (११०) श्री श्रीकृष्ण, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार। (१११) डॉक्टर रवीन्द्रनाथ शर्मा, जबलपुर। (११२) श्री भरतसिंह शास्त्री, लोहारू। (११३) श्री श्यामसुन्दर लाल, कमलानगर, दिल्ली। (११४) श्री गुरुप्रसाद, नालन्दा। (११५) डॉक्टर दयाल आर्य, आयुर्वेदिक कालोनी, जामनगर(गुजरात)।(११६) श्रीमती तृप्ता देवी, धनौला, संगरूर। (११७) श्री सोहनलाल शारदा, शाहपुरा (राजस्थान)। (११८) श्री ओम्प्रकाश आर्य, आर्यसमाज, नया बाँस, दिल्ली। (११९) श्री रामकृष्ण भारती, दिल्ली। (१२०) श्री भूपकिशोर शास्त्री, पटना। (१२१) श्री घनश्यामसिंह आर्य, दुर्ग (मध्यप्रदेश)। (१२२) श्री अवनिमोहन विद्यालंकार, नई दिल्ली। (१२३) श्री मदनमोहन विद्या-सागर, हैदराबाद। (१२४) आर्य कलर लेबोरेटरीज, कपूर भवन, शिवगंज। (१२५) श्री ओंकार गिरि बाबा, केशवराय पाटन। (१२६) श्री ब्रजमुनि वानप्रस्थ, देहरादून।

जिन आर्यसमाजों, कॉलेजों, गुरुकुलों और अन्य शिक्षण-संस्थाओं ने इस 'इतिहास' के पूरे सेटों के लिए पेशगी रुपये जमा कराए, उनकी सूची बहुत लम्बी है। उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। कितने ही ऐसे सज्जन भी हैं, जो पूरे सेट के ग्राहक तो नहीं बने, पर जो इस 'इतिहास' के भागों को खरीदते रहे, सीधे हमसे या पुस्तक-विक्रेताओं से। आर्य जनता ने इस 'इतिहास' की उपयोगिता को स्वीकार किया, और अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसकी आर्थिक समस्या के समाधान में सहयोग दिया। पर हमें केवल आर्थिक सहयोग की ही आवश्यकता नहीं थी, आर्यसमाज का संगठन अत्यन्त विशाल है, और उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसके कार्यकलाप एवं गतिविधि का विवरण प्राप्त करना भी एक श्रम-साध्य कार्य है। कितने ही महानुभावों ने हमें आर्यसमाजों और आर्य-संस्थाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्रेषित की, और यह कार्य अत्यन्त उत्साह तथा लगन के साथ सम्पन्न किया। उनका सहयोग भी हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व का था। सच तो यह है कि इस 'इतिहास' के सम्पादन और प्रकाशन के कारण आर्य स्वाध्याय केन्द्र ने एक ऐसे परिवार का रूप प्राप्त कर लिया है, जिसके सब सदस्य वैदिक धर्म के अनुयायी हैं और आर्यसमाज के कार्यकलाप में किसी-न-किसी प्रकार योगदान देने के लिए तत्पर रहते हैं। हमारी इच्छा थी कि इन सब आर्य नर-नारियों का परिचय भी

'इतिहास' के इसी भाग में दे दिया जाये। पर यह सम्भव नहीं हुआ, क्योंकि इन बन्धुओं की संख्या इतनी अधिक है कि सबका परिचय देने के लिए कम-से-कम ५०० पृष्ठों की आवश्यकता थी, और सातवें भाग में इतना स्थान निकाल सकना असम्भव था। फिर भी कतिपय ऐसे व्यक्तियों का परिचय अगले पृष्ठों में दिया जा रहा है, जिन्होंने आर्यसमाज के इतिहास के प्रति विशेष उत्साह प्रदर्शित किया है, और जिनका परिचय न संरक्षक व प्रतिष्ठित सदस्यों के रूप में दिया गया है, और न जिनका उल्लेख 'इतिहास' के ग्राहकों के रूप में ऊपर किया गया है। इनमें से कुछ के चित्र भी दिये जा रहे हैं। इनमें कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो दिवंगत हो चुके हैं। पर उनके आत्मीय सज्जनों की आर्यसमाज के इस 'इतिहास' में बहुत रुचि है। उन्हीं के अनुरोध से महर्षि दयानन्द सरस्वती के इन श्रद्धालु अनुयायियों का परिचय भी यहाँ दिया जा रहा है।

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती—वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान्, यशस्वी लेखक तथा प्रभावशाली वक्ता। पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी जी का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला बिजनौर के अस्करीपुर नामक ग्राम में सन् १९१४ ई० में हुआ था। पिता श्री पण्डित केदारनाथ दीक्षित डी० ए० वी० हाई स्कूल होशियारपुर में संस्कृताध्यापक थे। लक्ष्मीदत्त जी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलेज होशियारपुर तथा लाहौर में हुई। आर्यजगत् के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित मुरारीलाल जी शर्मा की पौत्री श्रीमती शकुन्तला देवी शास्त्री से उनका विवाह हुआ। ४० वर्षों तक उन्होंने अध्यापन-कार्य किया, जिसमें लगभग २० वर्षों तक वे पानीपत और होशियारपुर में डिग्री व पोस्ट-ग्रेजुएट कॉलेजों के प्रिंसिपल रहे। पानीपत में रहते हुए वहाँ की आर्यसमाज द्वारा संचालित सभी शिक्षण-संस्थाओं की बागडोर उनके हाथों में रही। सन् १९७२ ई० में उन्हें पंजाब विश्वविद्यालय की सेनेट का प्रतिष्ठित सदस्य मनोनीत किया गया। कुछ समय तक वे गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य तथा १६ वर्ष तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की सेनेट तथा अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। सन् १९८० ई० में उन्होंने श्री स्वामी सत्यानन्द जी सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ली, और स्वामी विद्यानन्द सरस्वती नाम ग्रहण किया।

स्वामी विद्यानन्द जी ने संस्कृत, हिन्दी तथा इंगलिश में विविध विषयों पर अनेक मौलिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। उनकी प्रमुख रचनाएँ—(१) अनादि तत्त्व दर्शन (पुरस्कृत), (२) वेद मीमांसा (पुरस्कृत), (३) तत्त्वमसि (पुरस्कृत), (४) अध्यात्म मीमांसा, (५) प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त, (६) भूमिका भास्कर, (७) द्वैतसिद्धि, (८) आर्यों का आदि देश (देश की प्रायः सभी भाषाओं में प्रकाशित), (९) स्वराज्य दर्शन (पुरस्कृत), (१०) राजधर्म, (११) Vedic Concept of God, (१२) The Brahmasutra, (१३) Anatomy of Vedanta, (१४) Theory of Reality, (१५) Original Home of the Aryans, (१६) The Age of Shankara, (१७) Political Science. स्वामी जी के लेखन-कार्य की यह विशेषता है कि उन्होंने उसके द्वारा एक भी पैसा नहीं कमाया—यहाँ तक कि पुरस्कार रूप में प्राप्त राशि भी विद्वानों के सम्मान तथा सहायतार्थ प्रदान कर दी।

सेवा से अवकाश प्राप्त करने पर ग्रेचुटी के रूप में प्राप्त १० हजार रुपये की राशि स्वामी जी ने आर्यसमाज को प्रदान कर दी, जिसके ब्याज से प्रतिवर्ष एक वैदिक

विद्वान् को श्री केदारनाथ दीक्षित पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है। सन् १९८६ ई० में ११ हजार रुपये स्वामी जी ने आर्य केन्द्रीय सभा को प्रदान किये, जिसके ब्याज से प्रतिवर्ष ऋषि-निर्वाणोत्सव के अवसर पर एक वैदिक विद्वान् को श्री केदारनाथ दीक्षित पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है।

स्वामी विद्यानन्द जी वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश व दिल्ली के अधिकारी व अन्तरंग सभासद् रहे। लगभग १६ वर्ष तक वे सार्वदेशिक सभा के अन्तरंग सभासद् व पाँच वर्ष तक उसके संयुक्त मन्त्री रहे। १९४४ ई० में स्वामी जी ने दिल्ली की समस्त आर्यसमाजों को संगठित करके 'आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली' की स्थापना की तथा १२ वर्ष तक उसके मन्त्री रहे।

सिन्ध की मुस्लिम लीगी सरकार ने जब सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाया, तो उसके प्रतिकार के लिए दिल्ली में बनी सत्यार्थप्रकाश समिति का मन्त्री स्वामी जी को बनाया गया और जब अन्ततः सत्याग्रह की नौबत आई तो श्री महात्मा नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में संचालित सत्याग्रह के लिए सार्वदेशिक सभा द्वारा नियुक्त प्रथम पाँच सत्याग्रहियों में एक स्वामी विद्यानन्दजी भी थे। १९५७ ई० में पंजाब में हिन्दी की रक्षार्थ जो सत्याग्रह हुआ था, स्वामी जी उसका संचालन करने वाली पंजाब हिन्दी रक्षा समिति के प्रमुख सदस्य थे। सन् १९६५ ई० में पंजाब के विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा नियुक्त संयुक्त समिति का संयोजक भी स्वामी विद्यानन्द जी को बनाया गया था।

स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती—सन् १९१८ ई० में जन्म। २१ वर्ष की आयु में सन् १९३९ ई० में उपदेशक महाविद्यालय लाहौर में प्रवेश, जहाँ स्वामी वेदानन्द सरस्वती, पण्डित ईश्वरचन्द्र दर्शनाचार्य, पण्डित शिवदत्त आलिम फाजिल और पण्डित प्रियव्रत वेदवाचस्पति सदृश प्रकाण्ड पण्डितों से वेदशास्त्रों का अध्ययन किया। सन् १९४२ ई० में भटिण्डा (पंजाब) में उपदेशक विद्यालय की स्थापना की, और पाँच वर्ष उसका संचालन किया। इस विद्यालय के सफल संचालन के कारण आर्यजगत् में ये 'आचार्य कृष्ण' नाम से विख्यात हुए। इनके निःस्पृह व मूक ठोस कार्य से पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार (स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती) बहुत प्रभावित हुए, और उन्हें भटिण्डा विद्यालय से अपने प्रभात आश्रम (जिला मेरठ) ले गये, और आश्रम का सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा-कार्य आचार्य जी को सौंप दिया। ९ वर्ष तक प्रभात आश्रम में कार्य कर आचार्य कृष्ण ने प्रचार-क्षेत्र में प्रवेश किया। व्याख्यान, कथा, प्रवचन, संस्कार और यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए उन्होंने प्रायः सारे भारत की यात्रा की, और मॉरीशस, दक्षिण अफ्रीका तथा केनिया आदि विदेशों में भी प्रचार के लिए गये। दसवें आर्य महासम्मेलन हैदराबाद (सन् १९६८) से लगाकर सत्यार्थप्रकाश-शताब्दी सम्मेलन उदयपुर (१९८१) तक के सभी आर्य महासम्मेलनों के पारायण महायज्ञों का ब्रह्मा के रूप में संचालन किया। सन् १९७५ ई० में स्वामी सत्यप्रकाश जी से संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण की, और 'स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती' नाम प्राप्त किया। प्राचीन समय के विशिष्ट यज्ञों के समान आधुनिक युग के लिए उपयोगी नये-नये यज्ञों का विधान कर व उनकी पद्धति का निर्माण कर दीक्षानन्द जी ने 'सत्यार्थभृत्

यज्ञ', 'राष्ट्रभृत् यज्ञ' और 'वैश्वानर यज्ञ' आदि के अनुष्ठान की नई परम्परा का सूत्र-पात किया।

स्वामी जी ने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की, जिनमें उपनयनसर्वस्व, स्वाध्याय-सर्वस्व, मृत्युञ्जयसर्वस्व और अग्निहोत्रसर्वस्व आदि विशेष महत्त्व के हैं। साहित्य के सृजन तथा शोधकार्य के लिए उन्होंने सन् १९७५ ई० में अपने गुरु स्वामी समर्पणानन्द जी (पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालंकार) के नाम पर 'समर्पण शोध संस्थान' की स्थापना की, जिस द्वारा अब तक बीस से अधिक मौलिक व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। इस संस्थान द्वारा शोध-कार्य भी किया जा रहा है, और विद्वान् शतपथ ब्राह्मण पर कार्य कर रहे हैं।

स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली है, और वे सर्वात्मना वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में अपने को समर्पित किये हुए हैं।

सूबेदार यज्ञपाल सिद्धान्तशास्त्री—पचास वर्षीय श्री यज्ञपाल जी गत २१ वर्षों से भारतीय सेना की जाट रेजिमेण्ट में सेवा कर रहे हैं। इन्होंने गुरुकुल झज्जर (रोहतक) में अष्टाध्यायी, संस्कृत भाषा विशारद, भारतीय आर्यकुमार परिषद् की 'सिद्धांतशास्त्री आदि परीक्षायें अपने पाँच वर्षीय अध्ययन-काल में उत्तीर्ण करके १०-१२ वर्ष एक ग्राम-सेवक के रूप में समाजसेवा में व्यतीत किये। पंजाब विश्वविद्यालय की 'प्रभाकर' और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'साहित्यरत्न' की उपाधियाँ सर्विस के दौरान उत्तीर्ण करके दिसम्बर १९६६ ई० में भारतीय सेना में नायब सूबेदार के पद से धर्मगुरु के रूप में जाट रेजिमेण्ट की १८वीं यूनिट में भरती हुए। २१ वर्षों से सेना में वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा का प्रचार एवं सभी संस्कार वैदिक रीति के अनुसार सम्पन्न करवा रहे हैं।

सेना में मद्य-मांस-धूम्रपान आदि का बहुत प्रचलन रहता है, लेकिन इनकी शिक्षा में मद्य-मांस के स्थान पर शाकाहारी भोजन ग्रहण करने व मदिरा-धूम्रपान का त्याग करने पर विशेष बल रहता है। अनेकों जवानों से शराब और धूम्रपान छुड़ा चुके हैं। ईश्वर का सच्चा स्वरूप, राष्ट्र के प्रति सर्वस्व समर्पित करने, दैनिक सन्ध्या-हवन, धर्म का वास्तविक स्वरूप आदि वैदिक परम्पराओं का प्रचार करते हैं। धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़िवादी विचारधाराओं से बचे रहने का आह्वान करते हैं। प्रतिवर्ष आर्य शिक्षण-संस्थाओं, गुरुकुलों आदि में दान करते हैं। वैदिक पद्धति पर आधारित 'हमारे नित्य-कर्म' पुस्तिका भी इन्होंने प्रकाशित करवाई, जिसके अनेकों संस्करण छपे हैं और सेना में बहुत लोकप्रिय रही है। आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द में इनकी अगाध श्रद्धा व प्रबल आस्था है। आप हरियाणा प्रदेश में 'चरखी दादरी' के अन्तर्गत पंचगांव-निवासी हैं।

श्री अर्जुनदेव बगाई—सन् १९०२ ई० में झंग (पाकिस्तान) में जन्म हुआ। पिता श्री रामदित्ता मल सुशिक्षित आर्य थे और इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल के पद पर कार्यरत थे। अर्जुनदेव जी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में हुई और पंजाब भूमिवरिष्टि से उन्होंने बी० ए० एवं एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। वे पंजाब के आर्य समाजों से सम्बद्ध मुकद्दमों की उत्साह व लगन के साथ पैरवी किया करते थे। पंजाब हाईकोर्ट में जब सत्यार्थप्रकाश की जब्ती को लेकर मुकद्दमा चला, तो श्री अर्जुनदेव बगई, रायबहादुर दीवान बद्रीराम, जो इस मुकद्दमे में आर्यसमाज के सीनियर वकील थे, के साथ सम्बद्ध होकर मुकद्दमे में पैरवी को तत्पर रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे सभा की ओर से मिण्टगुमरी, लाहौर, टोबा टेकसिंह और उकाड़ा में अनेक आर्य-संस्थाओं के व्यवस्थापक थे। अपने भाई श्री सन्तलाल विद्यार्थी के साथ वे जीवन-पर्यन्त आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। हैदराबाद के सत्याग्रह में उनका सक्रिय योगदान था। स्वामी स्वतन्त्रानंद, स्वामी वेदानंद, पण्डित चमूपति, पण्डित बुद्धदेव, महाशय कृष्ण, पण्डित विश्वम्भरनाथ, लाला नारायणदत्त, पं० ठाकुरदत्त (अमृतधारा), जस्टिस मेहरचन्द्र महाजन, सर गोकुलचन्द नारंग और सर बख्शी टेकचन्द सदृश आर्य नेताओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, और वे इनके सहयोगी थे। भारत के विभाजन के समय १४ अगस्त १९४७ को लाहौर में उनपर आततायियों ने आक्रमण कर दिया और लाहौर में ही वे असमय में दिवंगत हो गए।

श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव—२ जनवरी, १९४१ ईसवी को, कमालगंज (जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश) में जन्म। मध्य प्रदेश में उच्च पदाधिकारी के रूप में कार्यरत। भिलाई में आर्यसमाज की स्थापना में सक्रिय योगदान तथा छः वर्ष मंत्री के रूप में समाज के कार्यकलाप का संचालन। सन् १९७३ से १९८७ तक आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ के मंत्री रहे और अब सभा के प्रधान हैं। मध्यप्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में श्रीवास्तव जी का कर्तृत्व सराहनीय है। वे स्वभाव से मधुर तथा मिलनसार हैं। उनकी स्वर्गीया पत्नी श्रीमती लक्ष्मी श्रीवास्तव आर्य कन्या महाविद्यालय, दुर्ग में लेक्चरर थीं और प्रतिदिन पंच महायज्ञों का अनुष्ठान उत्साह के साथ किया करती थीं। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वे अपने पतिदेव को उत्साह के साथ योगदान दिया करती थीं।

श्रीमती कौशल्यादेवी सिन्धवानी—मध्यप्रदेश के आर्यजगत् में कौशल्यादेवी जी सिन्धवानी का मूर्धन्य स्थान है। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ के प्रधानपद को उन्होंने सुदीर्घ काल तक सुशोभित किया है, और इस क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार को गति प्रदान की है। रायपुर में उनके परिश्रम व कर्तृत्व से दयानन्द सेवा आश्रम की स्थापना हुई है, जिसके द्वारा वनवासी पिछड़ी हुई जातियों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है। इस आश्रम की विशालता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसकी सम्पत्ति का मूल्य ५० लाख से भी अधिक है। माता कौशल्यादेवी जी मध्यप्रदेश में अनेक दयानन्द बाल विद्यालयों की संचालिका हैं, और अब गुरुकुल होशंगाबाद का भी उन्हीं द्वारा मुख्याधिष्टात्री की स्थिति से संचालन किया जा रहा है। मध्यप्रदेश में उन्हें आर्यसमाज की मदर टेरेसा कहा जाता है, जो सर्वथा उपयुक्त है।

श्री ज्ञानचंद्र रंगन और श्रीमती संतोषकुमारी रंगन—श्री ज्ञानचंद्र रंगन का जन्म पेशावर में हुआ था, और संतोषकुमारी जी का लाहौर में। ये दोनों नगर अब पाकिस्तान में हैं। पेशावर और लाहौर आदि नगरों में भारत के विभाजन से पूर्व आर्यसमाज का अच्छा प्रचार था। ज्ञानचन्द्र जी और संतोष कुमारी जी—दोनों का जन्म आर्यसमाजी परिवारों में हुआ था और बचपन से ही उन्होंने वैदिक धर्म के सम्पर्क में आना प्रारम्भ कर दिया था। संतोषकुमारी जी के पिता आर्यसमाज के कर्मठ और उत्साही कार्यकर्त्ता थे। शुद्धि-आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। देश और आर्यसमाज के बड़े-बड़े नेताओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही कारण है कि संतोषकुमारी जी का

नामकरण-संस्कार प्रसिद्ध क्रांतिकारी आर्य नेता भाई परमानन्द जी द्वारा कराया गया था। उनका-पाणिग्रहण संस्कार भी पूर्णतया वैदिक रीति से हुआ था।

पाकिस्तान के निर्माण के परिणामस्वरूप रंगन-परिवार देहरादून आकर बस गया और वहाँ श्री ज्ञानचन्द्र रंगन देहरादून नगरपालिका में इञ्जीनियर के पद पर नियुक्त हो गये। रंगन-दम्पती में वैदिक धर्म के संस्कार इतने प्रबल थे और आर्यसमाज के कार्य-कलाप के प्रति उनमें इतना अधिक उत्साह था कि दोनों पति-पत्नी आर्यसमाज देहरादून के सदस्य बन गये और कुछ समय पश्चात् श्री ज्ञानचन्द्र जी को समाज का कोषाध्यक्ष चुन लिया गया। संतोषकुमारी जी भी स्त्री आर्यसमाज की उपमंत्री पद पर नियुक्त हो गई। कुछ वर्ष बाद रंगन जी का स्थानान्तरण मसूरी के लिए हो गया और वहाँ की नगरपालिका के इञ्जीनियर-पद को उन्होंने संभाल लिया। मसूरी आर्यसमाज में अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाने में इस दम्पती को देर नहीं लगी। ज्ञानचन्द्र जी को आर्य-समाज भवन तथा उसकी अन्य सम्पत्ति का प्रबन्धक नियुक्त कर दिया गया। छः वर्ष तक वे इस पद पर रहे, और आर्यसमाज की भूमि और सम्पत्ति को संभाल एवं उन्नति में उन्होंने अपनी शक्ति लगा दी। श्रीमती रंगन भी स्त्री आर्यसमाज मसूरी की उपमंत्री के रूप में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन की पूर्ति में उत्साहपूर्वक संलग्न रहीं।

मसूरी से श्री ज्ञानचन्द्र रंगन का स्थानान्तरण रुड़की हुआ और वहाँ से हरिद्वार। उनके रुड़की पहुँचने पर वहाँ के आर्यसमाज में नवजीवन का संचार हुआ। श्रीमती संतोषकुमारी जी संगीत में अत्यन्त प्रवीण हैं। जब वे समाज के सत्संगों, उत्सवों व सम्मेलनों में भजन व भक्तिगीत गाती हैं तो श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। उनकी संगीत में रुचि के कारण ही देहरादून, मसूरी, रुड़की और हरिद्वार के आर्यसमाजों के सत्संगों के प्रति नर-नारी आकृष्ट होने लगे और समाजों की लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हुई। श्री ज्ञानचन्द्रजी वर्षों तक हरिद्वार आर्यसमाज के प्रधान रहे। अब श्रीमती संतोषकुमारी जी इस समाज की प्रधान हैं। यह स्वाभाविक था कि इस दम्पती के कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती जाए। इसीलिए श्रीमती रंगन आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की महिला प्रचार-अधिष्ठात्री नियुक्त हुई, और क्षेत्रीय आर्य परिवार पंचपुरी की महामंत्री तथा सहारनपुर जिला उपसभा की वे उपप्रधाना हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रंगन-दम्पती का तन, मन, धन आर्यसमाज के लिए समर्पित है। आर्यसमाज के कार्यों में पूर्ण उत्साह व लगन के साथ संलग्न रहना ये अपना कर्तव्य मानते हैं। दोनों का व्यक्तिगत जीवन भी आर्यसमाज के मन्तव्यों व आदर्शों के अनुरूप है। सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर लेने पर अब आर्यसमाज ही उनका परिवार है, और सेवा में ही उनकी सब शक्ति लगी हुई है।

श्री पन्नालाल पीयूष—९ जनवरी, १९१२ ई० में सलूम्बर (उदयपुर) में जन्म। किशोरावस्था में ही आर्यसमाज के साथ सम्पर्क हुआ, और पण्डित नारायण प्रसाद 'बेताब' के प्रसिद्ध भजन 'अजब हैरान हूँ भगवन्, तुझे कैसे रिझाऊँ मैं' से प्रभावित होकर आर्य भजनोपदेशकों के साथ कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३० ई० में नमक-आन्दोलन तथा स्वतंत्रता के अन्य आन्दोलनों में भाग लिया और जेल-यात्रा भी की। राजस्थान में प्रजामण्डल के स्थापित होने पर उसके माध्यम से स्वतन्त्रता-संघर्ष में भाग लेते रहे। उस समय आर्यसमाज का मंच ही स्वतन्त्रता-आन्दोलन का केन्द्र होता था, विशेषतया राजस्थान में। अतः कांग्रेस और आर्यसमाज दोनों साथ-साथ उत्साहपूर्वक

कार्यरत थे। स्वराज्य के पश्चात् केवल आर्यसमाज ही पीयूष जी का कार्यक्षेत्र रहा। पंजाब हिन्दी सत्याग्रह सदृश जो भी आन्दोलन आर्यसमाज द्वारा शुरू किये गये उनमें सक्रिय रूप में उन्होंने भाग लिया। हिन्दी सत्याग्रह में उन्होंने जेल-यात्रा भी की।

श्री श्रीराम जी भक्त—लाला श्रीराम जी का जन्म सन् १८९५ ई० में पानीपत के एक प्रतिष्ठित व धनी पौराणिक परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री कन्हैयालाल था। बचपन में ही वे धार्मिक प्रवृत्ति के थे; अधिक समय पूजापाठ में बिताया करते थे। इसी कारण वे भक्तजी के नाम से प्रसिद्ध थे। जब वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आए तो वेदोपदेश सुनकर उन्होंने सब पाखण्डों का परित्याग कर दिया। शीघ्र ही, वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के श्रद्धालु भक्त व अनुयायी बन गये और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उन्होंने उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। अपनी देखरेख में उन्होंने पानीपत आर्यसमाज के भवन का कलात्मक ढंग से निर्माण कराया, और आर्य कॉलेज पानीपत की भवन-निर्माण-समिति के सदस्य होकर कॉलेज की इमारतों का निर्माण कराने में सहयोग दिया। हिन्दी सत्याग्रह में उन्होंने जेल-यात्रा भी की। स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से उन्होंने नित्य यज्ञ करने का व्रत लिया और आजीवन उसका पालन किया। उनकी पत्नी श्रीमती सुरजीदेवी जी भी परम धार्मिक थीं। सन्ध्या करते हुए ही उनकी मृत्यु हुई थी। भक्तजी ने आर्यसमाज और उसकी संस्थाओं को उदारतापूर्वक धन भी दिया। गुरुकुल काँगड़ी तथा गुरुकुल कुरुक्षेत्र में उन्होंने कमरे भी बनवाये। १४ फरवरी १९६९ ई० को वे स्वर्गवासी हुए, पर अपने धार्मिक जीवन का प्रभाव सदा के लिए अपने पुत्र-पौत्रों पर छोड़ गये। उनके पौत्र श्री आदित्यप्रकाश आर्य आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

श्री सत्यव्रत शास्त्री—आचार्य, एम०ए०, काव्य सांख्यतीर्थ—सन् १९१२ ई० में पुष्पावटी (जिला बदायूँ, उत्तर प्रदेश) में पण्डित छेदालाल के घर जन्म। छेदालाल जी सार्वदेशिक सभा के महोपदेशक थे। सत्यव्रत जी की शिक्षा गुरुकुल बदायूँ और क्वीन्स कॉलेज में हुई। शिक्षा पूर्ण कर वे सन् १९४८ ई० में आर्यसमाज जबलपुर (मध्य प्रदेश) के आचार्य नियुक्त हो गये और १९६३ ई० तक इस पद पर कार्य करते रहे। फिर गुरुकुल होशंगाबाद में अध्यापन किया, और अनेक कॉलेजों में संस्कृत तथा हिन्दी के प्राध्यापक का भी कार्य किया। विविध संस्थाओं में संस्कृत-हिन्दी के प्राध्यापक पद पर अध्यापन करते हुए सत्यव्रत जी ने आर्यसमाज के कार्यकलाप को सदा ध्यान में रखा, और आर्यसमाज गंजीपुर (जबलपुर) के विभिन्न पदों पर रहकर मध्यप्रदेश में वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। हैदराबाद सत्याग्रह में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। इनकी धर्मपत्नी श्रीमती दयावती शर्मा हितकारिणी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में लेक्चरर हैं।

श्री हृदय प्रकाश भारद्वाज—सन् १८८० में लाहौर में जन्म, पर किशोरावस्था तक प्रायः अलीगढ़ में रहे। १५ वर्ष की आयु में आर्यसमाज में प्रवेश किया। पण्डित भारद्वाज हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू और अरबी भाषाओं के विद्वान्, आयुर्वेद के ज्ञाता, कुशल लेखक व कवि तथा प्रभावशाली वक्ता थे। उनका सम्पूर्ण जीवन आर्यसमाज के लिए समर्पित रहा। सिन्ध, पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त (पाकिस्तान), दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, जम्मू-कश्मीर तथा हैदराबाद उनके विशेष कार्यक्षेत्र

रहे। पर उनका अधिक समय मध्यप्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में व्यतीत हुआ, और जबलपुर उनके कार्यकलाप का प्रधान केन्द्र रहा। हैदराबाद सत्याग्रह में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया और 'गौपुकार' तथा 'आर्यसेवक' पत्रों के वे सम्पादक रहे। पौराणिक पण्डितों में उन्होंने अनेक शास्त्रार्थ भी किये। आर्य और नमस्ते की छानबीन, वेदप्रदीप, महर्षि जीवन, महर्षि का दृष्टिकोण, ईसाईमत-दुर्दशा आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी लिखीं। उन द्वारा स्थापित संस्थाओं में वेद-प्रचार संघ, गोवध-निरोधक मण्डल तथा महिला वेदप्रचारिणी सभा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

श्री बालचन्द योगाचार्य—सन् १९२३ ई० में जबलपुर में जन्म। बी० कॉम० तक शिक्षा प्राप्त की। दस वर्ष की आयु में आर्यसमाज के सम्पर्क में आए, और उसके कार्यकलाप में हाथ बँटाने लगे। जबलपुर के आर्य युवक संगठन को सशक्त बनाने में उन्होंने विशेष तत्परता दिखाई। वे व्यवहार-कुशल, मिलनसार व प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं, और जबलपुर की समाजसेवी तथा विभिन्न संस्थाओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैदिक पुत्री पाठशाला जबलपुर के वे संस्थापक सदस्य हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व बिदर्भ के वे उपप्रधान रहे हैं। उनके परिश्रम, त्याग, सेवाभाव एवं कुशल नेतृत्व के कारण जबलपुर व मध्यप्रदेश के अन्य आर्यसमाजों में नवजीवन का संचार हुआ, और उनकी यथेष्ट उन्नति हुई। उन्हें योगाभ्यास व योगसाधना में बहुत रुचि है। सम्प्रति वे योगसाधना का प्रचार कर 'योगी' का जीवन बिता रहे हैं।

श्री केदारनाथ पाण्डे संगीताचार्य—१९३३ ई० में जन्म और ३१ वर्ष की आयु में आर्यसमाज में प्रवेश। पाण्डे जी संगीत में अत्यन्त प्रवीण हैं। एम० म्यूज० और संगीताचार्य की उपाधियाँ उन्होंने प्राप्त की हैं। संस्कृत साहित्य के भी वे ज्ञाता हैं; पर उनकी विशेष योग्यता संगीत में है। गायन और वादन दोनों में वे प्रवीण हैं। संगीत विद्यालय जबलपुर के वे प्राचार्य हैं, और विविध आर्य संस्थाओं के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। नगर की अनेक सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक संस्थाओं के वे सक्रिय कार्यकर्त्ता हैं। आर्यसमाज को उनकी बहुमुखी सेवाएँ प्राप्त हैं। आर्य युवक मण्डल जबलपुर के संगठन व उन्नति में उनका विशेष सहयोग है। सम्प्रति वे उसके कोषाध्यक्ष भी हैं।

श्री नित्यानन्द स्वामी—१८७५ ई० में धामपुर (जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश) के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में जन्म। पिता श्री दीवानचन्द एक अच्छे जमींदार थे और उनकी आढ़त की दुकान भी थी। संन्यास ग्रहण करने से पहले स्वामी जी का नाम गुलशन राय था, और वे अपने संयुक्त परिवार में रहते हुए व्यापार में हाथ बँटाते थे। पर उन्हें परिवार तथा व्यापार में रुचि नहीं थी। वे अपना समय प्रायः स्वाध्याय तथा आर्यसमाज के कार्यों में लगाते थे। ४७ वर्ष की आयु में उन्होंने ११ जून, १९२२ ई० को स्वामी विशुद्धानन्द जी से संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण की, और नित्यानन्द नाम पाया। संन्यासी होकर वे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में जुट गये और ५४ वर्ष तक निरन्तर आर्यसमाज की सेवा करते रहे। सन् १९३९ ई० में हैदराबाद सत्याग्रह में उन्होंने भाग लिया और जेल गये। १९४१ ई० में उन्होंने अमृतसर के समीप निक्की-

सुद्दयाँ नामक स्थान पर एक गुरुकुल की स्थापना की और तीन वर्ष तक उसका संचालन करते रहे। धामपुर, हैदरनगर(जिला मुजफ्फरनगर) आदि अन्य स्थानों पर भी संस्कृत-पाठशालाएँ तथा औषधालय स्थापित किये। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं का प्रचार करते हुए १०३ वर्ष की आयु में वे दिवंगत हुए।

श्रीमती महाश्वेता चतुर्वेदी, डॉक्टर—२ फरवरी १९४८ ईसवी को इटावा (उत्तर प्रदेश) में जन्म। पिता आचार्य रमेश वाचस्पति और माता श्रीमती शारदा पाठक दोनों ही विद्या के क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित। महाश्वेता जी ने एम० ए० और पी-एच० डी० के अतिरिक्त साहित्याचार्य, साहित्यरत्न तथा संगीतप्रभाकर सदृश उच्च डिग्रियाँ भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। सम्प्रति वे डी० लिट्० के लिए शोध-कार्य में संलग्न हैं। साहित्य-सृजन में विशेष रुचि रखती हैं। वेद-वेदांग का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है, और हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाओं में ग्रन्थों की रचना कर साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। उन द्वारा लिखित 'वेदायनम्' (चार भाग) और यजुर्वेद-रहस्य वेदों के उनके गम्भीर अध्ययन के सूचक हैं। महाश्वेता जी कवयित्री भी हैं। उनके दो काव्य-संग्रह 'मेरे गीत तुम्हारे मीत' और 'ज्योति कलश' प्रकाशित हो चुके हैं, और पच्चीस काव्य-संग्रह अभी अप्रकाशित हैं। अंग्रेजी और संस्कृत में भी उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। विविध पत्र-पत्रिकाओं में उनकी चार सौ से अधिक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। वे साहित्य के माध्यम से सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रसार कर जनजागृति उत्पन्न करने के लिए कटिबद्ध हैं। उनके पति डॉक्टर उमाकान्त चतुर्वेदी बरेली कॉलिज, बरेली में वनस्पति विज्ञान विभाग के रीडर हैं।

स्वामी दिव्यानंद सरस्वती—एप्रिल, सन् १९३९ ई० में देवनगर(जिला मैनपुरी, उत्तर प्रदेश) में जन्म। पिता श्री नाथूराम आर्य तथा माता श्रीमती द्रौपदी देवी परम धार्मिक। उन्हीं के प्रभाव से पुत्र में भी साधना की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हुई। सितम्बर, १९५९ ई० में विरक्त भावना में वृद्धि और गृह का त्याग कर गुरुकुल चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) में २१ मास संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। फिर मैनपुरी में कुछ समय शिक्षा प्राप्त कर गुरुकुल झज्झर(रोहतक) में प्रवेश और वहीं पर सन् १९६४ ई० में आचार्य भगवान्देव (स्वामी ओमानन्द) जी से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण कर २ वर्ष के लगभग गुरुकुल झज्झर में प्रधानाध्यापक का कार्य किया। १९६९ ईसवी से १९७१ ई० तक गुरुकुल कालवा में अध्यापन। फिर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में उच्चतर शिक्षा के लिए प्रवेश और वेद तथा दर्शन विषयों में प्रथम श्रेणी में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। छः वर्ष तक निरन्तर अध्ययन एवं शोध कर सन् १९८२ ई० में 'वैदिक संहिताओं में योगतत्त्व' विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती योगी के सान्निध्य में रहकर योगाभ्यास तथा स्वामीजी द्वारा स्थापित योगधाम ज्वालापुर में प्रतिवर्ष योग-शिविरों का आयोजन। सन् १९८३ ईसवी में महर्षि दयानन्द सरस्वती के बलिदान शताब्दी समारोह के अवसर पर दिल्ली में स्वामी सच्चिदानन्द जी से संन्यास-आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर 'दिव्यानन्द सरस्वती' नाम प्राप्त किया। पहले योगेन्द्र सत्यार्थी नाम से जाने जाते थे। शताब्दी समारोह में जब 'अन्तर्राष्ट्रीय विरक्त मण्डल' की स्थापना की गई तो दिव्यानन्द जी को उसका उपाध्याय नियुक्त किया गया। वे अनेक ग्रन्थों

के लेखक हैं, जिनमें 'वेदों में योग विद्या', 'योग दैनन्दिनी' और 'गीत कुसुमांजलि' उल्लेखनीय हैं। आर्यनगर ज्वालापुर में स्थापित पातंजल योगधाम न्यास के स्वामी दिव्यानन्द जी आजीवन अध्यक्ष हैं।

श्री रणजित मुनि—ग्राम दगड़ौली (सहारनपुर) के बाबू रामसिंहजी के घर ६ जून १९१७ ई० को जन्म। दादा श्री गुलाब सिंह जी ने रुड़की में महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्याख्यान सुना था, जिससे प्रभावित हो वे उनके अनुयायी हो गये, और अपने पुत्र रामसिंह जी को डी० ए० वी० कॉलेज अजमेर में पढ़ाया। जयपुर और हिण्डोन सिटी के आर्यसमाजों के सान्निध्य में श्री रामसिंह भी आर्यसमाजी बन गये। रणजित ने एम० ए० (संस्कृत) तथा एल० एल० बी० की परीक्षाओं के अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश-मार्तण्ड, सिद्धान्त वाचस्पति, सिद्धान्त वागीश तथा संस्कृत प्रवीण परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वे उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। भटिण्डा व ग्राम दगड़ौली में आर्यकुमार सभा की स्थापना, बजाज नगर जयपुर में आर्यसमाज की स्थापना, सन् १९४७ ई० में जयपुर में आर्य वीर दल की पाँच शाखाओं का संगठन, हैदराबाद सत्याग्रह, हिन्दी सत्याग्रह एवं गोरक्षा आन्दोलन में सक्रिय योगदान। आर्य कुमार सभा, आर्य समाज तथा आर्य प्रतिनिधि सभा के विविध पदों पर रहकर प्रवचन-संगठन तथा आन्दोलन आदि रणजित जी के आर्यसमाज-विषयक उल्लेखनीय कर्तृत्व हैं। गत चार वर्षों से योगधाम ज्वालापुर में रहते हुए यज्ञ संचालक, लेखाकार तथा पुस्तक-विक्रयाध्यक्ष के रूप में कार्यरत। सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक विषयों पर पचासों लेखों व कविताओं के रचयिता, कुछ रचनाएँ पुस्तक रूप में भी प्रकाशित। सरकारी सेवा में रहते हुए भी देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष एवं भटिण्डा में प्रजा-मण्डल की स्थापना। परिवार के सब सदस्य सदाचारी एवं देश, धर्म तथा समाज की सेवा में यथाशक्ति कार्य करते रहते हैं।

श्री बद्रीप्रसाद गुप्त 'आर्य'—१ दिसम्बर, १९२५ ई० को बिन्दकी (जिला फतेहपुर, उत्तर प्रदेश) में जन्म। पिता श्री वंशीलाल गुप्त एवं माता श्रीमती रामदुलारी देवी परम धार्मिक व ईश्वर-भक्त थे। उनका प्रभाव बद्रीप्रसाद जी पर भी पड़ा, और वे तेरह वर्ष की आयु से ही आर्य कुमार सभा, आर्य वीर दल तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। बद्रीप्रसाद जी एक प्रसिद्ध कवि तथा सफल साहित्यकार भी हैं। धर्मयुग, नवनीत आदि पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं। उन द्वारा लिखित दस पुस्तकें विविध प्रकाशकों तथा सरकारी संस्थानों द्वारा प्रकाशित की जा चुकी हैं। उन्होंने बच्चों के लिए भी अनेक काव्य पुस्तकें लिखी हैं, जिन्हें अनुपूरक पाठ्यक्रम में स्थान भी प्राप्त है। संचिता, नेतास्तवन, भारत विजय, विषकन्या, साँझ ढले आ जाना आदि उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पृथ्वीराज चौहान के जीवन पर 'पिथौरा शौर्य' नामक एक महाकाव्य की भी उन्होंने रचना की है, जो अभी अप्रकाशित है। श्री बद्रीप्रसाद जी के गीत एक दशक से दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से प्रचारित होते रहते हैं, और आर्यसमाज के समारोहों में भी उनके गीत व गजलें गायी जाती हैं। राजगुरु पण्डित धुरेन्द्र नाथ शास्त्री, श्री प्रकाशवीर शास्त्री आदि आर्य नेताओं ने उनके गीतों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, और अनेक संस्थाओं द्वारा साहित्य-सेवा के लिए उनका अभिनन्दन भी किया जा चुका है। उनका काव्य का उपनाम 'आर्य जी' है, जिससे

हिन्दी जगत् में वे प्रसिद्ध हैं।

स्वामी सत्यानन्द—सन् १८९१ ई० में बल्लभगढ़ (जिला भरतपुर, राजस्थान) में जन्म। सामान्य शिक्षा प्राप्त कर शान्तिपूर्ण गृहस्थ जीवन बिताते हुए आर्यसमाज के सम्पर्क में आये, और आर्यत्व को जीवन में ढालते हुए तन, मन, धन से आर्यसमाज की सेवा में जुट गये। ग्राम बल्लभगढ़ में बालकों की शिक्षा के लिए बाल विद्यालय, कन्याओं की शिक्षा के लिए कन्या विद्यालय तथा प्रौढ़ों के लिए रात्रि पाठशाला की स्थापना की। रोगियों की चिकित्सा, उपचार व सेवा के लिए सेवाश्रम स्थापित किया। तीनों पुत्र विद्याव्रत, शान्तिस्वरूप तथा यज्ञप्रिय और दोनों पुत्री सत्यवती व विद्यावती को गुरुकुलों में शिक्षा दिलाई। अपने दोनों दामादों श्री ओम्प्रकाश व श्री सुरेशचन्द को वैदिक संस्कारों में दीक्षित किया। आर्यसमाज के कर्मठ व उत्साही कार्यकर्त्ता। हैदराबाद-सत्याग्रह में सक्रिय रूप से भाग लिया और देश की स्वतन्त्रता के लिए स्वाधीनता-सेनानी के रूप में सदा अग्रणी रहे। नारी ही राष्ट्र की उन्नति की आधारशिला है, यह अनुभव कर स्त्रियों की शिक्षा के लिए भुसावर (भरतपुर) में आर्य महिला विद्यापीठ की स्थापना की और उसके लिए लाखों रुपये एकत्र किये। आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक योगदान पंजाब के हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में सक्रिय भाग लिया, और मूक पशुओं की बलि को रोकने के लिए आन्दोलन किया। मथुरा में विरजानन्द वैदिक साधना आश्रम की स्थापना कर 'सत्य प्रकाशन' की योजना बनाई। १४ दिसम्बर, १९६३ ई० को प्रातःकाल 'वायुरनिलम्' का जाप करते हुए शरीर का त्याग किया।

स्वामी जी की अमर ज्योति को कायम रखने के लिए उनकी सन्तान ने पारिवारिक जनों के सहयोग से 'स्वामी सत्यानन्द पुरस्कार योजना' प्रारम्भ की है, जिसके अनुसार किसी आर्य विद्वान् को ५०० रुपये की धनराशि से सम्मानित किया जाता है।

स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी—सन् १८९४ ई० में एटा (उत्तरप्रदेश) के शाहपुर नामक ग्राम में जन्म। संन्यास आश्रम में प्रवेश से पूर्व का नाम श्री मदन मोहन शर्मा। प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम में प्राप्त करने के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए मथुरा गये, और वहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती के सहपाठी पण्डित वनमाली चतुर्वेदी से व्याकरण का अध्ययन किया। बाद में वाराणसी जाकर पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री, पण्डित गोपाल शास्त्री और ब्रह्मचारी विमलचन्द जी से विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन। शिक्षा पूर्ण करके पंजाब के अमृतसर आदि नगरों में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार तथा पौरोहित्य का कार्य किया। पौराणिक विद्वानों से संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक शास्त्रार्थ किये। उन्हें षड्दर्शन कण्ठस्थ थे, तथा विभिन्न शास्त्रों के कितने ही प्रमाण उन्हें स्मरण थे। इसीलिये मिथ्या मतवादी उनके सम्मुख नहीं ठहर सकते थे और शास्त्रार्थ में परास्त हो जाते थे। चिर-काल तक उपदेशक व पुरोहित के रूप में वैदिक धर्म का प्रचार कर पण्डित मदनमोहन जी शर्मा ने स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज से संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण की, और स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी नाम धारण किया। संन्यासी बनने के पश्चात् वैदिक वाङ्मय के विद्वान् तैयार करने के लिए एटा जिले के भोंगरा तथा सिन्धावली नामक स्थानों पर संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना की और स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने को तत्पर हो गये। भारत के स्वाधीन हो जाने पर स्वामी जी ने एटा नगर में चारों वेदों द्वारा एक अभूतपूर्व विराट् यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ के ब्रह्मा पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु

थे। यज्ञ के पूर्ण होने पर स्वामी जी ने वहीं गुरुकुल की स्थापना कर दी। उन द्वारा स्थापित यह आर्ष गुरुकुल यज्ञतीर्थ, एटा आर्यसमाज का गौरवशाली शिक्षा-संस्थान है, जहाँ वेदशास्त्रों के उच्चतम अध्ययन की व्यवस्था है। यह यथार्थ में स्वामी जी का स्मारक है। ४ अगस्त, १९७७ ई० को स्वामी जी दिवंगत हुए।

श्री ज्योतिस्वरूप आचार्य—६ सितम्बर, १९१६ ई० को बिजनौर (उत्तर प्रदेश) के एक ग्राम में जन्म। पिता पण्डित जगन्नाथ प्रसाद जी प्रसिद्ध वैद्य थे और कट्टर पौराणिक थे। उन्होंने अपने पुत्र को हरिद्वार के योगाश्रम संस्कृत महाविद्यालय में शिक्षा के लिए भेजा। अध्ययन करते हुए ज्योतिस्वरूप जी को कहीं से सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति प्राप्त हो गई। उन्होंने इस ग्रन्थ की बहुत निन्दा सुन रखी थी। अतः कौतूहलवश उसे पढ़ गये। पर उससे उनके विचारों में परिवर्तन हो गया। मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर वे लाहौर चले गये, और वहाँ पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु से व्याकरण, निरुक्त, दर्शन आदि का गम्भीर अध्ययन किया। अमृतसर के समीप निकीसुइयाँ नामक स्थान पर सन् १९४४ ई० में एक गुरुकुल की स्थापना हुई थी। जिज्ञासु जी की प्रेरणा से उसका प्रधानाचार्य पद ज्योतिस्वरूप जी ने सम्भाल लिया। पर वे देर तक वहाँ काम नहीं कर सके। सन् १९४७ ई० में भारत का विभाजन होने पर वह गुरुकुल पाकिस्तान में चला गया था। इसी समय श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी एक गुरुकुल की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। ज्योतिस्वरूप जी उनके सहयोगी हो गये, और इन दोनों के प्रयत्न से एटा में गुरुकुल की स्थापना हो गई। निकीसुइयाँ गुरुकुल के विद्यार्थी भी वहाँ आ गये। स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी के तप, त्याग और ज्योतिस्वरूप जी की विद्वत्ता एवं कार्यकुशलता से गुरुकुल एटा उन्नति के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता गया और कुछ ही समय में वेदशास्त्रों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। आचार्य ज्योतिस्वरूप जी का शेष जीवन इस गुरुकुल के निर्माण एवं उन्नति में ही व्यतीत हुआ, यद्यपि आर्यसमाज के अन्य कार्यकलाप में भी वे उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। हैदराबाद सत्याग्रह में उन्होंने पूरी तत्परता से भाग लिया, और सत्याग्रह की समाप्ति पर ही जेल से बाहर आये। ४ नवम्बर, १९७९ ई० को वे दिवंगत हुए।

श्री रामदयाल जी—आगरा के प्रसिद्ध व कर्मठ आर्य नेता। चिरकाल तक महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज (आगरा, हींग मण्डी) के प्रधान रहे और वहाँ के विद्यालय के प्रबन्धकर्त्ता। आगरा के क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में इनका विशेष कर्तृत्व रहा, और ये उत्साहपूर्वक आर्यसमाज की सेवा करते रहे।

श्री तुलसीराम जी—सन् १८७७ ई० में जन्म और सन् १९४३ ई० में निधन। वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा थी। सन्ध्या-हवन प्रतिदिन किया करते थे। दिवाली-होली आदि के अवसर पर विशेष यज्ञों का अनुष्ठान सार्वजनिक रूप से करते थे। माथुर वैश्य पाठशाला की स्थापना कर इन्होंने शिक्षा के प्रसार के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

श्री धर्मपाल विद्यार्थी—आगरा के आर्यजगत् के देदीप्यमाप रत्न। अनेक व्यापारिक संस्थानों के प्रधान एवं कुशल व्यापारी। नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स, उत्तरप्रदेश के अनेक बार प्रधान रह चुके हैं। अत्यन्त समृद्ध व प्रतिष्ठित नागरिक हैं, और देश, धर्म तथा समाज के कार्यों के लिए मुक्तहस्त से दान देते हैं। गुरुकुल वृन्दावन में शिक्षा ग्रहण

करने के कारण इन पर वैदिक धर्म तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं का गहरा प्रभाव है। आर्यसमाज के कार्यकलाप में ये उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। आर्यसमाज फ्री गंज (आगरा) के प्रधान तथा के० से० आर्य इण्टर कॉलेज आगरा के मैनेजर हैं। १ जनवरी, १९८८ ई० से श्री विद्यार्थी आगरा की प्रसिद्ध आर्य संस्था 'आर्य परिवार' के भी प्रधान हैं।

श्री अमिल कृष्ण आर्य—सत्यार्थप्रकाश पढ़कर महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के प्रति आकृष्ट हुए और पूर्ण उत्साह व निष्ठा के साथ वैदिक धर्म के प्रचार तथा उसके मन्तव्यों को क्रियान्वित करने में तत्पर हो गये। अपने ज्येष्ठ पुत्र का विवाह बिना दहेज के विधवा से और मध्यम पुत्र व ज्येष्ठ कन्या का विवाह जात-पाँत तोड़कर कराया। प्रतिदिन सपरिवार दैनिक हवन, सम्मिलित सन्ध्या और पारिवारिक सत्संग करते हैं। पूरा परिवार निरामिष-भोजी तथा आर्य आदर्शों के अनुसार जीवन बिताने वाला है। इनके सम्पर्क व प्रयत्न से बहुत-से व्यक्ति आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए हैं। वासुदेवपुर (पश्चिम बंगाल) आर्यसमाज के मन्त्री तथा बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तरंग सदस्य हैं।

श्री मूलचन्द गौतम—७ नवम्बर, १९१६ ई० को नरेला नगर (दिल्ली) में पण्डित प्यारेलाल व्यास के घर जन्म। इनकी माता श्रीमती फूलाँ देवी जी प्रगतिशील विचारों की महिला थीं, जो न मूर्ति-पूजा करती थीं, और न अन्धविश्वासी थीं। उन्हीं के प्रभाव से मूलचन्द जी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता व प्रचारक तथा कट्टर राष्ट्रवादी व देश-सेवक बने। विद्यार्थी-अवस्था में ही इन्होंने स्वाधीनता-संघर्ष में भाग लेना प्रारम्भ किया, और दिल्ली तथा हरियाणा के अनेक स्वतन्त्रता-सेनानियों को सहयोग दिया। उनकी प्रवृत्ति शुरू से ही समाज-सुधार की थी। अपना विवाह उन्होंने विधवा से किया, और बाद में अपनी चचेरी बहन का भी विधवा विवाह किया। इससे उनकी बिरादरी में खलबली मच गई, और लोग उग्र रूप से विरोध को तत्पर हो गये। पर मूलचन्द जी इससे घबराये नहीं; वे समाज-सुधार के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे। अन्त में बिरादरी का विरोध कम हुआ, और लोग सुधारों का स्वागत करने लगे। अनेकविध व्यापार करने के पश्चात् मूलचन्द जी दिल्ली नगर निगम की सेवा में नियुक्त हो गये, और उन्नति करते-करते कर-निर्धारक व समाहरणकर्त्ता के व समुदाय सेवा विभाग के निर्देशक पद पर पहुँच गये, जिससे वे सन् १९७५ ई० में सेवानिवृत्त हुए। नरेला आर्य-समाज की उन्नति में श्री मूलचन्द का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है। समाज के विविध पदाधिकारी रहकर उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सराहनीय कार्य किया है।

श्री सत्यप्रिय शास्त्री साहित्याचार्य, एम० ए०—१९३३ ई० में जिला कुरुक्षेत्र (हरियाणा) के ग्राम गन्धार में जन्म। वैदिक धर्म के निष्ठावान् प्रचारक तथा आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता। सन् १९५७ ई० के हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में ६ मास का कारावास तथा १९६६ ईसवी के गोरक्षा आन्दोलन में उत्साहपूर्वक योगदान व जेल की सजा। १९८० ई० के सार्वभौम आर्य महासम्मेलन लन्दन में प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित। दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार के छः वर्ष तक अध्यापक, फिर सात वर्ष उपाचार्य और चौदह वर्ष से निरन्तर आचार्य। आर्यसमाज की इस महत्त्वपूर्ण शिक्षण-संस्था के निर्माण तथा विकास का प्रधान श्रेय सत्यप्रिय जी को ही है। अनेक पुस्तकों के लेखक,

जिनमें 'भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम और आर्यसमाज' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

महात्मा वेदभिक्षुः—१४ मार्च १६२८ ई० को कानपुर में जन्म। पिता श्री गया-प्रसाद शुक्ल तथा माता श्रीमती विद्यावती जी—दोनों आर्यसमाजी एवं राष्ट्रवादी देश-सेवक थे। वेदभिक्षुजी का पूर्व नाम भारतेन्द्रनाथ। गुरुकुल जेहलम (पाकिस्तान) में प्रवेश। १६४५ ई० में गुरुकुल के स्नातक बने और विद्याभूषण की उपाधि प्राप्त की। १६४५ ई० में गुरुकुल से विदा हो उत्तर प्रदेश में आर्य वीर संघ की शाखाओं के संगठन में जुट गये, और बरेली की आर्य पत्रिका 'संघ' के सम्पादक बने। १६४७ ई० में भारत का विभाजन होने पर गुरुकुल जेहलम विरालसी (जिला मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश) में स्थानान्तरित हुआ, और भारतेन्द्रनाथ जी ने मुख्याध्यापक के रूप में उसका कार्यभार संभाला। सन् १६५० ई० में पण्डिता राकेश रानी जी से विवाह। उनकी भी साहित्य में रुचि। पति-पत्नी दोनों लेखों व कविताओं द्वारा समाज की सेवा में प्रवृत्त। पंजाब आर्य प्रति-निधि सभा के मुख पत्र 'आर्य' के सह-सम्पादक, और फिर १६५३ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मुखपत्र 'आर्य मित्र' के सम्पादक। भारतेन्द्रनाथ जी के अदम्य उत्साह व कार्यनिष्ठा से ११ मास तक 'आर्य मित्र' का दैनिक रूप से प्रकाशन। 'आर्य मित्र' के बन्द हो जाने पर गाजियाबाद में 'उत्तराखण्ड आयुर्वेदिक रसायनशाला' की स्थापना, और साथ ही 'अराष्ट्रीय ईसाई प्रचार निरोध प्रकाशन' नाम की प्रकाशन-संस्था का संचालन भी। सन् १६६० ई० में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की सेवा में कार्य शुरू और सभा के मुखपत्र 'आर्योदय' के सम्पादक नियुक्त हुए। सभा की गुट-बन्दी से परेशान होकर १६६८ ई० में सभा से पृथक् हुए, और 'जन ज्ञान' नाम से एक नई पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। साथ ही, उच्च कोटि के आर्य साहित्य के निर्माण तथा प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान। सन् १६७१ ई० में 'दयानन्द वेद-संस्थान' की स्थापना, और चारों वेदों का भाष्य अत्यन्त स्वल्प मूल्य (केवल ३५ रुपये) में प्रकाशन की योजना, जिसे अनेक विघ्न-बाधाओं के मार्ग में होते हुए भी पूरा किया। साथ ही, कितने ही अन्य उच्चकोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन। १६७३ ई० में इब्राहीमपुर गाँव (दिल्ली) में वेद-मन्दिर नामक आश्रम की स्थापना। १६७८ ई० में स्वामी सर्वानन्द जी से वानप्रस्थ की दीक्षा और 'वेदभिक्षु' नाम ग्रहण। देश में साम्प्रदायिक समस्या को निरन्तर उग्र होते हुए देखकर महात्मा वेदभिक्षु जी ने 'हिन्दू रक्षा समिति' का गठन किया, जिसका उद्देश्य देश की राजनीति में 'धर्म-निरपेक्षता' की आड़ में हिन्दू हितों को जो क्षति पहुँचायी जा रही है, उसका प्रतिरोध करना है। समिति द्वारा अनेक नगरों में हिन्दू सम्मेलनों का आयोजन, तथा हिन्दू पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए बीस से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन। वेदभिक्षु जी (भारतेन्द्रनाथ जी) लेखक, कवि, साहित्यकार, सम्पादक, प्रकाशक सब थे और अत्यन्त सफल। वे परम देशभक्त, राष्ट्रवादी और धर्म-प्रेमी थे। जिस कार्य को भी उन्होंने हाथ में लिया, पूरा करके दिखाया। वैदिक धर्म में उनकी अगाध आस्था थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती के वे परम भक्त थे, और आर्य-समाज के लिए उनका जीवन समर्पित था। दिसम्बर, १६८३ ई० में वे दिवंगत हुए।

श्री सत्यपाल भसीन—१० अगस्त, १६०६ ईसवी को ग्राम कढ़ा जसराज (जिला सरगोधा, पाकिस्तान) में जन्म। उनके पिता श्री अनोख राय तथा माता दोनों ईश्वरभक्त तथा धर्मप्रेमी थे। अपने बड़े भाई दीवानचन्द जी के प्रभाव से वे

आर्यसमाज में सम्मिलित हुए, और उसके कर्मठ तथा उत्साही कार्यकर्त्ता हो गये। इनका प्रधान कार्यक्षेत्र करोल बाग, नई दिल्ली में है। सतभ्रावाँ कन्या महाविद्यालय, करोल बाग, आर्य कन्या पाठशाला रैगरपुरा, डॉक्टर युद्धवीर सिंह होमियोपैथिक ट्रस्ट सदृश सार्वजनिक संस्थाओं के संचालन में उनका महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है। करोल बाग के आर्य-समाज के तो वे प्राण हैं। करोल बाग क्षेत्र के वे अत्यन्त लोकप्रिय नेता हैं। इस क्षेत्र के सनातन धर्मी, सिख, ईसाई सब उनका हृदय से सम्मान करते हैं। उनमें एक ऐसा आकर्षण है, जिसके कारण निष्काम सेवकों का समूह सदा उनके साथ जुड़ा रहता है।

श्री चरणसिंह आर्य—श्री हुब्बलाल आर्य के सुपुत्र चौधरी चरणसिंह आर्य ऊँचा गाँव(जिला मथुरा, उत्तरप्रदेश)के एक धर्मनिष्ठ युवक हैं। मथुरा जिले में आर्यसमाज के कार्यकलाप में वे उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। आर्य उपप्रतिनिधि सभा मथुरा के वे उप-मन्त्री रहे हैं, और वर्तमान समय में मथुरा जिले के किसान संगठन का सुचारु रूप से संचालन में रत हैं। हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न करने के लिए स्थापित अन्य भी अनेक संगठनों के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्यसमाज के वे कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं।

श्री प्रकाशवीर आर्य—श्री बाबू लाल जी आर्य के सुपुत्र तथा ऊँचा गाँव (जिला मथुरा, उत्तर प्रदेश) के निवासी श्री प्रकाशवीर एक निष्ठावान् आर्य युवक हैं। किशोरी रमण महाविद्यालय, मथुरा से स्नातक परीक्षा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से साहित्यरत्न परीक्षा उत्तीर्ण कर वे अब समाज-सेवा में संलग्न हैं तथा आर्य वीर दल में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। वे सत्यार्थप्रकाश को एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ मानते हैं और युवकों को उसे पढ़ने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। आर्य उपप्रतिनिधि सभा मथुरा की कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं, और आर्यसमाज ऊँचा गाँव द्वारा वेद-सप्ताह मनाये जाने के आयोजन में विशेष तत्परता से हाथ बँटाते हैं।

श्री धर्मदेव "मनीषी" वेदमार्तण्ड—सन् १६४६ ई० में उदगीर (जिला लातूर, महाराष्ट्र) में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा उदगीर में प्राप्त कर सन् १६५८ ई० में गुरुकुल झज्झर में प्रविष्ट हुए, और वहाँ से व्याकरणोपाध्याय, व्याकरण शास्त्री, व्याकरणाचार्य और दर्शनाचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। साथ ही, सार्वदेशिक व हरियाणा आर्य वीर दल के शिविरों में योगासन का शिक्षण प्राप्त किया। पाँच वर्ष गुरुकुल झज्झर में अध्यापन-कार्य कर अब सत्रह वर्षों से गुरुकुल कालवा के सहायक आचार्य हैं। गोरक्षा-आन्दोलन में सक्रिय योगदान और फिरोजपुर तथा तिहाड़ जेलों में कारावास। हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि में वैदिक धर्म के प्रचार तथा चतुर्वेद-पारायण यज्ञों के अनुष्ठान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील। वेद-शिक्षा, षड्दर्शनसार आदि दो दर्जन पुस्तकों के लेखक।

श्री देवमुनि वानप्रस्थी—आर्यसमाज तुलजापुर(महाराष्ट्र)के मन्त्री श्री देवमुनि वानप्रस्थी वैदिक धर्म के श्रद्धालु अनुयायी तथा आर्यसमाज के अत्यन्त उत्साही व कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। सन् १६३० ई० से १६३५ ई० तक उन्होंने २०० ब्रह्मचारी तथा दर्जनों कार्यकर्त्ता धर्म-प्रचार के लिए तैयार किये। हैदराबाद में निजामशाही शासन के काल में वे जंगल में जाकर युवकों को लाठी-तलवार चलाने का प्रशिक्षण देते थे, और हिन्दुओं को इस ढंग से संगठित करते थे कि उनमें ऊँच-नीच व छूत-अछूत का भेद-भाव न रहे। सन् १६४७ ई० के बाद आर्य वीर दल की स्थापना कर वे हिन्दुओं को संगठित करने तथा

उनकी शक्ति की वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। आर्यसमाज द्वारा संचालित "पंजाब बचाओ देश बचाओ" आन्दोलन में सक्रिय योगदान। आर्यसमाज के लिए अपना सर्वस्व समर्पित। तुलजापुर समाज को ५० हजार मूल्य की भूमि दान में दी, और गायत्री महामन्त्र की हजारों प्रतियाँ छपवाकर उनका वितरण। निर्धन विद्यार्थियों की सहायता में सदा तत्पर।

श्रीमती यशोदा रानी आर्या वेदवाचस्पति—८ जनवरी १६१५ ईसवी को रावलपिण्डी (पाकिस्तान) में जन्म। पिता श्री गोविन्दराम लाहौर हाईकोर्ट के सफल एडवोकेट एवं लॉ कॉलेज के प्राध्यापक। साथ ही निःस्वार्थ देशभक्त और राष्ट्रवादी। देश के लिए जीवन को बलि देने की शिक्षा व प्रेरणा यशोदा जी ने अपने पिता जी से प्राप्त की। सन् १६३० ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, यद्यपि तब उनकी आयु केवल १५ वर्ष थी। पाँच लड़कियों के साथ विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर पिकेटिंग किया, जिसके कारण छः मास के कारावास का दण्ड। श्री गोविन्द-राम जी कट्टर राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ कर्मठ आर्यसमाजी भी थे। उनके साथ यशोदा जी भी आर्यसमाज के सत्संगों में जाने लगीं और महर्षि दयानन्द सरस्वती की श्रद्धालु अनुयायी बन गईं। हिन्दी प्रभाकर तथा एफ० ए० परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर वे सन् १६३३ ई० में दयानन्द आयुर्वेदिक कॉलेज लाहौर में प्रविष्ट हुईं, और वहाँ से "वैद्य कविराज" तथा "वैद्य वाचस्पति" की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सन् १६३६ ई० में जात-पाँत तोड़कर वैदिक रीति से विवाह किया। सन् १६४७ ई० में भारत का विभाजन होने पर वे पहले अम्बाला आईं और फिर कलकत्ता में रहीं। बाद में उनका कार्यक्षेत्र क्रमशः मेरठ, सहारनपुर और देहरादून में रहा। वे जहाँ भी रहीं, आर्यसमाज के कार्य-कलाप में पूर्ण निष्ठा तथा उत्साहपूर्वक भाग लेती रहीं। वे उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा की उपमन्त्री तथा अन्तरंग सदस्य भी रह चुकी हैं। यशोदा जी अखिल भारतीय महिला परिषद् की कार्यकारिणी समिति की सदस्या तथा कांग्रेस महिला फ्रंट की संयोजिका भी रही हैं। ग्रामों की जनता में प्रचार पर उनका विशेष ध्यान है। सार्वदेशिक सभा द्वारा संचालित "धर्म रक्षा अभियान" की सफलता के लिए भी उन्होंने प्रयत्न किया था। यह स्वीकार करना होगा कि देश, धर्म एवं समाज के लिए यशोदा जी का जीवन पूर्णतया समर्पित है।

पं० छगन लाल शर्मा जांगिड—बीचरो का बाग (जिला नागौर, राजस्थान) में सन् १६०७ ईसवी में जन्म। पिता पण्डित राधाकिशन जांगिड वैदिक विचारधारा के अनुयायी थे और उनका जीवन धार्मिक व सदाचारमय था। छगन लाल जी को वैदिक विचारधारा तथा धार्मिक जीवन उन्हीं से विरासत में प्राप्त हुआ। उनकी शिक्षा कुचामन शहर में हुई, और वहीं उन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार की। कालान्तर में वे स्थायी रूप से जोधपुर में बस गये, और वहाँ भी आर्यसमाज के सत्संगों तथा कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। हैदराबाद में आर्यसमाज द्वारा सत्याग्रह प्रारम्भ किये जाने पर छगनलाल जी ने भी उसमें भाग लेने का निश्चय किया। पर इससे पूर्व कि वे हैदराबाद जा सकते, सत्याग्रह में आर्यसमाज की विजय हो गई, और उन्हें स्टेशन से ही वापस लौट आना पड़ा। छगनलाल जी का जीवन आर्य मान्यताओं के अनुरूप है, और उनके परिवार के अन्य सब सदस्य भी निष्ठावान् आर्यसमाजी हैं। उनकी पत्नी

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

डा० आनन्द सुमन, देहरादून

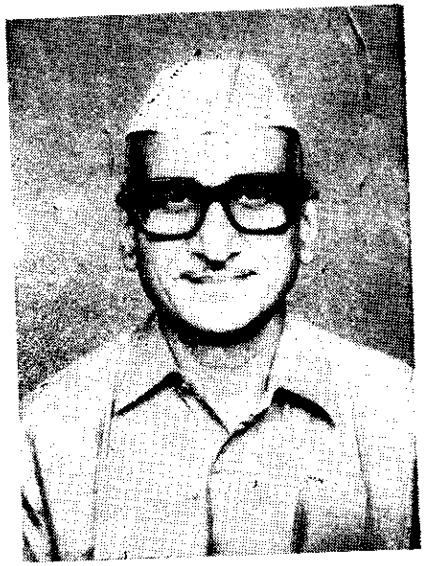

श्री धर्मपाल विद्यार्थी, आगरा

श्री रामप्रकाश आर्य, सिहोर

श्री धर्मदेवप्रसाद आर्य, पटना

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

श्री सत्यानन्द आर्य

श्री प्रकाशानन्द आर्य

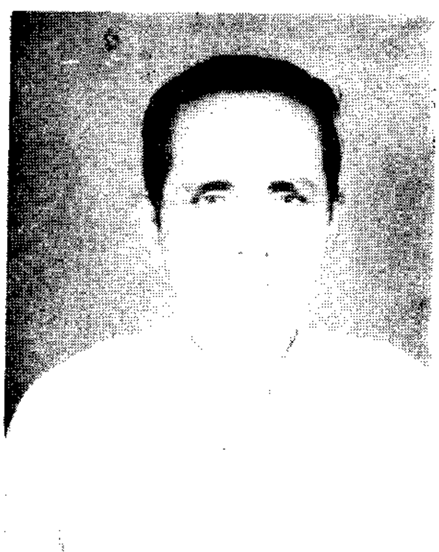

श्री अनिल कृष्ण आर्य

श्री प्रभाकर देव आर्य

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्त्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

आचार्य श्री ज्योतिस्वरूप
गुरुकुल एटा

आचार्य सत्यप्रिय शास्त्री
हिसार

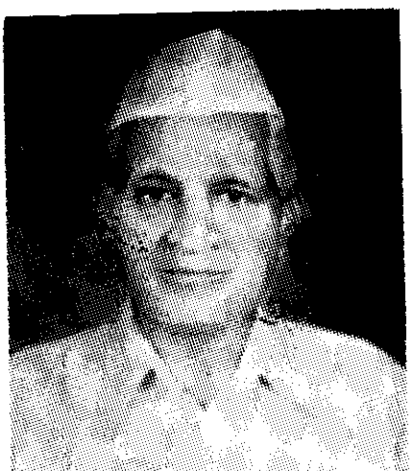

श्री मूलचन्द गौतम
नरेला

सेठ श्री सत्यनारायण लाहोटी
सुजानगढ़

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

श्री नन्दलाल जांगिड़
जोधपुर

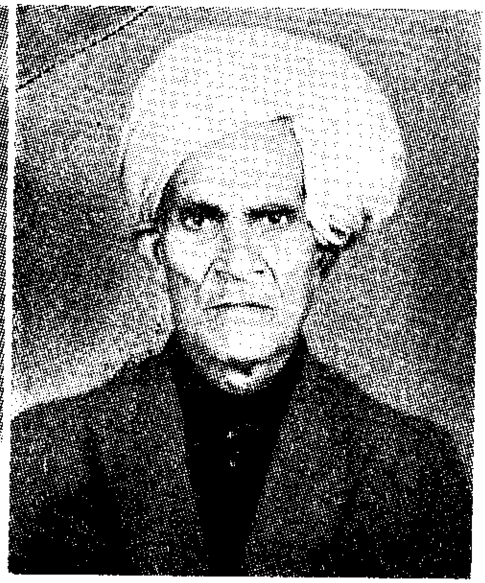

श्री महादेव जांगिड़
जोधपुर

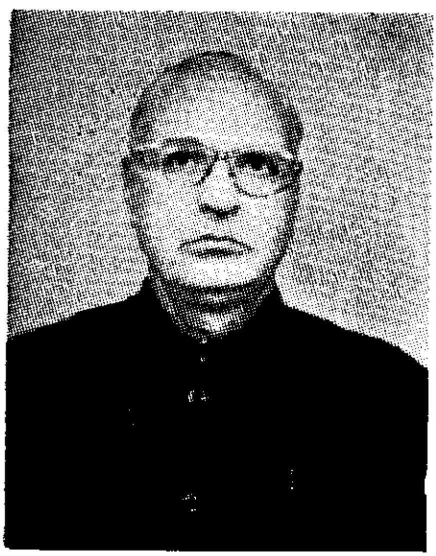

कविराज भंवर लाल जांगिड़
फुलेरा

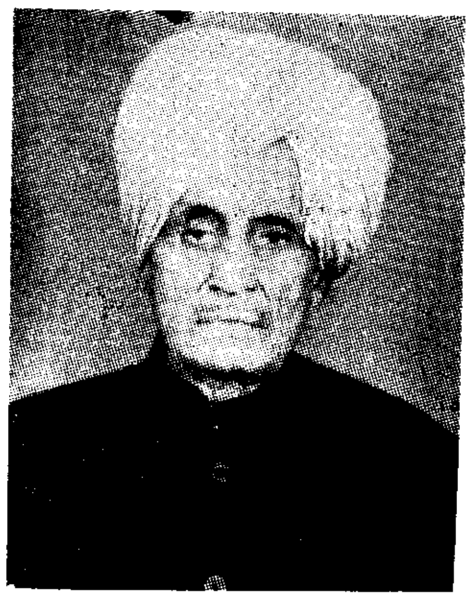

श्री छगनलाल शर्मा जांगिड़
जोधपुर

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

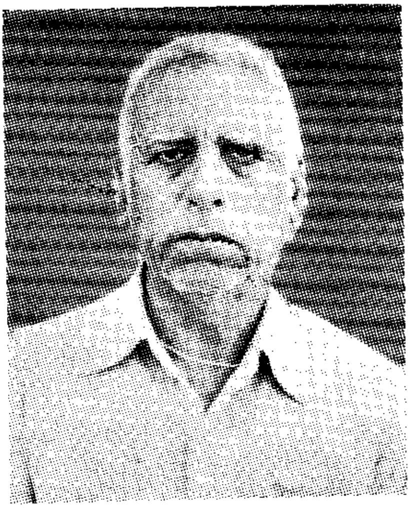

श्री रामचन्द्र आर्य
कोहरवाला (गंगानगर)

श्री छदम्मीलाल ठेकेदार
बिहारीपुर भटिया (बरेली)

श्रीमान् लाला श्रीराम
पानीपत

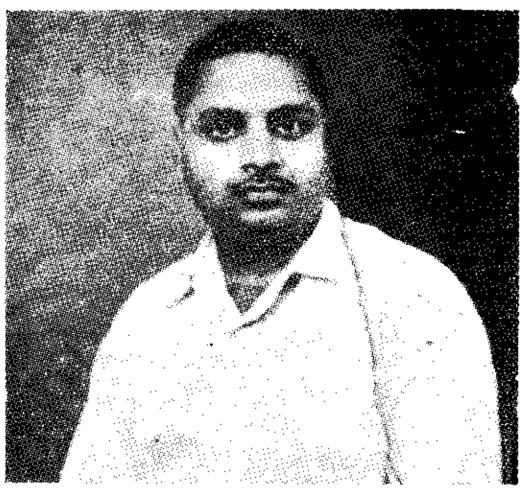

श्री आदित्य प्रकाश आर्य
पानीपत

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

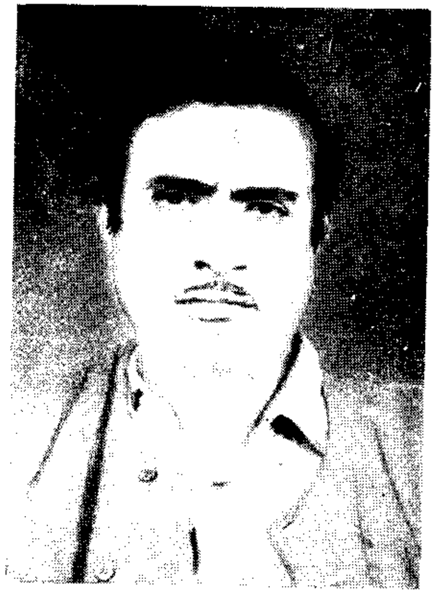

श्री मगनलाल अग्रवाल
रांची (बिहार)

श्री रामदयाल
आगरा

श्री बालकृष्ण आर्य 'विकल'
बिन्दकी (फतेहपुर)

श्री बद्रीप्रसाद गुप्त
बिन्दकी (फतेहपुर)

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता
और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

श्री सत्यपाल भसीन

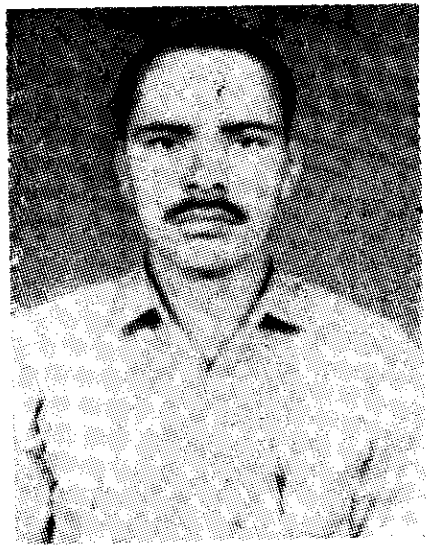

श्री प्रकाशवीर आर्य, ऊँचा गांव

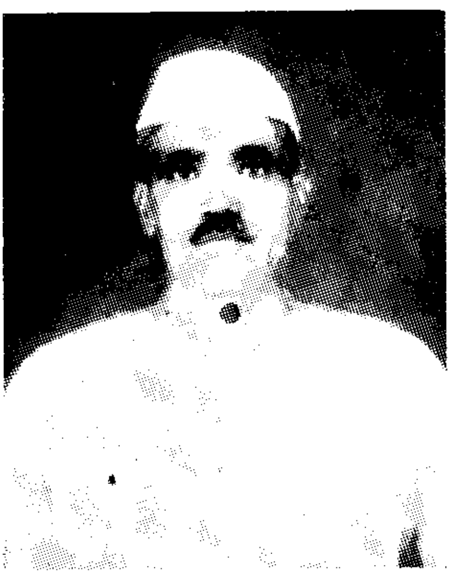

चौधरी चरण सिंह

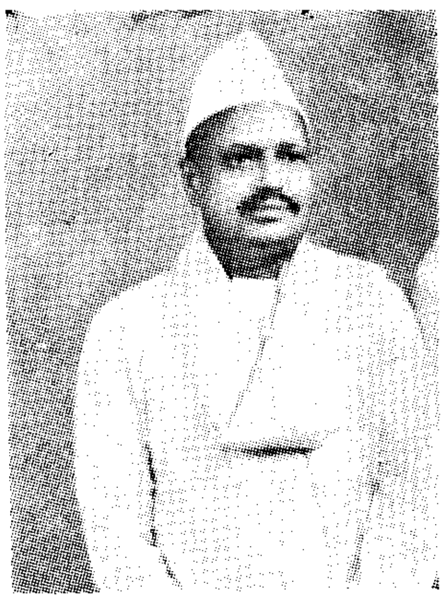

श्री कृष्णदास नया बांस, दिल्ली

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

श्री गंगाप्रसाद आर्य
हापुड़

श्रीमती कैलाशवती, हापुड़
(धर्मपत्नी, श्री गंगाप्रसाद आर्य)

श्री विजय कुमार आर्य, हापुड़

श्री देवीप्रसाद पी० मालदार

श्रीमती केसरबाई जी भी समाज के कार्यों में उन्हें सहयोग देती रहती हैं।

श्री ओम्प्रकाश राजपाल—६ दिसम्बर १६३० ई० को पना आकिल (सिन्ध पाकिस्तान) में जन्म। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्य में रुचि और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक योगदान। भारत के विभाजन के पश्चात् बिहार में बस गये और रक्सौल को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। रक्सौल आर्यसमाज के प्रधान तथा बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के सदस्य हैं। नेपाल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष उत्साह है। आर्यसमाज के सभी आन्दोलनों—हिन्दी सत्याग्रह, गोरक्षा अभियान आदि में इनका सक्रिय योगदान रहा है।

स्वामी वेदमुनि परिव्राजक—जन्म नाम बलवन्त सिंह। शेरकोट (जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश) के एक कृषक परिवार में जन्म। युवावस्था में आर्यसमाज से सम्पर्क और श्री किशनस्वरूप आर्य द्वारा सत्यार्थप्रकाश की प्राप्ति। उससे प्रभावित हो अन्य वैदिक साहित्य तथा संस्कृत भाषा का अध्ययन एवं शेरकोट आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह के साथ योगदान प्रारम्भ। आर्यसमाज शेरकोट के विविध पदों पर कार्य करने के साथ-साथ बिजनौर-गढ़वाल जनपदीय आर्योपप्रतिनिधि सभा के उपदेशक विभाग के अधिष्ठाता भी (१६५१ ई०)। क्योंकि वह उपदेशक के कार्य में रत थे, जो ब्राह्मणोचित कार्य है, अतः सन् १६५२ में क्षत्रियोचित नाम बलवन्त सिंह को बदलकर वेदव्रत नाम स्वीकार कर लिया। सन् १६५७ ई० में पंजाब में हिन्दी सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जब राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री जेल चले गये, तो उनका सब कार्यभार वेदव्रत जी ने संभाल लिया और राजस्थान में सत्याग्रह के लिए स्वयंसेवक भरती करने तथा धन एकत्र करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। २० जुलाई, सन् १६५६ ई० को संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर स्वामी वेदमुनि परिव्राजक नाम से विख्यात हुए, और अपना जीवन वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया। अत्यन्त निर्भीक प्रचारक तथा विधर्मियों की उग्र आलोचना के लिए सदा तत्पर। इसी कारण मुसलमानों तथा पौराणिकों द्वारा अनेक बार हमले तथा हत्या के प्रयत्न। वैदिक धर्म तथा आर्य संस्थाओं पर "सरिता" द्वारा किये जाने वाले अनर्गल आक्षेपों का उत्तर देने के लिए "पुण्यलोक" पत्रिका का प्रकाशन। स्वामी जी की सत्यार्थप्रकाश पर अगाध श्रद्धा। युवावस्था में १६ बार उसका पाठ, सन् १६५५ ईसवी में बीसवीं बार पढ़कर उसके वास्तविक महत्त्व का बोध, एवं उसके प्रचार के लिए सतत प्रयत्नशील। नजीबाबाद में "वैदिक संस्थान" की स्थापना, जो वैदिक साहित्य के प्रकाशन तथा प्रचार और आर्यसमाज की गतिविधि का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है।

पं० महादेव जाँगिड—राजस्थान के नागौर जिले के जूमरी गाँव में जन्म। पिता पण्डित मूलचन्द जाँगिड धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। १८ वर्ष की आयु में महादेव जी अर्थ-उपार्जन के लिए जोधपुर आ गये। वहाँ वह आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और सत्यार्थप्रकाश पढ़कर महर्षि दयानन्द सरस्वती के श्रद्धालु अनुयायी तथा आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता बन गये। वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए तन-मन-धन से समर्पित। उनका सारा परिवार आस्थावान् आर्यसमाजी है और सब कोई समाज के कार्यों में उत्साह के साथ भाग लेते हैं।

पं० मक्खनलाल जाँगिड—सन् १६२६ ई० में ग्राम पायली (जिला नागौर, राजस्थान)

में श्री खंगाराम जाँगिड के घर जन्म। लाडनूं में मामा के घर पर शिक्षा। वहाँ वे अहिंसा अणुव्रत के प्रवर्तक जैन साधु आचार्य तुलसी के सहपाठी थे। नन्दलाल जी लाडनूं में आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और महर्षि दयानन्द सरस्वती के श्रद्धालु अनुयायी बन गये। कालान्तर में वे जोधपुर आ गये, और वहाँ सोमदत्त टिम्बर उद्योग एवं सुरेन्द्रानन्द एण्ड कम्पनी नामक व्यापारिक प्रतिष्ठान खोलकर भरपूर धन कमाया, पर धनोपार्जन करते हुए भी आर्यसमाज के कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे, और उसके लिए मुक्तहस्त हो दान देते रहे। सरदारपुरा आर्यसमाज की उन्नति व प्रगति में उनका विशेष योगदान रहा। समाज-सुधार के कार्यों में वे सदा अग्रणी रहे। परिवार के सभी सदस्य कर्मठ आर्यसमाजी हैं, और देश, धर्म एवं समाज की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। ग्यारह अगस्त सन् १९८६ ई० को श्री नन्दलाल जी असमय में ही दिवंगत हो गये।

श्री गंगाप्रसाद आर्य सिमरौली वाले—जनवरी, १९२५ में रोहटा (जिला मेरठ) में जन्म। पिता लाला भगवानदास का हापुड़ में व्यवसाय। बचपन से ही गंगाप्रसाद जी के हृदय में देश की स्वाधीनता के लिए जीवन लगा देने की उत्कट अभिलाषा। श्री सुभाषचन्द्र बोस के आह्वान पर १९३९ ई० में नौजवान बीर दल की स्थापना। सन् १९४२ ई० के "अंग्रेजो भारत छोड़ो" आन्दोलन में सक्रिय योगदान और हापुड़ में एक शहीद मेले का प्रारम्भ। आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता। सन् १९५७ ई० के पंजाब हिन्दी सत्याग्रह की सहायतार्थ हापुड़ में गठित हिन्दी रक्षा समिति के महामन्त्री। सत्याग्रह में सक्रिय भाग। १९६६ ई० के गोरक्षा आन्दोलन में सत्याग्रही जत्थों का संगठन और स्वयं भी जेल गये। मॉरीशस के सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित हुए और वहाँ फहराने के लिए २५०० रुपये खर्च कर एक आर्य ध्वज बनवाकर ले गए। यह ध्वज अब तक मॉरीशस में फहरा रहा है। श्री गंगाप्रसाद की साहित्य में भी रुचि है। "गोभक्तों का कुम्भ" उनकी प्रसिद्ध रचना है।

श्रीमती कैलाशवती आर्या—पत्नी श्री गंगा प्रसाद आर्य, हापुड़। ८ अगस्त १९३२ ई० को जन्म। आर्यसमाज के कार्यकलाप के प्रति अत्यधिक रुचि। नई मण्डी (हापुड़) आर्यसमाज के भवन के निर्माण में सक्रिय सहयोग।

श्री विजयकुमार आर्य—हापुड़ के श्री गंगाप्रसाद आर्य के सुपुत्र। जन्म १० नवम्बर १९५६ ई० के दिन। पिता के समान विजयकुमार जी भी आर्यसमाज के कर्मठ व उत्साही कार्यकर्ता हैं और गोरक्षा आन्दोलन में सत्याग्रह कर जेल जा चुके हैं।

श्री रामचन्द्र आर्य—१ मई १९३६ ई० को लान्धा की ढाणी गाँव (जिला भिवानी, हरियाणा) में जन्म। हाईस्कूल की शिक्षा के अतिरिक्त संस्कृत का भी अध्ययन; धर्म-रत्न, सिद्धान्तरत्न तथा विद्यावाचस्पति की उपाधियाँ। आचार्य भगवान्देव (स्वामी ओमानन्द) जी द्वारा आर्यसमाज में प्रवेश की दीक्षा ग्रहण कर धर्म तथा देश की सेवा में जी-जान से संलग्न। ग्रामोत्थान विद्यापीठ संगरिया (राजस्थान) द्वारा संचालित समाज-शिक्षा केन्द्रों का अनेक वर्षों तक संचालन। आर्यसमाज के अनेक संगठनों तथा संस्थाओं से सक्रिय रूप से सम्बद्ध तथा यथाशक्ति उन्हें आर्थिक सहायता। अपने निजी पुस्तकालय में धार्मिक पुस्तकों का उत्तम संग्रह। आर्यसमाज के कर्मठ, निःस्वार्थ एवं उत्साही कार्यकर्ता हैं।

श्री वासुदेव शर्मा—वैदिक धर्म-प्रचार व आर्यसमाज की सेवा में सतत कार्यरत

एवं पचास वर्षों से भी अधिक समय से बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधानमंत्री, उपप्रधान तथा प्रधान पदों पर आसीन रहने के साथ-साथ अनेक शिक्षा-संस्थानों के संस्थापक, संचालक और सुयोग्य शिक्षक। सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में कृत-संकल्प समाजसेवी। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सन् १९४१ ई० से ही अन्तरंग सदस्य। उपमन्त्री और उपप्रधान पदों पर रहते हुए निरन्तर आर्यसमाज की सेवा में संलग्न। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में अग्रणी रहे, और अनेक बार जेल गये।

श्री देवीदास पांडुरंग मालदार—१६ अगस्त १९४० ईसवी को अचलपुर शहर (जिला अमरावती, महाराष्ट्र) में जन्म। साधारण शिक्षा के अतिरिक्त आर्य साहित्य का विशेष रूप से अध्ययन व स्वाध्याय तथा आर्य विद्या परिषद्, अजमेर की विद्यावाचस्पति, सार्वदेशिक सभा की धर्माचार्य एवं आर्य युवक परिषद् की सत्यार्थशास्त्री परीक्षाएँ उत्तीर्ण। वैदिक साहित्य के प्रचार हेतु लघु पुस्तिकाओं व ट्रैक्ट आदि का निःशुल्क वितरण। आर्य साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए सन् १९७७ ई० में अचलपुर शहर में एक ग्रन्थालय की स्थापना।

डा० आनन्द सुमन सिंह—पूर्व नाम डॉक्टर कुँवर रफत अखलाक। २४ मार्च १९५३ ई० को जन्म। चिकित्सा-विज्ञान में स्नातक (स्वर्ण पदक प्राप्त)। ३० अगस्त १९८१ ई० को वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जीवन समर्पित। युवकों के नैतिक विकास तथा सैनिकीकरण के प्रयोजन से युवा क्रान्ति परिषद्, हिन्दू शिव सेना तथा क्षत्रिय युवा सभा की स्थापना एवं उनका संचालन। दस पुस्तकों के लेखक, जिनमें "वेद और कुरआन का तुलनात्मक अध्ययन" अत्यन्त प्रसिद्ध व महत्त्वपूर्ण है। निष्पक्ष तथा निर्भीक ओजस्वी वक्ता होने के कारण अनेक हमले भी डॉक्टर साहब पर हुए, पर उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। आपकी पुस्तक "मैंने इस्लाम क्यों छोड़ा" अनेक भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनूदित और उसकी सात करोड़ से भी अधिक प्रतियाँ मुद्रित। "क्रान्ति प्रकाशन" नामक प्रकाशन-संस्था की स्थापना, जिस द्वारा अब तक १३ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, और वेदभाष्य प्रकाशित करने की योजना है। प्रायः सम्पूर्ण भारत में आप अपने क्रान्तिकारी व प्रगतिशील विचारों के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार कर चुके हैं, और अनुपम निष्ठा के साथ आर्यसमाज की सेवा में संलग्न हैं।

श्री रामप्रकाश आर्य—२० नवम्बर १९२७ ई० को बरेली में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी में। बरेली कॉलेज, बरेली से हिन्दी तथा संस्कृत में एम० ए०। आगरा यूनिवर्सिटी से 'दयानन्द सरस्वती, जीवनी तथा उनकी हिन्दी रचनाएँ' विषय के शोध-प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की डिग्री। १९४२ ई० के स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय भाग। सम्प्रति शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय सीहोर (मध्य प्रदेश) में हिन्दी के प्रोफेसर। आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय योगदान।

श्री कृष्णदास मेवा वाले—बीसवीं सदी के शुरू में दिल्ली के एक सम्भ्रान्त परिवार में जन्म। सनातन धर्म के उत्साही कार्यकर्त्ता, पर शिव मन्दिर के एक दृश्य को देखकर विचारों में परिवर्तन और आर्यसमाज में प्रवेश। स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्पर्क में आकर राष्ट्र तथा समाज की सेवा में लग गये, और कतिपय साथियों के सहयोग से नया बाँस आर्यसमाज की स्थापना की। दयानन्द जन्म शताब्दी, मथुरा से प्रारम्भ कर

आर्यसमाज के प्राय: सभी विशाल समारोहों में भाग लेते रहे। क्वेटा-भूकम्प से पीड़ित व्यक्तियों के लिए 'आर्य क्वेटा सहायता समिति' का गठन, हैदराबाद सत्याग्रह के स्वयंसेवकों के लिए भोजन-सामग्री की व्यवस्था और नया बाँस आर्यसमाज में आर्य वैदिक पाठशाला की स्थापना, जो उनके प्रयत्न से उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के रूप में विकसित। ५० वर्ष तक इस शिक्षण-संस्था का संचालन व प्रबन्ध। आर्यसमाज के कर्मठ व उत्साही कार्यकर्त्ता। इन्द्रप्रस्थ सेवक मण्डली से सम्बन्धित होकर जनसाधारण की सेवा। ८० वर्ष की आयु में भरा-पूरा परिवार छोड़कर दिवंगत हुए।

श्री प्रभाकर देव आर्य—हिण्डोन सिटी(राजस्थान)के सुयोग्य कर्मठ आर्य कार्यकर्त्ता। घूडमल आर्य पुरस्कार की व्यवस्था करनेवाले 'घूडमल आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट' के मंत्री। साहित्यिक व सामाजिक कार्यों में विशेष रुचि।

श्री सत्य नारायण लाहौटी—६ जनवरी, १९२७ ई० को सुजानगढ़(राजस्थान) में जन्म। बीकानेर राज्य प्रजा परिषद् तथा कांग्रेस के कर्मठ कार्यकर्त्ता के रूप में देश के स्वाधीनता-संघर्ष में सक्रिय योगदान। सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग। दो वर्षों तक गोपाल गोशाला सुजानगढ़ तथा सात साल माहेश्वरी सभा के मन्त्री। सुजानगढ़ की रोटरी क्लब तथा आर्यसमाज के प्रधान रहे हैं। जनवरी १९८१ में स्थापित 'आर्यसमाज सुजानगढ़ चेरीटेबल ट्रस्ट' के मैनेजिंग ट्रस्टी हैं। अन्य भी अनेक धर्मार्थ ट्रस्टों (यथा सेठ मिश्रीलाल धर्मार्थ धर्मशाला न्यास सीकर, श्रीमती राधादेवी जाजोदिया चेरिटेबल ट्रस्ट आदि के) ट्रस्टी हैं। सन् १९८० ई० में सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में भाग लेने के लिए लण्डन गये। तीन बार विदेशों (यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि) की यात्रा कर चुके हैं। गोहत्या बन्द कराने के लिए १९८२ ई० में सुजानगढ़ में सौम्य सत्याग्रह का आयोजन। वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा तथा आर्यसमाज के लिए समर्पित जीवन। कलकत्ता आर्यसमाज की स्थापना-शताब्दी के अवसर पर धर्म तथा समाज की सेवा के लिए प्रशस्ति-पत्र तथा मेमेण्टो द्वारा सम्मानित। सत्यनारायण जी की धर्मपत्नी श्रीमती गुलाबी देवी जी लाहौटी भी प्रत्येक धार्मिक व सामाजिक कार्य में उत्साह के साथ भाग लेती हैं।

श्री त्यागानन्द सरस्वती—पूर्वनाम मूर्तिनारायण चतुर्वेदी। देवरिया (उत्तर प्रदेश)के ग्राम कोहरोली में ज्योतिष शास्त्र के महापण्डित श्री रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के घर में जन्म। रियासत रुद्रपुर (नताती)की सच्चिदानन्द संस्कृत पाठशाला में व्याकरण-केशरी पण्डित मुक्तिनाथपति त्रिपाठी से संस्कृत तथा शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन, तथा कुछ समय इसी पाठशाला में अध्यापन-कार्य। बाद में लाहौर जाकर दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की और आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित होकर कश्मीर, मुलतान आदि में उपदेशक का कार्य किया। रुद्रपुर की पाठशाला के संस्थापक स्वामी सच्चिदानन्दजी भी प्रगतिशील विचारों के थे, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुसार पाठशाला का संचालन करना चाहते थे। उनकी प्रेरणा से श्री मूर्तिनारायण जी ने यह विचार रुद्रपुर के राजा साहब के सम्मुख प्रस्तुत किया। उनकी सहमति प्राप्त कर रुद्रपुर की संस्कृत पाठशाला का नाम 'निःशुल्क गुरुकुल विद्यापीठ' रख दिया गया, और उसमें सब वर्णों व कुलों के विद्यार्थी शिक्षा के लिए प्रविष्ट किये जाने लगे। पर संस्था के समुचित विकास के लिए यह स्थान पर्याप्त नहीं था। श्री मूर्तिनारायण जी उपयुक्त

स्थान तलाश करते हुए अन्त में अयोध्या—फैजाबाद मार्ग पर १५० फीट लम्बी एक धर्मशाला तथा उसके साथ लगी दो एकड़ की वाटिका प्राप्त करने में समर्थ हो गये, और उन्होंने वहाँ 'निःशुल्क गुरुकुल महाविद्यालय अयोध्या" नाम की एक शिक्षण-संस्था स्थापित की, जो शीघ्र ही अयोध्या सदृश सनातन धर्म की गढ़ नगरी में आर्यसमाजी विचारों के प्रचार-प्रसार का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गई और जिसने संस्कृत तथा वेदशास्त्रों के सैकड़ों विद्वान् उत्पन्न किये। स्वामी त्यागानन्दजी सरस्वती इस गुरुकुल के प्राण हैं, और उन्होंने अपने जीवन को आर्यसमाज की सेवा के लिए समर्पित किया हुआ है।

स्वामी सत्यपति—रोहतक जिले के फरमाणा गाँव में एक मुस्लिम परिवार में सन् १९२७ ई० में जन्म। सन् १९४७ ई० में भारत-विभाजन के समय सत्यपति जी के परिवार को शुद्ध कर वैदिक धर्म में दीक्षित कर लिया गया, और उनके पूर्वनाम 'मुंशी' को बदलकर 'मनुदेव' रख दिया गया। देश के विभाजन-काल की वीभत्स घटनाओं को आँखों से देखकर युवा मनुदेव को वैराग्य हो गया, और संसार से विमुख हो वह ईश्वर के ध्यान में ही समय लगाने लगे। इसी बीच सत्यार्थप्रकाश उनके हाथ लगा, जिसे पढ़कर वेदादि सत्य शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन की इच्छा प्रादुर्भूत हुई। स्वामी ओमानन्द जी द्वारा संचालित गुरुकुल झज्झर में बारह वर्ष के लगभग वेदादि का अध्ययन और फिर अजमेर जाकर पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक से मीमांसा दर्शन की शिक्षा। बाद में १३ वर्ष के लगभग गुरुकुल सिंहपुरा (रोहतक) में कार्य और वहीं स्वामी ब्रह्ममुनिजी से संन्यास की दीक्षा। एप्रिल, १९८६ में साबरकांठा (गुजरात) के आर्य वन विकास फार्म में "षड्दर्शन एवं योग-प्रशिक्षण शिविर" द्वारा युवा नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को षड्दर्शन का अध्यापन तथा योगाभ्यास का प्रशिक्षण। स्वामी जी की योजना है कि इसी प्रकार के शिविर आयोजित कर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए समर्पित प्रचारक तैयार किये जाएँ।

श्री छदम्मीलाल ठेकेदार(१८८७–१९५४)—आर्यसमाज के अत्यन्त कर्मठ एवं उत्साही कार्यकर्त्ता। कई वर्षों तक आर्यसमाज विहारीपुर तथा आर्यनगर भूड़ बरेली एवं आर्य अनाथालय बरेली के प्रधान रहे। हैदराबाद सत्याग्रह के समय सत्याग्रहियों के जत्थे का प्रधान के रूप में नेतृत्व किया। बरेली की आर्यसमाजों तथा आर्य संस्थाओं और एटा गुरुकुल के लिए प्रचुर दान एवं भवन-निर्माण। उनके सुपुत्र डॉ० ओम्प्रकाश आर्य और डॉ० रामप्रकाश आर्य भी समर्पित रूप से आर्यसमाज की सेवा में कार्यरत हैं।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती—१० फरवरी, १९०६ ई० को दिल्ली के एक गाँव नाँगलोई में एक वैश्य परिवार में जन्म। बचपन का नाम राजालाल। पिता श्री प्यारेलाल एक स्कूल में गणित के अध्यापक थे। दयानन्द रेजिडेंशल हाईस्कूल, पटौदी हाउस दिल्ली में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त कर लाहौर के ब्राह्म महाविद्यालय से धर्मेन्दु तथा धर्मेन्द्र परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। फिर गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में स्वामी शुद्धबोध तीर्थ जी से संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य का गम्भीर अध्ययन। बाद में पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। इस प्रकार संस्कृत तथा वेदशास्त्रों के विद्वान् होकर १९२७ में घर लौटे और राजालाल से राजेन्द्रनाथ बन गये। इसी समय उनका विवाह हुआ। कुछ वर्ष दिल्ली के विविध स्कूलों में संस्कृत का अध्यापन कर १९३४ ई० में दयानंद वेद विद्यालय की स्थापना की, और अपने जीवन के पच्चीस वर्ष इस संस्था के निर्माण व

व विकास में लगा दिये। सन् १९४० में यूसुफ सराय (दिल्ली) के निकट ५ बीघा भूमि इसके लिए दान में प्राप्त हो गई, जिसके परिणामस्वरूप इस संस्था की यथेष्ट उन्नति के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। वर्तमान समय में यह विद्यालय गौतम नगर की घनी आबादी से घिरा हुआ है और 'गुरुकुल गौतम नगर' के नाम से प्रसिद्ध है। श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री के आचार्यत्व में बहुत-से मेधावी विद्यार्थी इस गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर वेदशास्त्रों के विख्यात विद्वान् बने। उनके शिष्यों में आचार्य भगवान्देव(स्वामी ओमानंद)का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गुरुकुल गौतम नगर में राजेन्द्रनाथजी ने जिस आर्ष शिक्षा-पद्धति को अपनाया था, बाद में उसके अनुसार कितने ही अन्य गुरुकुल स्थापित हुए। गुरुकुल का संचालन करते हुए राजेन्द्रनाथ जी ने अनेक ग्रन्थ भी लिखे, जिनमें संस्कृत पद्य-गद्यमयं महाभारतम्, सरलं संस्कृतम्, संस्कृत व्याकरणप्रकाश आदि विशेष महत्त्व के हैं।

सन् १९६८ में संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती नाम धारण किया। बाद में महात्मा आनन्द स्वामी ने 'योगी' की उपाधि प्रदान की। संन्यासी बनकर योगदर्शन और योगाभ्यास पर विशेष ध्यान। सारे देश में घूम-घूमकर सैकड़ों योग-शिविर लगाये जिनमें हजारों साधकों ने योग की शिक्षा प्राप्त की। वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में 'योगधाम' तथा हैदराबाद में 'पातंजल योगमठ' नामक योग साधना-केन्द्रों की स्थापना एवं संचालन। योग विषय पर अनेक पुस्तकों की रचना, यथा 'पातंजल योग साधना' 'योगसार' और 'पातंजल योग सूत्र भाष्यभ्' आदि। साथ ही पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा खोजी गई महर्षि दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी का 'योगी का आत्मचरित्र' नाम से प्रकाशन।

श्री नन्दकिशोर लोहिया—२० सितम्बर १९०३ ई० को गोरखपुर के एक आर्य-समाजी परिवार में जन्म। इनके पिता श्री शिवनाथ राय जी आर्य गोरखपुर आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष आदि पदों पर रहे। नन्दकिशोर जी का भारत के स्वाधीनता-संघर्ष में सक्रिय योगदान। सत्याग्रहियों के भोजन आदि की व्यवस्था, क्रान्तिकारियों को आश्रय। काकोरी केस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के अन्त्येष्टि संस्कार का आयोजन करने पर सरकार की क्रूर दृष्टि तथा पुलिस द्वारा गिरफ्तारी। छूत-अछूत के भेदभाव के प्रबल विरोधी। अछूत समझे जानेवाले 'डोम' लोगों के व्यायाम व कुश्ती के लिए अखाड़े का निर्माण। १९६७ ई० में 'पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल स्मारक यज्ञशाला' के निर्माण में मुख्य कर्तृत्व। इस यज्ञशाला में दैनिक हवन। नन्दकिशोर जी जीवन-पर्यन्त पूर्ण आस्था के साथ आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेते रहे। दिसम्बर, १९८५ ईसवी में उनका निधन हुआ। उनके अन्यतम पुत्र अशोक कुमार लोहिया आर्य-समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता तथा आर्य युवक परिषद् के जनपदीय मंत्री एवं पत्रकार हैं।

स्वामी ओ३म प्रेमी चतुर्थाश्रमी—जन्म-नाम रामनारायण। सन् १९१८ ई० में जन्म। पिता सूर्य प्रसाद(स्वामी सूर्यानन्द सरस्वती)से वैदिक धर्म के प्रति आस्था विरासत में प्राप्त की। विद्यार्थी-अवस्था से ही कविता एवं साहित्य में रुचि। बाद में वकील बनकर भी काव्य-रचना जारी रखी, और 'पण्डित' उपनाम से हिन्दी में कविताएँ लिखते रहे। सन् १९६० ई० में 'ओ३म् प्रेमी' उपनाम रखकर हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत में काव्य-रचना प्रारम्भ की। इस बीच उनके किशोर पुत्र जयप्रकाश आर्य 'जयन्त' का आकस्मिक निधन हो गया। पुत्रशोक को भुलाने के लिए चारों वेदों का पद्यानुवाद

करने का संकल्प किया। वकालत करते हुए यजुर्वेद का पद्यानुवाद पूरा भी कर लिया, पर ऋग्वेद के अनुवाद में वकालत को बाधक अनुभव करने लगे। अतः ३५ वर्ष की सफल वकालत का त्याग कर अपना सब समय वेदों के पद्यानुवाद में लगाने लगे। इस विषय में आधे से अधिक काम वह सम्पन्न भी कर चुके हैं। इसी बीच उन्होंने 'माण्डवी महाशया' नामक एक महाकाव्य भी लिखा, जिसमें ३००० पद्य हैं। अन्य भी अनेक पुस्तकों की उन्होंने रचना की। १३ वर्ष तक पत्नी के साथ वानप्रस्थी के रूप में जीवन बिताकर उन्होंने चतुर्थ आश्रम (संन्यास) की दीक्षा ग्रहण की। उनकी पत्नी भी उनके साथ ही "ओ३म् प्रेमिणी" नाम से संन्यासिनी बन गईं। श्री रामनारायण जी स्वामी ओ३म् प्रेमी चतुर्थाश्रमी के नाम से वैदिक धर्म के प्रचार तथा साहित्य-सृजन में तत्पर हैं।

श्रीमती तारादेवी आर्य जाँगिड—१९३२ ई० में ग्राम कुचामन (जिला नागौर, राजस्थान) में जन्म। इनके पिता पण्डित राधाकिशन जाँगिड परम धार्मिक एवं वैदिक धर्म के अनुयायी थे। तारादेवी जी ने वैदिक विचारधारा तथा सदाचारपूर्वक जीवन पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त किये। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर अगाध श्रद्धा। नियमित रूप से दैनिक यज्ञ तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ का अनुष्ठान। फुलेरा आर्यसमाज के मन्त्री कविराज भँवरलाल शर्मा जाँगिड से विवाह। चतुर गृहिणी एवं सुसंस्कृत आर्य महिला। सच्चे अर्थों में पति की सहधर्मिणी। आर्य-समाज के कार्यकलाप में अपने पति को पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं। अतिथि-सेवा में विशेष रुचि। सारा परिवार दृढ़ आर्यसमाजी है।

स्वामी लक्ष्मणानन्द सरस्वती—जन्म नाम लक्ष्मणदेव। सन् १९३५ में सरसीया गाँव (सौराष्ट्र, गुजरात) में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में प्राप्त की। बाद में पण्डित मोहनलाल भीमशंकर शर्मा से यज्ञोपवीत ग्रहण कर संस्कृत भाषा तथा आर्यसमाज-विषयक साहित्य का अध्ययन किया। इस प्रकार वैदिक धर्म के अनुयायी हो उन्होंने सारा जीवन धर्म एवं समाज की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। अपने गाँव में लक्ष्मण बाग का विकास कर वहाँ पुस्तकालय की स्थापना तथा अन्न क्षेत्र का प्रारम्भ। इस संस्थाओं के माध्यम से आर्यसमाज के कार्यकलाप का विस्तार। ४ नवम्बर १९८३ को स्वामी सर्वानन्द जी से संन्यास की दीक्षा और स्वामी लक्ष्मणानन्द सरस्वती बने।

पं० भँवर लाल शर्मा जाँगिड आचार्य कविराज। फुलेरा (राजस्थान) आर्यसमाज के मन्त्री। गत चालीस वर्षों से वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में पूर्ण रूप से समर्पित। अपने पिता पण्डित जानकी लाल शर्मा से वैदिक विचारधारा तथा माता श्रीमती भँवरी बाई से श्रद्धा-भावना विरासत में प्राप्त की। फुलेरा में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सतत प्रयत्नशील। इन्हीं के प्रयत्न से फुलेरा आर्यसमाज द्वारा "महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार स्थिर निधि" की स्थापना, जिसके ब्याज से ऋषि-निर्वाण दिवस पर एक आर्य विद्वान् को ११०१ रुपये, प्रशस्ति-पत्र एवं उत्तरीय प्रति वर्ष प्रदान किये जाते हैं। इन्हीं के प्रयत्न से आर्यसमाज फुलेरा में एक पुस्तकालय की स्थापना तथा समाज-मन्दिर का पाँच लाख रुपये की लागत से समुचित विस्तार। हिन्दी के अनेक ग्रन्थों की रचना, जिनमें सन्त सतसई, शकुन्तला, दमयन्ती, वीरांगनाएँ आदि महत्त्वपूर्ण। राजस्थान सरकार ने इनकी उत्कृष्ट शिक्षक की भूमिका एवं

श्लाघनीय जनसेवा के सार्वजनिक अभिमन्दन-स्वरूप राज्य-स्तरीय पुरस्कार प्रदान कर इन्हें सम्मानित किया है।

श्री श्रीपाल आर्योपदेशक—१८ जनवरी, १९३७ ई० को खेड़ा हटाना (मेरठ) में जन्म। गुरुकुल किरठल (जिला मेरठ) में शिक्षा प्राप्त कर सन् १९५७ ई० से आर्य-समाज की सक्रिय सेवा में संलग्न। प्रभावशाली वक्ता, लेखक एवं सुकवि। आर्यसमाज-विषयक छः पुस्तकें प्रकाशित। गोरक्षा आन्दोलन में दो बार (१९६६ व ६७ ई० में) जेल-यात्रा। बागपत और बाघू में शुद्धि का कार्य। ढिकाना व बड़ौली आदि के अनेक आर्य-समाजों के संस्थापक। निरन्तर प्रचार-कार्य में संग्लन। महन्त बलराम तथा शंकराचार्य श्रीकृष्ण बोधाश्रम जी से शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की।

स्वामी स्वात्मानन्द—पूर्व नाम पण्डित देवीदीन। मैनपुरी (उत्तर प्रदेश) के लोहाड़ मुहल्ला के निवासी। वैदिक सिद्धान्तों में अडिग आस्था तथा आर्यसमाज के अत्यन्त कर्मठ व निर्भीक कार्यकर्ता। उन्हीं के अथक परिश्रम से सन् १८८१ ई० में मैनपुरी में आर्यसमाज की वास्तविक व स्थायी रूप से स्थापना हुई थी, यद्यपि इससे एक वर्ष पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती के मैनपुरी पधारने पर वहाँ आर्यसमाज का बीजारोपण हो गया था। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् व नेता श्री श्यामसुन्दर लाल सन् १८८९ ई० में पण्डित देवीदीन के सम्पर्क में आए और उनके प्रभाव से कट्टर आर्यसमाजी बन गए। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर देवीदीन जी स्वामी स्वात्मानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, और अपना सब समय वैदिक धर्म के प्रचार में लगाने लगे।

श्री श्यामसुन्दरलाल—१० दिसम्बर १८६८ ई० को मैनपुरी जिले के औछा ग्राम में एक कायस्थ कुल में जन्म। हिन्दी, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर बी० ए०, एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। आर्यसमाज के सम्पर्क में आने पर संस्कृत पढ़ने की प्रबल उत्कंठा हुई, और व्याकरण, दर्शन, उपनिषद्, वेद आदि का गम्भीर अध्ययन कर वेद-शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित बन गए। आर्यसमाज के अत्यन्त उत्साही व कर्मठ कार्यकर्ता। नसीराबाद छावनी में समाज मन्दिर का निर्माण, सहारनपुर में डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना, कपूरपुरा गाँव (मैनपुरी) में सामूहिक रूप से मुसलमानों की शुद्धि, मैनपुरी में आर्यसमाज के विशाल भवन का निर्माण, जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा की स्थापना, आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में निरन्तर संलग्न। ग्रामों में प्रचार पर विशेष ध्यान, इसीलिए आर्य उपप्रतिनिधि सभा मैनपुरी की ओर से प्रकाशित "ग्राम हितैषी" पत्र का सम्पादन। मुसलमानों तथा ईसाइयों से शास्त्रार्थ के लिए सदैव तत्पर। आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के सर्वमान्य नेता। सन् १९०२-३ में सभा के महामन्त्री, बीस वर्ष से अधिक समय तक उपप्रधान के रूप में सभा का संचालन। सार्व-देशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के संस्थापकों में अन्यतम तथा उसके अनुसन्धान विभाग के निर्माता। वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए दार्शनिक विषयों पर हिन्दी और अंग्रेजी में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन। आर्य गजट, आर्य पत्रिका आदि पत्र-पत्रिकाओं द्वारा आर्यसमाज-विषयक समस्याओं पर निरन्तर लेख। शिक्षा के क्षेत्र में कार्य—गुरुकुल वृन्दावन की स्थापना तथा संचालन में सक्रिय सहयोग।

सुश्री सुशीलकुमारी और कुसुमकुमारी—श्रीमती सुशीलकुमारी 'विकसित कुसुम' और श्रीमती कुसुम कुमारी "किसलय" का जन्म क्रमशः सन् १९११ और १९१३ ई०

में आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री श्याम सुन्दर लाल के घर मैनपुरी में हुआ था। दोनों बहिनें अत्यधिक मेधावी, प्रतिभाशाली एवं कविता के प्रति रुचि रखने वाली थीं। हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत की समुचित शिक्षा उन्होंने प्राप्त की थी। उनकी प्रतिभा कविताओं की रचना में विशेष रूप से प्रकट हुई, और उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। 'उषा' नामक पत्रिका की रजत जयन्ती के अवसर पर सुशील-कुमारी को उषा-स्मृति स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया। आर्यसमाज का प्रसिद्ध झण्डा-गान इन्हीं बहिनों द्वारा महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्ध शताब्दी के अवसर पर सन् १९३३ ई० में लिखा गया था। यह प्रसिद्ध गीत निम्नलिखित है—

ध्वज-गीत

जयति ओ३म् ध्वज व्योम विहारी।
विश्व प्रेम प्रतिमा अति प्यारी।
सत्य सुधा बरसाने वाला। स्नेह लता सरसाने वाला।
साम्य सुमन विकसाने वाला। विश्व विमोहक भव भय हारी॥ १॥
इसके नीचे बढ़ें अभय मन। सत् पथ पर सब धर्म धुरी जन।
वैदिक रवि का शुभ उदय। लोकित होवे दिशि सारी॥ २॥
इससे सारे क्लेश शमन हों। दुर्मति दानव द्वेष दमन हों।
अति उज्ज्वल अति पावन मन हो। प्रेम तरंग बहे सुखकारी॥ ३॥
इसी ध्वजा को लेकर कर में। भर दें वेद ज्ञान घर-घर में।
सुभग शांति फैले जग भर में। मिटे अविद्या की अँधियारी॥ ४॥
विश्व प्रेम का पाठ पढ़ायें। सत्य अहिंसा को अपनायें।
जग में जीवन ज्योति जगायें। त्यागपूर्ण हो वृत्ति हमारी॥ ५॥
आर्य जाति का सदा उदय हो। आर्य ध्वजा की अविचल जय हो।
आर्य जनों का ध्रुव निश्चय हो। आर्य बनावें वसुधा सारी॥ ६॥

श्री रमेशचन्द्र वर्मा एडवोकेट—२४ जून, १९२० ई० को विद्वद्वर श्री श्यामसुन्दर लाल के घर मैनपुरी में जन्म। आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रति प्रगाढ़ आस्था और उनके प्रचार-प्रसार के लिए सतत प्रयत्नशील। वर्मा जी गम्भीर विद्वान्, प्रभावशाली वक्ता, सुलेखक तथा प्रतिभाशाली कवि हैं। विचारों में वह प्रगतिशील व क्रान्तिकारी हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की अनेक घटनाओं का उन्होंने अपनी काव्य पुस्तक "ऋषि गाथा" में अत्यन्त सुन्दर रूप में वर्णन किया है। सन् १९६४ ई० में जब वर्मा जी आर्य उपप्रतिनिधि सभा मैनपुरी के महामन्त्री थे, सार्वदेशिक सभा के आदेशानुसार बंगाल दिवस मनाने व उसमें भाषण देने पर सरकार ने उन्हें नजरबन्द कर दिया, जिस पर जनता में व्यापक असन्तोष व क्षोभ। जन-आन्दोलन के सम्मुख झुककर सरकार को अपना आदेश वापस लेने के लिए विवश होना पड़ा। वर्मा जी पदों के चक्कर में न पड़ समाज की ठोस सेवा में संलग्न रहते हैं।

श्री लालमणि आर्य—सन् १८९७ ई० में सेही (जिला इलाहाबाद) नामक गाँव में एक सम्भ्रान्त आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री रामलाल भी कट्टर पौराणिक थे। श्री लालमणि १४ वर्ष की आयु में आर्यसमाज के सम्पर्क में आये, और स्वामी श्रद्धानन्द जी

महाराज के व्यक्तित्व तथा उपदेशों से प्रभावित होकर आर्यसमाजी बन गये और अपने नाम के साथ "आर्य" लगाना प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक पूजा-पद्धति एवं सामाजिक कुप्रथाओं का परित्याग कर वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुसार जीवन व्यतीत करने में तत्पर हुए, और वेदों, गीता, उपनिषद्, रामायण आदि के स्वाध्याय करने में समय (प्रतिदिन २४ घण्टों में १२ घण्टे) लगाने लगे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिववती जी भी उन्हीं के समान वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था रखती हैं, और समाज, देश तथा धर्म की सेवा में अपने पतिदेव का साथ देती हैं। पुरानी कुरीतियों का अनुसरण न करने में श्री लालमणि आर्य ने इतनी दृढ़ता दिखाई कि ५० वर्ष पूर्व अपने माता-पिता के दिवंगत होने पर उन्होंने उनकी अन्त्येष्टि क्रिया आर्य पद्धति के अनुसार तो की ही, पर साथ ही मृत्युभोज देने से भी इन्कार कर दिया, जिसके कारण बिरादरी में उनका बहुत विरोध हुआ। लालमणि जी के पाँच पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। सब सदाचारी और कट्टर आर्यसमाजी हैं। उनके एक पुत्र डॉक्टर ज्ञान प्रकाश आर्य (कच्चाहारी, संन्यस्त नाम स्वामी गुरुकुलानन्द) ने बिठूर (कानपुर) के निकट गंगा-तट पर १, ५०,००० रुपयों की लागत से गुरुकुल की स्थापना की, और वे अपना जीवन देश, धर्म और समाज की सेवा के लिए समर्पित कर रहे हैं।

श्री रणधीर—३१ अगस्त, १९१७ ई० को बिन्दकी(जिला फतेहपुर उत्तरप्रदेश), के एक प्रतिष्ठित वैश्य कुल में जन्म। पिता श्री अयोध्याप्रसाद जी नम्बरदार कर्मठ आर्य-समाजी थे, और उन्होंने ही बिन्दकी में आर्यसमाज की स्थापना की थी। श्री रणधीर ने आर्यसमाज की सेवा विरासत में प्राप्त की और बिन्दकी के दयानन्द इण्टर कॉलेज की कार्यकारिणी के सदस्य होकर इस आर्य शिक्षण-संस्था की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने एक वैश्य विद्यालय की भी स्थापना की। नगरपालिका के सदस्य होकर वे जनता की सेवा में उत्साहपूर्वक संलग्न रहे और आर्य धर्म व हिन्दू मन्दिरों की रक्षा के लिए मुसलमानों से लोहा भी लेते रहे। श्री रणधीर जी स्वाध्यायशील व वेदपाठी हैं, संस्कृत के विद्वान् हैं, और साथ ही कुशल वैद्य भी हैं। वे बिना फीस के रोगियों का उपचार करते हैं, और उन्हें दवा भी मुफ्त देते हैं। उनका सारा परिवार आर्यसमाजी है। ज्येष्ठ पुत्र श्री वेदप्रकाश गुप्त आर्य वीर दल के कर्मठ व सजग प्रहरी हैं, और उन्होंने स्टेशन रोड (बिन्दकी) पर एक आर्यसमाज भी स्थापित किया है।

श्री श्रीशचन्द्र शास्त्री विद्यावाचस्पति—६ मार्च, १९१८ ई० को नरवीरपुर गाँव (जिला आरा, बिहार) में जन्म। बचपन से ही क्रांतिकारी व प्रगतिशील विचार। आरा में सभी परिवारों में एक घर देवताओं के लिए होता है। श्रीशचन्द्रजी ने अपने परिवार के देवताघर के विरुद्ध विद्रोह, जिसके कारण पिता जी द्वारा प्रताड़न। १९३० ई० में आर्य-समाज आरा में एक भाषण सुनकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के प्रति आस्था और शीघ्र ही आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता बन गये। अनेक आर्यसमाजों की स्थापना। १९७३ ई० में आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए मॉरीशस गये, और १९७८ ई० में नैरोबी (अफ्रीका)। १९८३ ई० में बैंगकाक (थाईलैण्ड) आर्यसमाज के निमन्त्रण पर ३ मास प्रचार-कार्य किया। नेपाल की तराई में वीरगंज, कंचनपुर आदि में भी प्रचार का कार्य। सन् १९८७ ईसवी में बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान निर्वाचित। सारा जीवन आर्यसमाज के लिए समर्पित।

श्री द्वारका प्रसाद "ओज"—द्वारका प्रसाद जी के पिता श्री हीरोलाल नवादा (बिहार) के प्रसिद्ध आर्यसमाजी, कांग्रेसी व समाजसेवी थे। पिता के संस्कार पुत्र पर पड़े, और वह भी देश के स्वराज्य-संघर्ष तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। सन् १९४२ ई० के "अंग्रेजो, भारत छोड़ो" आन्दोलन में महीनों तक भूमिगत रहकर संघर्ष में तत्पर रहे। द्वारका प्रसाद जी पीयूषपाणि वैद्य हैं। नवादा जिला आर्यसमाज के प्रधान तथा बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के कोषाध्यक्ष हैं। आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं।

श्री सर्वेन्द्र शास्त्री—३० जून, १९२६ ईसवी को पहलेजा गाँव (जिला सारण, बिहार) में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल में। फिर साहित्याचार्य व बी० ए०, बी०टी० की उपाधियाँ प्राप्त कर बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पद पर कार्य। बाद में राजकीय शिक्षा विभाग में कार्य। हिन्दी तथा संस्कृत के सुयोग्य विद्वान्, लेखक तथा वक्ता। अनेक पुस्तकों के लेखक। बिहार में आर्यसमाज की सेवा में उत्साहपूर्वक संलग्न।

श्री देवदत्त भिषक् वैयाकरण—मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर श्री देवदत्त ने पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़ में अध्ययन किया, और श्रद्धानन्द सेवाश्रम, खूँटी (जिला राँची) को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। ये आयुर्वेदिक चिकित्सक होने के साथ-साथ छोटा नागपुर क्षेत्र के वनवासी बच्चों को आर्ष-विधि से शिक्षित करने में भी संलग्न हैं, और इन द्वारा बहुत-से अनाथ व निर्धन बच्चे फिरोजपुर अनाथालय में शिक्षा के लिए भी भेजे गये हैं। राँची जिला आर्य सभा के अनुरोध पर सम्प्रति श्री देवदत्त जी लोहरदगा के शान्ति आश्रम में वैदिक गुरुकुल का संचालन कर रहे हैं।

श्री बनवारीलाल आर्य—देवराला (हरियाणा) में सन् १९११ में जन्म। पिता श्री केदारनाथ अग्रवाल कट्टर पौराणिक थे, पर पण्डित दीनानाथ जी के सम्पर्क से बनवारीलाल जी और उनके भाइयों के विचारों में परिवर्तन हुआ, और वे आर्यसमाजी बन गये। उन्होंने देवराला में आर्यसमाज की स्थापना की, और अपने क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार का बहुत प्रयत्न किया। इस पर उन्हें बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया। पर धीरे-धीरे देवराला तथा आसपास के क्षेत्र में बहुत-से परिवार आर्यसमाजी बन गये। और बनवारी लाल जी तथा उनके बड़े भाई गोविन्दराम जी का प्रभाव बहुत बढ़ गया। उन्होंने देवराला में एक हाई स्कूल तथा एक कन्या पाठशाला खुलवाई। जुलाई, १९७८ में बनवारी लाल जी कन्या गुरुकुल विद्यापीठ पंचगाँव के प्रधान नियुक्त हुए और उसकी उन्नति में जुट गये। उनका जीवन आर्यसमाज की सेवा तथा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए समर्पित है।

श्री मदनलाल अग्रवाल—सन् १९२७ ई० में जन्म। युवावस्था से आर्यसमाज चतरा के सक्रिय सदस्य। स्वाधीनता-आन्दोलन में निरन्तर भाग लेते रहे। चतरा (जिला हजारीबाग, बिहार) आर्यसमाज के लिए भूमि के क्रय में उत्साहपूर्वक योगदान और सम्प्रति उस पर आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण का सम्पूर्ण व्यय स्वयं अकेले ही वहन कर रहे हैं।

श्री सुरेश प्रसाद आर्य—सन् १९४७ ई० में जन्म। दयानन्द ब्राह्म विद्यालय, हिसार में शिक्षा प्राप्त कर बिहार में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में लगे हैं। अविवाहित रहकर अपना सब समय आर्यसमाज के कार्यकलाप में व्यतीत करते हैं।

श्री हरिप्रसाद शास्त्री—बिहार के नालन्दा जिले में श्री रामशरण प्रसाद के घर जन्म। चाचा श्री स्वामी महावीरानन्दजी सरस्वती ने गुरुकुल भेजकर संस्कृत का आचार्य-स्तर तक अध्ययन कराया। बाद में हाईस्कूल में अध्यापक का कार्य किया। गत ३५ वर्षों से आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार के महोपदेशक के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं। शास्त्रार्थ में विलक्षण प्रतिभा है, कुशल पुरोहित हैं और प्रभावशाली वक्ता हैं।

श्री गोविन्द प्रसाद आर्य—सन् १९३७ ई० में जन्म। १९५० ई० में विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार। चतरा आर्यसमाज के सत्संगों में निरन्तर उपस्थित होने के कारण वैदिक धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था। १९५६ ई० में महर्षि दयानन्द सरस्वती की दीक्षा-शताब्दी, मथुरा में आर्य वीर दल के स्वयंसेवक के रूप में सम्मिलित हुए। १९६० ई० में तपोवन देहरादून में विद्याध्ययन। तत्पश्चात् अनेक आर्य शिक्षण-संस्थाओं में अध्ययन कर १९६४ ई० में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। १९६६ ई० में गोविन्दपुर ग्राम में वैदिक आश्रम विद्यालय की स्थापना। आर्यसमाज कलकत्ता, आर्यसमाज जमशेदपुर और आर्यसमाज राँची आदि में पुरोहित व प्रचारक का कार्य। सम्प्रति राँची एवं समीपवर्ती क्षेत्र में उपदेशक के रूप में कार्यरत हैं।

श्री गोविन्द सहाय—सन् १८९४ ई० में राँची में जन्म। पिता श्री जगतनारायण महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी। उनके साथ आर्यसमाज राँची में जाना शुरू किया, और निष्ठावान् आर्यसमाजी बन गये। सन् १९२० ई० में कानून की परीक्षा उत्तीर्ण कर राँची में वकालत प्रारम्भ की। साथ ही, आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। बिहार राज्य के सभी गुरुकुलों को धर्मशिक्षा के लिए स्थायी कोष प्रदान किया, और अनेक स्थानों (यथा आर्यसमाज टंकारा, आर्यसमाज राँची आदि) पर आर्यसमाज के दस नियम संगमरमर के पत्थर पर खुदवाकर दिये। आर्यसमाज की विविध संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान। राँची आर्यसमाज के सत्संग भवन का निर्माण गोविन्द सहाय जी द्वारा ही कराया गया। २८ अक्टूबर सन् १९८७ ई० को निधन। परिवार के सदस्य भी आर्यसमाज के मन्तव्यों में आस्था रखते हैं, और पारिवारिक सत्संग भी करते रहते हैं।

स्वामी वेदव्रतानन्द सरस्वती—२७ जनवरी १९४६ को राँची में जन्म। पूर्व नाम सुखू उराँव। इण्टरमीडिएट स्टेण्डर्ड तक शिक्षा प्राप्त कर १९५१ से १९५३ ईसवी तक मिशन स्कूल लोहरदगा में अध्यापन-कार्य। २० एप्रिल १९५३ को धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए घर से विदा होकर अयोध्या गुरुकुल में प्रवेश। फिर वेद विद्यालय दिल्ली, उपदेशक विद्यालय यमुना नगर, दयानन्द मठ दीनानगर, गुरुकुल खेड़ा खुर्द और उपदेशक विद्यालय हिसार आदि में अध्ययन कर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम० ए० (१९६९ ई०)। शिक्षा पूर्ण कर सन् १९८२ ई० तक अनेक गुरुकुलों में अध्यापन-कार्य। १ एप्रिल १९८३ ई० को स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती से संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर वैदिक संन्यास आश्रम गाजियाबाद में स्वाध्याय एवं साधना। ब्रजघाट में उपदेशक विद्यालय की स्थापना।

श्री जयमंगल शर्मा—५ एप्रिल १९२९ को मुजफ्फरपुर (बिहार) में जन्म। सन् १९५६ ई० में आर्यसमाज से सम्पर्क और स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' से वेद-सम्बन्धी

अध्ययन। सैनिक सेवा में रहते हुए आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक संलग्न। १९८१ ई० में सैनिक सेवा से स्वेच्छापूर्वक अवकाश ग्रहण कर स्थायी रूप से राँची में निवास और वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सब समय लगाते हैं।

श्री टेकचन्द आर्य—सन् १९०५ में जामपुर (जिला डेरा गाजी खाँ, पाकिस्तान) में जन्म। १९२५ ई० से १९४२ ई० तक जामपुर के सरकारी स्कूल में अध्यापन-कार्य। तत्पश्चात् पुस्तकों का व्यवसाय प्रारम्भ किया। भारत का विभाजन होने पर सन् १९४७ में पाकिस्तान से चले आए, और अनेक स्थानों पर निवास करने के अनन्तर राँची में स्थायी रूप से बस गये। वहाँ अपना स्वतन्त्र व्यवसाय स्थापित कर आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और पुस्तक व्यवसायी संघ, पंजाबी हिन्दू बिरादरी आदि संगठनों के कार्यों में भी उनका सक्रिय योगदान रहता है।

श्री देशपाल दीक्षित—सन् १९३१ में महाराष्ट्र में उत्पन्न हुए श्री देशपाल की शिक्षा गुरुकुल झज्जर में हुई, जहाँ से उन्होंने व्याकरणशास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। देशपाल जी नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, और छोटा नागपुर के आदिवासी लोगों को ईसाई होने से बचाने के लिए सन् १९६३ से सिमोणा में कार्य कर रहे हैं। अब तक इस क्षेत्र के पाँच-छः हज़ार ईसाइयों की शुद्धि कर चुके हैं, और तीन सौ के लगभग वनवासी छात्र-छात्राओं को आर्यसमाज के गुरुकुलों व अन्य शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा के लिए भेजा है। आदिवासी छात्रों के लिए एक छात्रावास भी स्थापित किया है।

स्वामी ईशानन्द—सन् १९०२ में देहली के सिंघोला ग्राम में जन्म। संन्यास ग्रहण करने से पूर्व का नाम रतिराम। आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त कर सार्वजनिक निर्माण विभाग, दिल्ली में सर्विस कर ली, और वहाँ ईमानदारी तथा कर्तव्यपालन की धाक जमा ली। नरेला के समीप सड़क बनवाते हुए रतिराम जी आचार्य भगवान्देव (स्वामी ओमानन्द) जी के सम्पर्क में आये और धूम्रपान की बुरी आदत छोड़कर यज्ञोपवीत धारण कर लिया। साथ ही, उन्होंने प्रतिदिन यज्ञ करने का व्रत लिया। यज्ञ किये बिना वे न स्वयं भोजन करते थे, और न परिवार के किसी सदस्य को भोजन करने देते थे। भगवान्देव जी के सम्पर्क से रतिराम जी महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी हो गये, और उन्होंने अपने गाँव में आर्यसमाज की स्थापना कर दी। देश, धर्म और समाज की पूर्णरूपेण सेवा करने के लिए उन्होंने ब्रह्मचारी रहने का निश्चय किया, यद्यपि उनका विवाह हो चुका था। धर्मपत्नी के साथ रहते हुए भी उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। सन् १९३९ ई० के हैदराबाद सत्याग्रह में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, और १९४२–१९४५ ई० में देश के स्वाधीनता-संग्राम में जुट गये। इसी बीच वे खरड़ गये, और वहाँ स्वामी आत्मानन्द जी महाराज से संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर रतिराम से ईशानन्द बन गये। दीनानगर (पंजाब) के दयानन्द मठ में रहकर उन्होंने स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी से दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। साथ ही, आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। लोहारू के आर्यसमाज-मन्दिर के निर्माण में उनका विशेष कर्तृत्व रहा। अन्य भी अनेक आर्यसमाजों तथा आर्य-संस्थाओं के भवन स्वामी ईशानन्द जी ने बनवाए। पंजाब के हिन्दी सत्याग्रह तथा गो-रक्षा आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया और जेल भी गये। स्वामी जी का जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए समर्पित है।

श्री रामजस आर्य भजनोपदेशक—आर्यसमाज सिरसा (हरियाणा) में स्वामी रामेश्वरानन्द जी से वाद्य संगीत सीखकर उन्हीं के प्रभाव से आर्यसमाज के भजनोपदेशक बने। भारतवर्षीय आर्य विद्या परिषद् अजमेर और आर्य युवक परिषद् के साथ निकट सम्पर्क तथा आर्य वीर दल के कर्मठ कार्यकर्त्ता। अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित करायी हैं।

श्री धर्मदेव आर्य—१२ मार्च, १९१५ को नालन्दा (बिहार) जिले के एक ग्राम में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर। प्रसिद्ध आर्य संन्यासी स्वामी मुनीश्वरानन्द जी के सम्पर्क से आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए और उसके कर्मठ कार्यकर्त्ता बन गये। मसौटी (पटना) में आर्यसमाज की स्थापना कर वर्षों तक उसके प्रधान रहे। राजनीति में सक्रिय भाग; १९४२ ई० के 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' आन्दोलन में रेल, तार उखाड़ते तथा थाने जलाते हुए भूमिगत रहे। बिहार सरकार द्वारा स्वतन्त्रता सेनानी की पेंशन के लिए अनुशंसित। कांग्रेस के अनेक पदों पर रहकर देश-सेवा में निरन्तर संलग्न। सर्वोदय आन्दोलन के रचनात्मक कार्यकर्त्ता तथा आर्यसमाज के निष्ठावान् सेवक व नेता। सम्प्रति बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा, पटना के कर्मठ उपप्रधान।

श्री भगवान्देव चैतन्य—१५ जुलाई १९४८ को हिमाचल प्रदेश के मंडी जिले के गाँव धार के एक मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार में जन्म। पिता श्री रामशरण जी पण्डिताई द्वारा निर्वाह करते थे, पर उपनिषदों, गीता, रामायण, महाभारत व पुराणों के अध्ययन के कारण घर में धार्मिक वातावरण बना हुआ था। भगवान्देव जी ने हाई-स्कूल तक शिक्षा प्राप्त कर घर की आर्थिक परिस्थिति से विवश हो सरकारी सर्विस कर ली। नौकरी के दिनों में उनका सम्पर्क श्री इन्द्रजीत 'देव' जी से हुआ, और उन्हीं के माध्यम से आर्यसमाज के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। आर्यसमाज की मान्यताओं से प्रभावित होकर उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ किया, जिससे वैदिक धर्म का जादू उन पर सवार हो गया, और वे आर्यसमाज के कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। १९६९ ई० में श्रीमती कमला सत्यप्रिया जी से उनका विवाह हुआ। श्रीमती जी भी वैदिक धर्म के प्रभाव में आ गईं, और दोनों पति-पत्नी आर्यसमाज के कार्य में जुट गये। साथ ही, उन्होंने अपनी पढ़ाई भी जारी रखी, और कुछ ही समय में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर ली। आर्यसमाज सुन्दर नगर के ये सात वर्ष तक मन्त्री रहे। १९७८-१९७९ ई० में हिमाचल प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के सम्पर्क में आये और चार वर्ष तक उसके उपमन्त्री रहे। हिमाचल प्रदेश में आर्य वीर दल को संगठित करने के सम्बन्ध में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और उसके प्रान्तीय संचालक रहे। सम्प्रति वे हिमाचल प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री हैं, और इस पार्वत्य प्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में उत्साहपूर्वक संलग्न हैं। चैतन्यजी एक सुयोग्य साहित्यकार भी हैं। वे सैकड़ों कविताएँ-कहानियाँ तथा निबन्ध लिख चुके हैं। उनकी बहुत-सी रचनाएँ पुरस्कृत भी हुई हैं। उन्होंने अनेक उपन्यास भी लिखे हैं। हिमाचल प्रदेश प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'आर्य वन्दना' का सम्पादन उन्हीं द्वारा किया जा रहा है। हिन्दी के साहित्यिकों में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वे उत्साहपूर्वक संलग्न हैं।

श्री बालकृष्ण आर्य 'विकल'—सन् १९४६ में बिन्दकी (जिला फतेहपुर, उत्तर

प्रदेश) के एक सम्भ्रान्त वैश्य परिवार में जन्म। उनका परिवार कट्टर पौराणिक था, पर विकल जी किशोर आयु में ही आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी हो गये। १४ वर्ष की आयु में वे हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में जेल गये, और जेल में ही आर्य वीर दल की शाखाएँ लगानी प्रारम्भ कर दीं। वहीं उन्होंने आर्य वीर दल द्वारा देश, धर्म तथा समाज की जीवन-भर सेवा करने का व्रत लिया, जिसे वे पूर्ण निष्ठा के साथ निभा रहे हैं। सम्प्रति वे उत्तरप्रदेश के आर्य वीर दल के सेनापति हैं, और आर्यसमाज के इस महत्त्वपूर्ण संगठन की शक्ति की वृद्धि में संलग्न हैं। बिन्दकी की स्टेशन रोड पर विकल जी द्वारा एक नये आर्यसमाज की स्थापना भी की गई है। वे सुयोग्य कवि तथा प्रभावशाली वक्ता भी हैं। बिन्दकी नगर की साहित्यिक संस्था 'हिन्दी साहित्य सुषमा' के वे महामन्त्री हैं। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वे उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। आर्य महासम्मेलन अलवर, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली, सत्यार्थप्रकाश शताब्दी उदयपुर, महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी अजमेर और काशी शास्त्रार्थ शताब्दी वाराणसी आदि आर्यसमाज के विशाल समारोहों में सम्मिलित होकर विकल जी ने आर्य वीर दल के माध्यम से संगठन व सेवा के महत्त्वपूर्ण कार्य किये और उनकी सफलता में पूर्ण योग दिया।

श्री शेखर जौहरी—सर्राफा चौक लखनऊ के एक प्रतिष्ठित जौहरी परिवार में जन्म। पिता स्वर्गीय श्री घनश्यामदास जौहरी आर्यसमाज के सक्रिय कार्यकर्त्ता थे। उनमें महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन के लिए अनुपम उत्साह था और उसकी पूर्ति के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहते थे। शेखर जी अपने पिता की योग्य सन्तान हैं, और उदारता, मृदुभाषिता और दानशीलता आदि गुण उन्होंने विरासत में प्राप्त किये हैं। वे भी कट्टर आर्यसमाजी हैं, और उनका सम्पूर्ण परिवार वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में तत्पर रहता है।

श्री आदित्यप्रकाश आर्य—६ मई १९३६ ई० को पानीपत में श्री जय भगवान् आर्य के घर जन्म। आर्य कॉलिज, पानीपत में बी० ए० तक शिक्षा। महर्षि दयानन्द सरस्वती के कट्टर अनुयायी, और आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता। ३० वर्ष से आर्य-समाज बड़ा बाजार, पानीपत के विविध पदों पर रहकर आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग ले रहे हैं। पानीपत के आर्य हाई स्कूल, आर्य गर्ल्स स्कूल और आर्य बाल भारती की प्रबन्ध समितियों के सदस्य हैं, और आर्य कॉलेज पानीपत के उपमन्त्री व आर्य युवक दल हरियाणा के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। सन् १९८० ई० में आदित्य-प्रकाश जी अपनी पत्नी के साथ आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए लन्दन गये थे, और उस अवसर पर यूरोप के अनेक देशों की यात्रा भी की थी। प्रतिवर्ष वे चारों वेदों का यज्ञ कराते हैं, और मुक्तहस्त से आर्य-संस्थाओं को दान देते हैं। ये कन्या गुरुकुलों तथा ब्राह्म महाविद्यालय हिसार आदि को हजारों रुपये दान दे चुके हैं, और इन द्वारा कितनी ही छात्रवृत्तियाँ आर्य शिक्षण-संस्थाओं में दी जा रही हैं।

श्री प्रेमपाल शास्त्री—१० अगस्त १९४९ ई० को श्री सूरजपालजी आर्य के घर हिम्मतपुर (जिला एटा, उत्तर प्रदेश) में जन्म। संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से शास्त्री और व्याकरणाचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर दिल्ली यूनिवर्सिटी से संस्कृत में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९७१ ई० से आर्यसमाज शक्तिनगर (दिल्ली)

में धर्माचार्य के पद पर कार्यरत हैं। आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं से प्रेमपाल जी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेमपाल जी आर्य पुरोहित सभा दिल्ली के संस्थापक एवं अध्यक्ष हैं, और सार्वदेशिक आर्य युवक परिषद् के उपाध्यक्ष हैं। सन् १९७१ ई० से वे दिल्ली, पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में आर्य युवकों को संगठित करने के लिए प्रयत्नशील हैं, और उन्हें आर्यसमाज के कार्यकलाप में योगदान देने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। सन् १९८३ ई० में दिल्ली के रामलीला मैदान में जो महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण-शताब्दी महोत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया था, उसकी सफलता में प्रेमपाल जी का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। इसी प्रकार १९८५ ई० में हरिद्वार के कुम्भ के मेले में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो विशाल आयोजन हुआ था, उसमें भी प्रेमपाल जी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया था। स्वामी इन्द्रवेश और स्वामी अग्निवेश द्वारा स्थापित आर्य सभा की दिल्ली शाखा के वे अध्यक्ष रहे हैं, और अनेक आर्य संस्थाओं के संचालन में उनका हाथ है। श्रीमद्दयानन्द गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय, खेड़ा खुर्द (दिल्ली) के वे कोषाध्यक्ष हैं।

स्वामी अग्निदेव भीष्म—रोहतक जिले के ग्राम टिटौली में जन्म। गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय खेड़ा खुर्द (दिल्ली) तथा दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार में शिक्षा प्राप्त कर वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में लग गये। हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बंगाल व कर्नाटक आदि में प्रचार का कार्य किया और वैदिक शिक्षक, गुदड़ी के लाल, भक्तिरस, तत्त्वज्ञान संग्रह आदि अनेक पुस्तकें लिखीं और उन्हें जनता में वितरण किया। पंजाब के हिन्दी सत्याग्रह में भाग लिया और फिरोजपुर जेल में रहे। देवी भवन हिसार में वेद-मन्दिर स्थापित किया और अग्निदेव योगाश्रम ट्रस्ट की स्थापना की, जिसे केन्द्र बनाकर वे सर्वत्र प्रचार-कार्य में संलग्न रहते हैं।

पण्डित शिवलाल—सन् १९०१ ई० में जाटी कलाँ (जिला सोनीपत, हरियाणा) गाँव में जन्म। मैट्रिकुलेशन परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर इन्हें स्टेशन मास्टर की नौकरी प्राप्त हो गई, पर महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने न केवल सरकारी नौकरी को ही लात मार दी, अपितु अविवाहित रहकर जीवन-भर देश, धर्म तथा समाज की सेवा का व्रत ग्रहण कर लिया। महरौली के पास रामताल में उन्होंने एक गुरुकुल की स्थापना की, जिसे क्रान्तिकारियों का गढ़ समझकर सरकार ने बन्द करा दिया। बाद में शिवलाल जी ने कोई ५२ शिक्षण-संस्थाएँ (पाठशालाएँ और विद्यालय) स्थापित कीं, जिनमें से अनेक अब हाई स्कूलों तथा हायर सेकण्डरी स्कूलों के रूप में फल-फूल रही हैं। कुछ वर्षों तक पण्डित जी ने गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का भी संचालन किया। देश के स्वाधीनता-संग्राम में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का था। उन द्वारा संचालित शिक्षण-संस्थाओं में क्रान्तिकारी युवक एवं स्वतन्त्रता सेनानी सरकार के विरुद्ध योजनाएँ बनाते थे, और पण्डित शिवलाल जी उनकी हर प्रकार से सहायता करते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। उनका जीवन परम धार्मिक था। सन्ध्या-हवन किये बिना वे भोजन नहीं करते थे, और फकीरों के समान रहा करते थे। ७५ वर्ष की आयु में वे दिवंगत हुए।

अखिलानन्द बालब्रह्मचारी—१ अगस्त १८८४ ई० को ग्राम पटखोली (जिला जौनपुर, उत्तर प्रदेश) में पण्डित बाबूराम पाठक के घर जन्म। बाबूराम जी के संरक्षण में ही बालक रामानन्द (ब्रह्मचारी जी का बचपन का नाम) की शिक्षा हुई। बाद में

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा
के कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक एवं कर्मठ कार्यकर्ता व पदाधिकारी

श्री पण्डित जयमंगल शर्मा

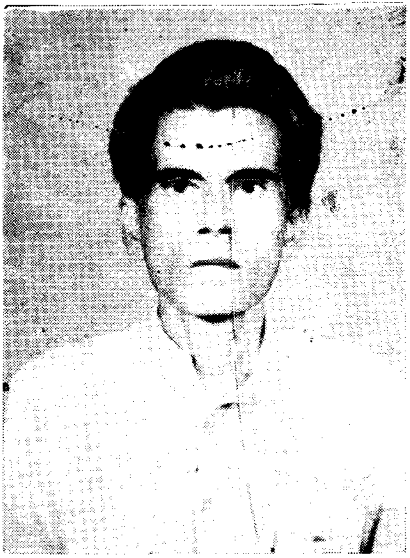

श्री सुरेशप्रसाद आर्य

श्री टेकचन्द आर्य

श्री देशपाल दीक्षित

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा

के कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक एवं कर्मठ कार्यकर्ता व पदाधिकारी

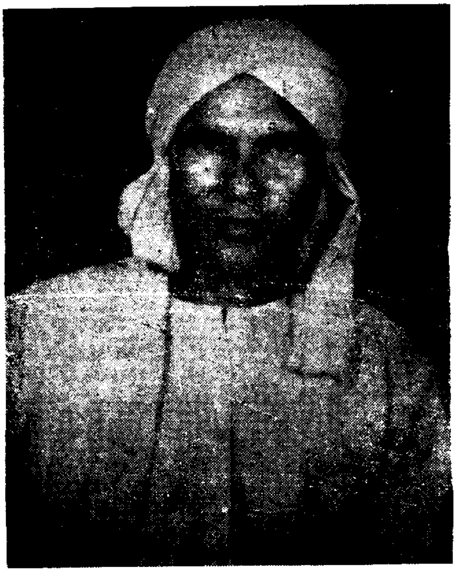

श्री पण्डित देवदत्त वैयाकरण

श्री पण्डित हरिप्रसाद शास्त्री

स्वामी वेदव्रतानन्द सरस्वती

श्री गोविन्दप्रसाद आर्य

कतिपय आर्य विद्वान, प्रचारक कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

श्रीमती नेमवती जी
कमला नगर, दिल्ली

स्वर्गीय श्री चिरंजीव लाल जी शर्मा
जबलपुर

स्वर्गीय श्री गंगाधर राव गायकवाड
जबलपुर

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री
ज्वालापुर

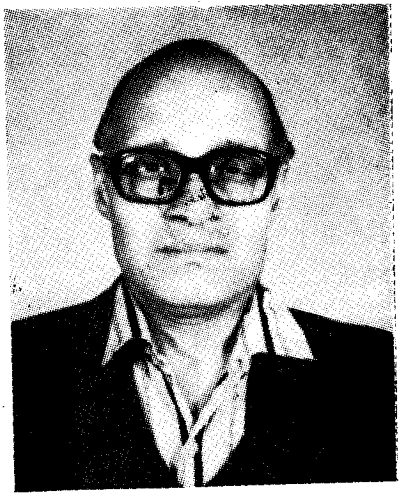

श्री विमलकान्त शर्मा

श्री नन्हेलाल मुरलीधर
नरसिंहपुर

श्री नन्दकिशोर लोहिया
गोरखपुर

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

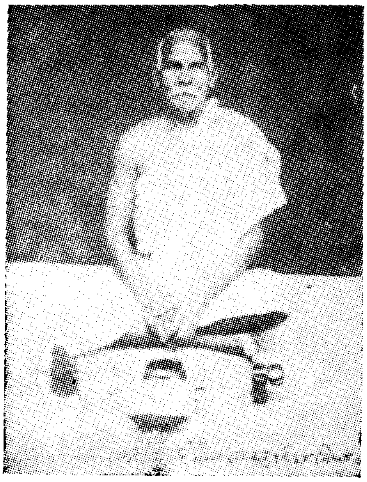

श्री तुलसीराम, आगरा

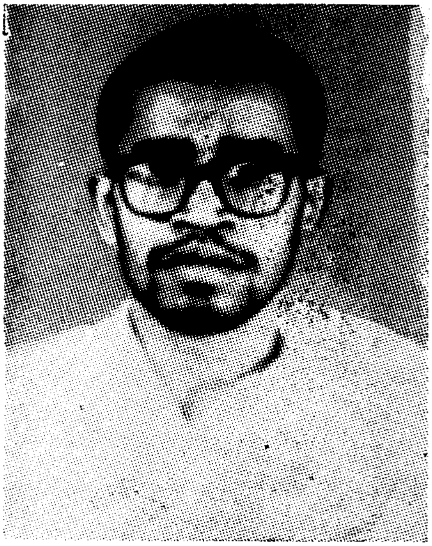

श्री धर्मवीर मनीषी वेदमार्तण्ड

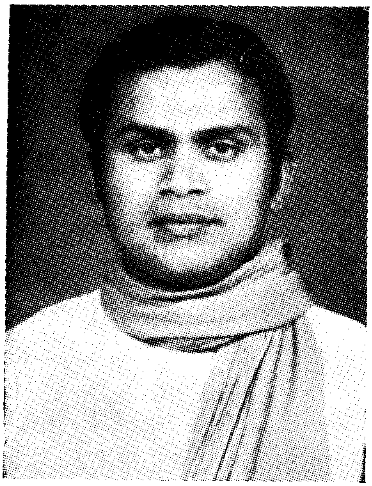

ब्रह्मचारी नन्दकिशोर विद्यावाचस्पति

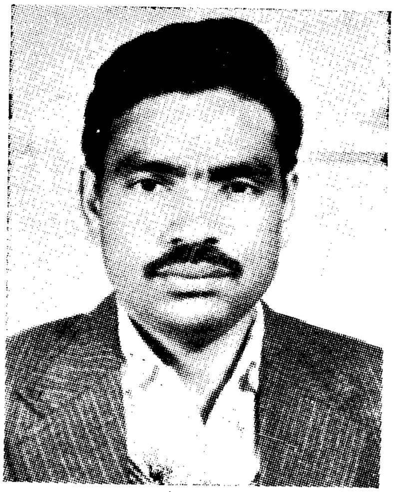

डा० वीरदेवसिंह विष्ट (नेपाल)

कतिपय आर्य विद्वान्, प्रचारक, कर्मठ कार्यकर्ता और आर्यसमाजों के पदाधिकारी

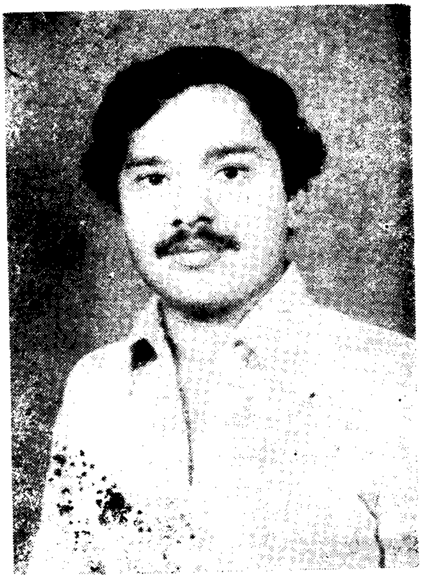

श्री शेखर जौहरी, बिन्दकी (फतेहपुर)

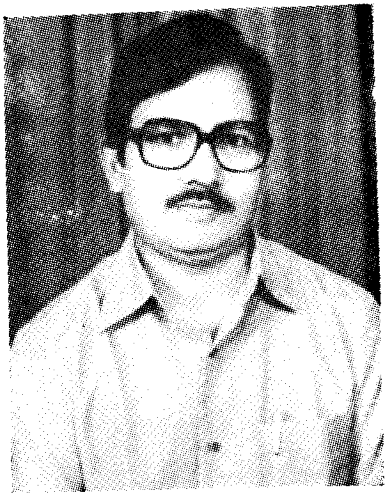

श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव

श्री रणधीर नम्बरदार
बिन्दकी (फतेहपुर)

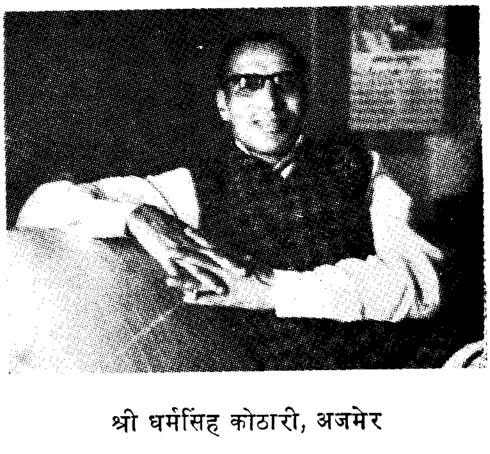

श्री धर्मसिंह कोठारी, अजमेर

मैंनपुरी (उत्तर प्रदेश) का

एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार

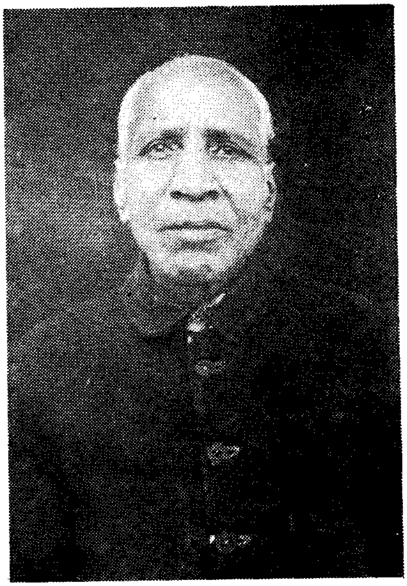

श्री श्यामसुन्दर लाल

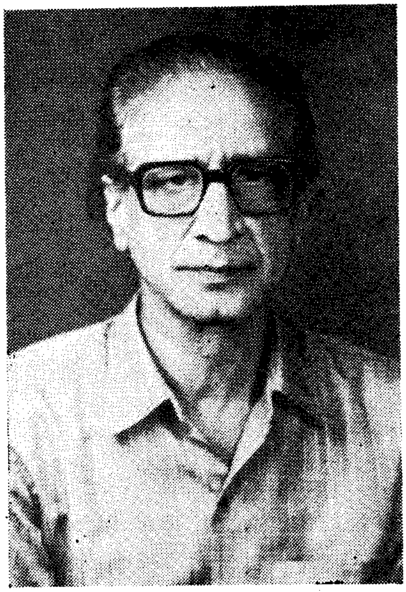

श्री रमेशचन्द्र वर्मा एडवोकेट

सुश्री कुसुम कुमारी

सुश्री सुशीला कुमारी

आर्यसमाज के लिये समर्पित कतिपय आर्य महिलाएं

श्रीमती यशोदारानी देहरादून

श्रीमती सुनीता गुप्ता

श्रीमती तारादेवी जांगिड़

माता कौशल्या देवी जी

अनेक स्थानों पर शिक्षा प्राप्त कर सन् १६८१ ई० में ब्रह्मचारी जी काशी पहुँचे और वहाँ आर्यसमाज तथा काशी सेवा समिति के माध्यम से सामाजिक कार्यों में जुट गये। इसी समय उन्होंने काशी में एक आर्य छात्रावास की स्थापना की और विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाना प्रारम्भ किया। वहाँ ब्रह्मचारी जी के शिष्यों में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्र-शेखर आजाद भी थे। १६१६ ई० में जब रॉलेट एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ, तो सरकार की कोपदृष्टि आर्य छात्रावास की ओर भी गई और उसे बन्द कर देना पड़ा। ब्रह्मचारी जी तब स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ शुद्धि-आन्दोलन में कर्मठ रूप से संलग्न हो गये। ब्रह्मचारी जी वेद-शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् थे, और उनका जीवन वैदिक धर्म के प्रचार के लिए समर्पित था। वाराणसी में रहते हुए वे वहाँ के आर्यसमाज के प्रधान भी रहे, और जीवन-पर्यन्त आर्यसमाज के स्वतन्त्र उपदेशक के रूप में कार्य करते रहे। अनेक गुरुकुलों के संचालन में भी उनका योगदान रहा, और उन द्वारा कितने ही स्थानों पर बड़े पैमाने पर यज्ञों का आयोजन कराया गया। १६ अक्टूबर, १६६६ ई० को वे दिवंगत हुए।

श्री विमलकान्त शर्मा—१ अक्टूबर, १६३६ ई० को जन्म। हिन्दी में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर दिल्ली नगरपालिका की हिन्दी मासिक पत्रिका में विज्ञापन-प्रबन्धक के रूप में कार्यरत। आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता। आर्यसमाज तिमारपुर (दिल्ली) के उपमन्त्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य एवं प्रचार-समिति के संयोजक। आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के मन्त्री, और आर्य वीर दल दिल्ली के अन्तरंग सदस्य। दिल्ली की अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध। आर्य-समाज के कार्यक्रमों तथा समारोहों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

श्री प्रकाशानन्द आर्य—सन् १६३४ में गाँव शेरड़ा (जिला गंगानगर, राजस्थान) में जन्म। पिता श्री लालमन आर्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों पर अगाध श्रद्धा रखते थे, और उनका जीवन आर्यसमाज की सेवा के लिए पूर्ण रूप से समर्पित था। डी० ए० वी० हाई स्कूल हिसार से मैट्रिक्युलेशन परीक्षा उत्तीर्ण कर श्री प्रकाशानन्द जी उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता यूनिवर्सिटी में प्रविष्ट हुए और वहीं से स्नातक हुए। अपने पिता जी के समान प्रकाशानन्द जी भी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं, और अनेक आर्य संस्थाओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे आर्यसमाज इन्दिरानगर बंगलौर के प्रधान हैं, और फाइनेन्स एण्ड अलाइड मैटर्स कमेटी आर्यसमाज ट्रस्ट विश्वेश्वरपुरम् बंगलौर के चेयरमैन हैं। आर्यसमाज सिविल एरिया ट्रस्ट बंगलौर के वे ट्रस्टी तथा ऑनरेरी सेक्रेटरी हैं, और आर्यसमाज ट्रस्ट विश्वेश्वरपुरम् बंगलौर के ट्रस्टी हैं।

श्री सत्यानन्द आर्य—१२ अक्टूबर, १६४६ ई० को ग्राम शेरड़ा में इनका जन्म हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षा के लिए इन्हें कलकत्ता भेजा गया, वहाँ से इन्होंने एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात् ये व्यापारिक क्षेत्र में आ गये। तब से अबतक इकनॉमिक ट्रान्सपोर्ट आर्गनाईजेशन में डायरेक्टर के रूप में कम्पनी का संचालन कर रहे हैं। यातायात के क्षेत्र में विशिष्ट सेवा के लिए १६८३ ई० में राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह द्वारा 'उद्योग रत्न अवार्ड' तथा १६८५ ई० में केन्द्रीय मंत्री श्री बसन्त साठे द्वारा 'शिरोमणि अवार्ड' से इन्हें सम्मानित किया गया। साथ ही, भारत के उपराष्ट्रपति द्वारा भी इन्हें यातायात के क्षेत्र में विशिष्ट सेवा अवार्ड प्रदान किया गया।

व्यापारिक क्षेत्र के अलावा धार्मिक क्षेत्र में भी इनकी काफी रुचि है। बचपन से ही आर्यसमाज के प्रति इनकी अटूट निष्ठा रही है। वर्तमान में दिल्ली आर्य केन्द्रीय सभा के उपप्रधान, अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ के मंत्री तथा स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान के ट्रस्टी हैं। हंसराज मॉडल स्कूल नई दिल्ली (डी० ए० वी० संस्थान) के मैनेजिंग कमेटी के सदस्य हैं।

श्रीमती सुनीता गुप्ता—आर्यसमाज के मूर्धन्य एवं कर्मठ नेता श्री लालमन जी आर्य के घर २१ मई, १९३८ ई० को ग्राम शेरड़ा (जिला श्रीगंगानगर, राजस्थान) में जन्म। हिन्दी रत्न तक शिक्षा। श्री जसवन्त सिंह गुप्त (चरखी दादरी, जिला भिवानी) के साथ विवाह। वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक संलग्न।

समाज में, विशेषकर महिलाओं में फैली कुरीतियों को हटाने के बारे में विशेष प्रयास। मूर्तिपूजा, मृतक भोज, शीतला पूजन, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि के विरुद्ध महिलाओं में जागृति पैदा करने और इनसे छुटकारा पाने के लिए प्रयास करने पर सुनीता जी का विशेष ध्यान है। पौराणिक परिवार में विवाह होने के बावजूद उन्होंने अपने परिवार को वैदिक विचारधाराओं से ओतप्रोत कर दिया और वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार विवाह-संस्कार और अन्य मंगल संस्कारों को चालू किया। पारिवारिक सत्संग एवं अन्य सम्मेलनों द्वारा आर्यसमाज के प्रचार व प्रसार में रत। महिला आर्यसमाज दादरी की मंत्रिणी तथा महिला सम्मेलन की अध्यक्षा।

पण्डित विद्याधर—श्री विद्याधर जी का जन्म गाँव बगोड़ी, डाकघर क्याणी, जिला चम्बा (हिमाचल प्रदेश) में हुआ। इनके पिता का नाम श्री सुरजन देव जी था। इनकी शिक्षा चम्बा हाईस्कूल के पश्चात् दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर में हुई। वहाँ से इन्होंने सिद्धान्तभूषण की परीक्षा पास की। बाद में साहित्यरत्न की परीक्षा पास की। सन् १९३९ ई० में हैदराबाद सत्याग्रह में लगभग सात मास तक कारावास में रहे। सन् १९४० ई० तथा १९४२ ई० में स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय भाग लिया। कुछ समय तक पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा में उपदेशक का कार्य भी किया। हिमाचल प्रदेश की राजनीति में भी इन्होंने गहरी रुचि ली तथा लगभग बीस वर्ष तक विधायक तथा दो वर्ष तक मन्त्री भी रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा हिमाचल प्रदेश का गठन होने पर आप इस सभा के प्रधान बने तथा निरन्तर छः वर्ष तक इस दायित्व का सफलतापूर्वक वहन करते रहे।

श्री क्षितीशकुमार वेदालंकार—१० अक्टूबर, १९१७ ई० को दिल्ली में जन्म। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३९ ई० में वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की। आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। स्नातक बनने के बाद पंजाब तथा अन्य प्रदेशों में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य(१९४०–४७)करते रहे। 'वीर अर्जुन' दैनिक तथा दैनिक 'हिन्दुस्तान' में सम्पादन-कार्य किया। सम्प्रति आर्य प्रादेशिक सभा दिल्ली के साप्ताहिक पत्र 'आर्यजगत्' के सम्पादक हैं। ख्यातिप्राप्त लेखक एवं प्रभावशाली वक्ता हैं। 'आर्य सत्याग्रह में गुरुकुल की आहुति', 'जाति भेद का अभिशाप', 'मधुर आकांक्षा' (अनूदित उपन्यास), 'जलबिंदु' (अनु०), 'स्वेतलाना' (उपन्यास),'गांधीजी के हास्य विनोद', 'सातवलेकर अभिनंदन ग्रंथ','मॉरीशस स्मारिका',

'बंगलादेश : स्वतंत्रता के बाद' आदि पुस्तकों का उन्होंने प्रणयन किया। 'तूफान के दौर से पंजाब' क्षितीशजी की सर्वथा मौलिक तथा अनुपम रचना है, जिसका अंग्रेजी तथा अन्य अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उन्होंने नेपाल, ग्रेट ब्रिटेन, तिब्बत, बंगला-देश, मॉरीशस आदि की यात्राएँ की हैं। पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित होते रहते हैं। हैदराबाद आर्य सत्याग्रह में भाग लेने पर छः मास का सश्रम कारावास हुआ था। भारतीय साहित्यकार संघ के प्रधान एवं प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन दिल्ली के प्रचारमंत्री के पदों पर कार्य किया है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के उपमंत्री तथा धर्मार्य सभा के सदस्य रहे हैं। आर्यसमाज के लोकप्रिय व सशक्त कार्यकर्त्ता एवं नेता हैं।

महात्मा आर्यभिक्षु—वाराणसी से ७ मील पूर्व में स्थित मुगलसराय में ३१ जनवरी सन् १९२३ ईसवी को जन्म हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त वाराणसी के हरिश्चन्द्र महाविद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश लिया, किन्तु स्नातक बनने के पूर्व ही सन् १९४२ ईसवी के "भारत छोड़ो" आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए कॉलिज का परित्याग कर दिया। आपने अनेक वर्षों तक मुगलसराय नगरपालिका का संचालन किया, तथा सार्वजनिक पुस्तकालय की स्थापना की। साथ ही, नगरपालिका उच्चतर विद्यालय का भी विकास किया। आपको वैदिक संस्कृति के प्रति विशेष अभि-रुचि है। १९४३ में आर्यसमाज मुगलसराय की सदस्यता ग्रहण की। १९४५ ई० में इस समाज के प्रधान निर्वाचित हुए। १९५० ई० में आर्य उप-प्रतिनिधि सभा वाराणसी की स्थापना की। १९५४ में समाज के प्रतिनिधि बनकर आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के बाँदा अधिवेशन में सम्मिलित हुए तथा सभा-कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए। 'आर्य गजट' के सम्पादक रहे। वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में स्वामी धर्मानन्दजी सरस्वती से सन् १९७३ में वानप्रस्थ की दीक्षा ली। आप आश्रम के प्रधान रहे हैं। प्रचार-कार्य करते हुए विगत पंद्रह वर्षों में जो दान प्राप्त हुआ (३० हजार रुपये), उसे सन् १९३५ में सार्वदेशिक सभा के संरक्षण में स्टेट बैंक में जमा करते हुए ब्र० अखिलानन्द स्मारक आर्यभिक्षु ट्रस्ट स्थापित किया। इसके ब्याज-रूप में प्राप्त होनेवाली धनराशि को वैदिक प्रचार-कार्य में व्यय किया जाता है। आर्यभिक्षु जी प्रभावशाली वक्ता तथा आर्यसमाज के सशक्त व कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं नेता हैं। उनका जीवन वैदिक धर्म के प्रचार के लिए समर्पित है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप के लिए वे उदारतापूर्वक दान देने में सदा तत्पर रहते हैं।

आचार्य उमाकांत उपाध्याय—उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जिले में भौआरा नामक ग्राम में कार्तिक शुक्ला १४, संवत् १९८४ वि० को जन्म। पिता पं० नागेश्वर उपाध्याय। उमाकान्तजी को अष्टाध्यायी पढ़ने के लिए सुल्तानपुर की संस्कृत पाठशाला 'कमलाकर' में प्रविष्ट करा दिया गया, जहाँ अष्टाध्यायी एवं सिद्धान्त कौमुदी के माध्यम से व्याकरण की पढ़ाई की। तदनन्तर आप अपने अग्रज आचार्य रमाकान्त जी के साथ कलकत्ता आ गये और यहाँ चार-पाँच वर्षों तक 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', तथा न्याय व वैशेषिक दर्शनों की शिक्षा प्राप्त की। कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० (अर्थशास्त्र) ऑनर्स और एम० ए० (अर्थशास्त्र) की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं, और सन् १९५९ में कलकत्ता के जयपुरिया कॉलिज में अर्थशास्त्र का अध्यापन प्रारम्भ किया। वे कॉमर्स विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक हैं। वयस्क होने पर आप आर्यसमाज कलकत्ता के सदस्य बने और सन् १९५८-५९ में दो बार आर्यसमाज कलकत्ता के उपमंत्री। इसके

बाद उमाकान्तजी ने कलकत्ता आर्यसमाज का कोई पद स्वीकार नहीं किया, पर उसकी प्रगति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे और यथार्थ में उसके संचालक एवं आचार्य की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर ली।

आर्यसमाज कलकत्ता के मासिक मुखपत्र 'आर्य संसार' के आरम्भ काल से ही आप सम्पादक हैं। आप कुशल पुरोहित और विद्वान् भी हैं। आर्यसमाज कलकत्ता के वेद-पारायण यज्ञों के ब्रह्मा आप ही बनाये जाते हैं। आप ख्यातिप्राप्त लेखक भी हैं। 'आर्य संसार' में प्रकाशित आपके संपादकीय समाज एवं संगठन को प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। 'भगवान् श्री कृष्ण', 'श्रावणी उपाकर्म', 'मूर्तिपूजा समीक्षा', 'अर्थशौच', 'आर्यसमाज का परिचय', 'वेदों में गोरक्षा या गोवध', 'हंसामत की मिथ्यावाणी', 'कम्युनिस्टों के मोर्चे पर स्वामी दयानन्द', 'श्राद्धतर्पण', 'वेद में नारी', 'काशी शास्त्रार्थ, एक समीक्षा', 'कर्मकाण्ड' आदि आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

आपने कई बार आर्यसमाज के प्रचारार्थ विदेश यात्राएँ की हैं। आपने १९७६ में स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड, रोम, इटली, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा आदि की यात्रा की। आपकी प्रेरणा से स्विट्जरलैण्ड में आर्यसमाज जेनेवा की स्थापना हुई। १९७८ में आपने नैरोबी में आयोजित आर्य महासम्मेलन में भाग लिया। १९८० ई० में आप लंदन में अंतर्राष्ट्रीय आर्यसम्मेलन में सम्मिलित होने गए, जहाँ आपने लंदन की धर्म महासभा में व्याख्यान दिया। आप सर्वात्मना आर्यसमाज की सेवा में संलग्न हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा, बंगाल के आप उपप्रधान हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने आपको 'धर्मार्य सभा' का सदस्य मनोनीत किया हुआ है। अजमेर के महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह (१९८३ ई०) में आपको साहित्य-सेवा के लिए प्रशस्तिपत्र देकर सम्मानित किया गया था।

आचार्य विश्वबंधु शास्त्री—महाशय चुन्नीलाल आर्य के घर बड़ा गाँव (जिला अलीगढ़)में २५ एप्रिल १९२१ ईसवी को जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा श्री विरजानन्द साधु आश्रम अलीगढ़ में हुई। काशी विश्वविद्यालय में वेदान्त दर्शन शांकर भाष्य का अध्ययन (१९४०) कर पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री एवं प्रभाकर (१९४४) तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से साहित्यरत्न (१९४८) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। एक वर्ष महिला विद्यापीठ भुसावर (भरतपुर) में शिक्षाध्यक्ष (१९४९) और उसके बाद तेरह वर्ष आर्य कन्या महाविद्यालय भरतपुर में आचार्य रहे। राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान (१९७७–८०) और गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के कुलाधिपति रहे। १६ वर्ष की आयु से ही आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में रुचि हो गई, परिणामतः भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जाकर प्रचार किया। स्थान-स्थान पर वृष्टि-यज्ञों का आयोजन किया, जिनके फलस्वरूप वृष्टि भी हुई। अनेक पुस्तकों की रचना की है, जिनमें से 'दीपक', 'वैदिक शिव', 'मुक्तात्मा महर्षि दयानन्द', 'आर्यसमाज के प्रथम नियम की व्याख्या', 'अथर्ववेद के प्रारम्भ के मंत्र का भाष्य', 'हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद का वैदिक स्वरूप' प्रकाशित। कुछ कृतियाँ मुद्रणाधीन। अच्छे प्रख्यात कवि, लेखक एवं व्याख्याता हैं। देश की स्वधीनता के लिए विविध आन्दोलनों में निरन्तर भाग लेते रहे।

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति—सन् १९०१ ई० में ग्राम भाऊपुर (पानीपत,

हरियाणा) में श्री विजयसिंह के घर जन्म। चौदह वर्ष गुरुकुल काँगड़ी में नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १६२६ ई० में स्नातक हुए और विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। दो वर्ष और गुरुकुल में वेदों का उच्च अध्ययन किया, और सन् १६२८ ई० में 'वेद-वाचस्पति' की उच्चतम उपाधि प्राप्त की। सन् १६७६ ई० में गुरुकुल काँगड़ी विश्व-विद्यालय द्वारा 'वेदमार्तण्ड' की मानद उपाधि द्वारा सम्मानित। सन् १६२८ ईसवी से १६३५ ई० तक दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर में वैदिक साहित्य और संस्कृत के प्राध्यापक और सन् १६४२ ई० तक वहीं प्रधानाचार्य रहे। १६४३ से १६६८ ई० तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य और फिर १६७१ ई० तक उसके वाइस-चान्सलर रहे। इस अवधि में अनेक यूनिवर्सिटियों की सीनेट के सदस्य तथा संस्कृत व वेदशास्त्रों की उच्चतम परीक्षाओं के परीक्षक रहे, और वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्य-समाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। आर्यसमाज की सर्वोच्च शिरोमणि सभा 'सार्वदेशिक सभा' तथा उसकी धर्मार्य सभा के अनेक वर्षों तक सदस्य रहे।

प्रियव्रत जी वेदशास्त्रों के पारंगत विद्वान्, प्रभावशाली वक्ता तथा सुयोग्य लेखक हैं। साथ ही, वे योग्य शिक्षक तथा कुशल प्रबन्धक भी हैं। तीस वर्ष के लगभग उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के विविध पदों पर रहकर उसके संचालन व उन्नति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, और उसके लिए लाखों रुपये दान में संग्रह किये। गुरुकुल को सरकार द्वारा जो मान्यता प्राप्त हुई, उसमें भी उनका कर्तृत्व बहुत महत्त्व का था।

प्रियव्रत जी ने वेदों की व्याख्या रूप में या उनके आधार पर बहुत-से ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें तीन भागों में प्रकाशित 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व का है। इसके अतिरिक्त वरुण की नौका (दो भाग), वेदोद्यान के चुने हुए फूल, वेद का राष्ट्रीय गीत, मेरा धर्म, वैदिक राजनीति में राज्य की भूमिका, वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, प्राचीन भारत की प्रतिरक्षा व्यवस्था, वैदिक अर्थ-व्यवस्था और समाज का कायाकल्प भी उनकी बड़े महत्त्व की रचनाएँ हैं।

श्री कृष्णलाल 'आर्य'—कृष्णलाल जी का जन्म एबटाबाद (पाकिस्तान) में सन् १६१८ ई० को हुआ। इन्होंने एम० ए०, बी० कॉम तथा कौस्ट एकाउँटैण्ट तक शिक्षा ग्रहण की। ये प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे हैं। भारत के विभाजन के पश्चात् आर्यसमाज लोदी रोड, नई दिल्ली में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सन् १६५६ से १६६० तक नया नंगल (पंजाब) में रहे और वहाँ के आर्य-समाज के भवन-निर्माण में इनकी विशेष भूमिका रही। सन् १६६२–१६६६ ई० में विशाखापट्टनम (आन्ध्र प्रदेश) में हिन्दुस्तान शिपयार्ड के वित्तीय सलाहकार रहे और वहाँ पर आर्यसमाज के एक विशाल भवन का निर्माण कराया। सन् १६६६–१६६६ ई० में नामरूप (असम) में रहे और वहाँ भी समाज मन्दिर का निर्माण करवाया। सन् १६७६-१६७७ ई० में ट्रिपोली (लीबिया, अफ्रीका) में रहे तथा वहाँ के भारतीयों में आर्य-समाज के सत्संगों की शुरूआत की। १६६८–१६८१ ई० में निजामुद्दीन (नई दिल्ली) आर्यसमाज के मन्त्री रहे। सन् १६८२ ई० में हिमाचल प्रदेश में आए और यहाँ पर भी दोनों पति-पत्नी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में लग गए। स्वामी सुबोधानन्द जी की प्रेरणा से दो वर्ष तक आर्य प्रतिनिधि सभा हिमाचल प्रदेश के महामन्त्री पद को

सुशोभित किया, तथा सन् १९८५ ई० से अब तक ये आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पद को शोभायमान कर रहे हैं। श्री आर्य जी का शुभ संकल्प है कि शेष सारा जीवन हिमाचल प्रदेश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए ही लगाना है। इस दिशा में ये कार्यशील भी हैं। जब से ये हिमाचल में आए हैं तब से नए आर्यसमाजों के निर्माण के लिए तथा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए लगभग पचास हजार से भी अधिक की राशि दान में दे चुके हैं। दानवीर होने के साथ-साथ ये वैदिक दर्शन के गम्भीर प्रवक्ता भी हैं।

श्री धर्मसिंह कोठारी—अजमेर के प्रसिद्ध कोठारी परिवार में सन् १९२० ई० में जन्म। इनके पूर्वज जैन धर्म के अनुयायी थे, पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के उपदेशों का श्रवण कर उन्होंने वैदिक धर्म को अपना लिया था। धर्मसिंह जी ने संस्कृत और आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की, और न केवल एक सफल व पीयूषपाणि चिकित्सक ही बन गये, अपितु वेद-शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में भी भाग लेना शुरू कर दिया। वे नगर आर्यसमाज अजमेर के प्रधान हैं, और परोपकारिणी सभा के कार्यालय सचिव हैं। साथ ही, वे जिला आयुर्वेद सम्मेलन के अध्यक्ष भी हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का शुद्ध सम्पादन करने के सम्बन्ध में उन्होंने सराहनीय कार्य किया है, और महर्षि के वस्त्रों तथा प्रयोग में आने वाली वस्तुओं की सुरक्षा एवं प्रदर्शनी के रूप में उन्हें जनता के समक्ष प्रदर्शित करने में उन्होंने बहुत श्रम किया है। धर्मसिंह जी आर्यसमाज के सच्चे सेवक हैं, और उनकी प्रगति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

श्री वीरदेव विष्ट—२५ दिसम्बर, १९५२ को नेपाल में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा चेम्बूर, बम्बई में। १९६४ ई० में गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में प्रवेश। बाद में १९७३ ई० तक गुरुकुल झज्झर में रहकर शिक्षा प्राप्त की, और शास्त्री तथा व्याकरणाचार्य की परीक्षाएँ सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण कीं। सन् १९७५ ई० में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से एम० ए० तथा सन् १९७८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं, और साथ में विश्वविद्यालय-पदक भी। दो साल के लगभग भारत के विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने के पश्चात् स्वदेश नेपाल चले गये, और विगत आठ वर्षों से वहाँ प्राध्यापन में संलग्न हैं। सम्प्रति महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय, काठमाण्डो में आचार्य-पद पर कार्यरत हैं। नेपाल के महाराजाधिराज द्वारा 'महेन्द्र विद्याभूषण' से सम्मानित तथा विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य रूप में मनोनीत। सन् १९८१ ई० से नेपाल में आर्यसमाज की स्थापना की, और तब से निरन्तर समाज के सचिव के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

श्री श्यामसुन्दर गुप्त आर्य—कमलानगर, दिल्ली के सम्भ्रान्त व्यापारी श्री श्यामसुन्दर गुप्त की वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा है, और धर्म द्वारा उपार्जित धन को वे महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार में लगाते हैं। इसी प्रयोजन से सन् १९७९ में उन्होंने अपनी दिवंगत धर्मवती श्रीमती नेमवती जी की स्मृति में नेमवती धर्मार्थ ट्रस्ट की स्थापना की थी। इस ट्रस्ट द्वारा आर्यसमाज के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है, उसका परिचय 'इतिहास' के इस भाग के उन्नीसवें अध्याय में दिया गया है। श्री श्यामसुन्दर जी अत्यन्त उत्साही, मिलनसार व कर्मठ सज्जन हैं, और उनका जीवन वैदिक धर्म के लिए समर्पित है।

स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती—उड़ीसा में आर्यसमाज के प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ता। गुरुकुल नरसिंह नाथ के संस्थापक एवं संचालक। इस गुरुकुल को केन्द्र बनाकर वैदिक धर्म के प्रचार में संलग्न हैं। अन्य भी अनेक शिक्षण-संस्थाओं के संचालन में सक्रिय योगदान।

स्वामी उत्तममुनि वानप्रस्थी—महाराष्ट्र में आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता व कार्यकर्त्ता। लातूर को केन्द्र बनाकर वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

मुंशी चिम्मन लाल जी वैश्य—मुंशी चिम्मन लाल वैश्य का जन्म उत्तर प्रदेश के एटा जनपद के कासगंज नामक नगर में सन् १८५४ ई० में हुआ था। १४ वर्ष की आयु में पौराणिक रूढ़ियों तथा मूर्ति-पूजा से विद्रोह कर आप कासगंज के अंग्रेज पादरी के प्रभाव में आ गये। तभी स्वामी दयानन्द के सोरों आगमन पर आप उनके सम्पर्क में आए और कट्टर आर्यसमाजी बन गए। सन् १८८३ ई० में तिलहर टाउन स्कूल के मुख्याध्यापक बनकर आये। डिप्टी इन्स्पेक्टर की पदोन्नति को छोड़, त्यागपत्र देकर आपने तिलहर में ही अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत किया, सन् १८८७ ई० में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना घोर विरोध के वातावरण में की। गुरुकुल-प्रणाली के प्रवर्तकों में आपका नाम आता है। काँगड़ी में अवैतनिक अधिष्ठाता रहे। ज्वालापुर में जाकर रहनेवाले प्रथम तीन कुटुम्बों में आपका एक था। पण्डित भीमसेन जी (बाद में स्वामी भास्करानन्द जी) पहले तिलहर में रहे, फिर काँगड़ी और तत्पश्चात् ज्वालापुर गए। मुंशी जी के एकमात्र पुत्र भद्रगुप्त और पुत्री प्रियंवदा, दोनों पण्डित भीमसेन जी की संरक्षता में रहे। सिकन्दराबाद में जब पण्डित गंगादत्त जी (बाद में स्वामी शुद्ध बोध तीर्थ) की विद्वन्मण्डली असन्तुष्ट होकर तिलहर पहुँची तो मुंशी जी ने एक संस्कृत पाठशाला खुलवाकर उन सबको वहाँ रक्खा और शनैः-शनैः महात्मा मुंशीराम जी से विचार-विमर्श कर इन्हें शान्त कर काँगड़ी भेजा, जहाँ से यह महाविद्यालय ज्वालापुर में स्थापित हुए।

आपकी प्रथम पुस्तक (जिसका नाम आपकी स्वर्गीया भगिनी के नाम पर है) 'नारायणी शिक्षा' १८८६ ई० में छपी और इसके २२ एडीशन निकले। स्त्रियोपयोगी विश्वकोश होने के कारण यह बड़ी प्रसिद्ध रही। उन्होंने कुल ७६ पुस्तकें सन् १९३१ ई० तक लिखीं जिन्होंने उस पुनर्जागरण-काल में वैदिक संसार में प्रचार का बड़ा कार्य किया। जहाँ-जहाँ भी भारतीय पहुँचे वहाँ-वहाँ ये पुस्तकें पहुँचीं। 'पुराण तत्त्व प्रकाश' आदि देश-विदेश में बहुचर्चित रहीं।

स्वामी नित्यानन्द जी को, जो बड़ौदा-नरेश के राजगुरु बने, आर्यसमाजी बनाने का श्रेय आपको ही है। स्वामी जी सन् १८८८ ई० में २२ वर्ष की आयु में अपने एक सनातनधर्मी प्रेमी के यहाँ तिलहर आये थे, वहाँ मुंशी जी इनके सम्पर्क में आए और धीरे-धीरे इन्हें आर्यसमाज की ओर प्रेरित किया। स्वामी नित्यानन्द अन्ततः छः महीने मुंशी जी के यहाँ रहे और वैदिक ग्रंथों का स्वाध्याय किया। चलते समय अष्टाध्यायी की एक प्रति लेते गए, और मुंशी जी से प्रण कर गए कि अब वे आर्यसमाज के प्लेटफार्म से ही कार्य करेंगे।

मेहता जैमिनि, भवानी दयाल संन्यासी तथा स्वामी सत्यदेव प्रभृति आर्य पर्यटक आपसे बहुत ही घनिष्ठ थे। तिलहर में आपकी प्रेरणा से लड़कों का एक इंग्लिश स्कूल

तथा एक कन्या पाठशाला खुली जो आज दोनों इण्टर कॉलेज हैं। आपके ही कारण तिलहर आर्य गतिविधियों का केन्द्र बना जहाँ तत्कालीन सब आर्य नेता पधारते थे और शास्त्रार्थों का बड़ा जोर रहता था।

२ फरवरी सन् १९३५ ई० को ८१ वर्ष की आयु में तिलहर में ही आपका स्वर्गवास हो गया।

श्री बाबूराम सिमरौली वाले—सन् १९१० में मेरठ जिले के रोहटा गाँव के एक वैश्य परिवार में जन्म। हापुड़ में निजी व्यवसाय। प्रारम्भ से ही देश-सेवा और समाज-सेवा की धुन। १९४२ ई० के 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' आंदोलन में जेल गये। स्वाधीनता-संघर्ष में निरन्तर संलग्न रहे। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर सामाजिक सेवा-कार्य हाथ में लिया। सन् १९४७ ई० और १९५५ ई० में यमुना नदी में बाढ़ आने पर दिल्ली क्षेत्र में बाढ़-पीड़ितों की सहायता व रक्षा। १९६६ ई० में गोरक्षा आन्दोलन में सत्याग्रहियों के दो बड़े जत्थों का नेतृत्व और दो बार गिरफ्तारी। आर्यसमाज के सक्रिय व कर्मठ कार्यकर्त्ता। हापुड़ की कोई ऐसी सामाजिक, धार्मिक व शैक्षणिक संस्था नहीं, जिसके श्री बाबूराम सक्रिय सदस्य न रहे हों। विधर्मियों की शुद्धि के लिए विशेष रूप से तत्पर। इसी कार्य में १८ एप्रिल, १९८० को एक विधर्मी की गोली से शहीद हुए।

श्री बाबूराम सिमरौली वाले

श्री गजानन्द आर्य—९ अगस्त, १९३० ई० को राजस्थान के शेरड़ा ग्राम में जन्म हुआ। आर्यसमाज के प्रति पूर्ण रूप से भक्ति का भाव स्व० पिता श्री लालमन आर्य से बिरासत में मिला। जब से होश सम्भाला, आर्यसमाज के उत्थान के लिए समर्पित रहे हैं—कभी उच्च पदाधिकारी के रूप में तो कभी साधारण सदस्य के रूप में। धार्मिक ग्रन्थों का पठन आपकी सबसे प्रिय रुचि है। समय-समय पर आपके लेख, कहानियाँ आदि जनज्ञान, तपोभूमि, आर्य संसार आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी एक पुस्तक 'आर्यसमाजोदय' पहले प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें आपने आर्यसमाज की गतिविधियों का गैर-आर्यसमाजियों के जीवन पर प्रभाव तथा आर्यसमाजियों की 'कथनी' और 'करनी' में बढ़ रहे अन्तर का चित्रण किया है।

अन्य पुस्तकों में वीरांगना 'महारानी कैकेयी' उनके सूक्ष्म स्वाध्याय तथा मुक्त चिन्तन का एक सशक्त उदाहरण है। इसी प्रकार उन्होंने 'आर्यसमाज की मान्यताएँ' नामक पुस्तक प्रकाशित कर आर्यसमाज का बड़ा अच्छा परिचय लोगों के सामने रखा है।

वर्तमान में श्री गजानन्द आर्य श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के महामन्त्री एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के उपप्रधान हैं। इससे पहले ये आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल असम के प्रधान रह चुके हैं। उन्होंने सामाजिक कुप्रथाओं का सदा प्रबल विरोध किया है। उन्होंने स्वयं का विवाह एक विधवा से कर उस समय उदाहरण प्रस्तुत किया था, जबकि विधवा-विवाह का नाम लेना भी दुष्कर था। इसी तरह उन्होंने मृतभोज, दहेज, आडम्बर, छुआछूत, पर्दा प्रथा, बालविवाह आदि के विरुद्ध भी काफी कार्य किया है।

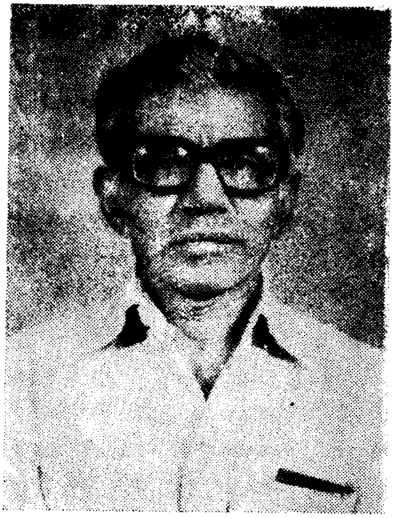

पण्डित दत्तात्रेय तिवारी विद्यालंकार—कर्नाटक के बीदर जिले में जन्म। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक। हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ पत्रकार व सुलेखक। तीस वर्ष तक दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली के सहायक सम्पादक रहे। वहाँ से अवकाश ग्रहण कर अब विश्व हिन्दू परिषद् के प्रचार-मन्त्री हैं, और हिन्दुओं के संगठन के लिए अपना जीवन समर्पित किया हुआ है। इसी प्रयोजन से थाईलैण्ड और इण्डोनीसिया की यात्रा कर चुके हैं, और यूरोप के भी अनेक देशों का पर्यटन किया है। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी तथा कन्नड भाषाओं के विद्वान्।

डा० भवानीलाल भारतीय—पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के दयानन्द पीठ के अध्यक्ष एवं वैदिक अध्ययन के प्रोफेसर। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता। परोपकारिणी सभा अजमेर के कार्यकलाप तथा व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व और उसके मुखपत्र 'परोपकारी' के प्रबन्ध सम्पादक। आर्यसमाज-विषयक अनेक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन-चरित पर एक सर्वथा नवीन व मौलिक ग्रन्थ 'नवजागरण के पुरोधा' के यशस्वी लेखक।

हमारे संरक्षक-सदस्य तथा प्रतिष्ठित-सदस्य

सात-सात सौ से भी अधिक पृष्ठों के सात भागों में प्रकाशित किया जा रहा यह इतिहास आर्यसमाज के विश्वकोश के समान है, जिसे तैयार करना न केवल श्रमसाध्य ही है, अपितु व्ययसाध्य भी है। इतिहास की आवश्यक सामग्री का संग्रह करने, उसका उपयोग कर इतिहास लिखने तथा उसे प्रकाशित करने में बहुत परिश्रम तो करना ही होता है, पर इस सबके लिए धन की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता है। व्यापारिक दृष्टि से इस प्रकार के ग्रन्थों का सम्पादन व प्रकाशन सम्भव ही नहीं है। इसीलिए अनेक नर-नारियों ने इसके संरक्षक-सदस्य (पांच हजार या अधिक रुपये प्रदान कर) और प्रतिष्ठित-सदस्य (एक हजार या अधिक रुपये प्रदान कर) बनकर इस कार्य में हमें सहायता प्रदान की है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने तथा उनके पुण्यदान की स्मृति को चिरस्थायी रखने के प्रयोजन से उनके सचित्र परिचय यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं।

आर्यसमाज के सर्वोपरि मूर्धन्य संगठनों—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली तथा परोपकारिणी सभा, अजमेर के प्रधान महोदयों का भी संरक्षण, समर्थन तथा आशीर्वाद इस 'इतिहास' के लिए प्राप्त है।

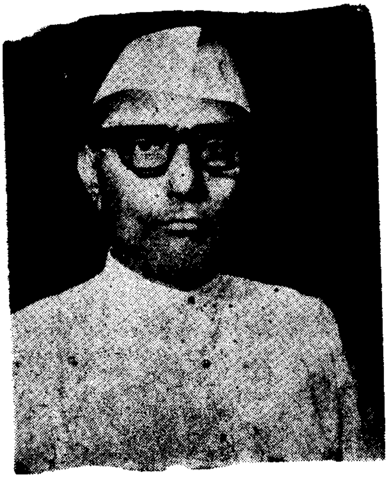

श्री लाला रामगोपाल जी वानप्रस्थ
(श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती)
प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
नई दिल्ली

श्री स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती
प्रधान, परोपकारिणी सभा
अजमेर

संरक्षक-सदस्य

पं० सत्यदेव जी भारद्वाज वेदालंकार

२६ दिसम्बर १६०८ को नैरोबी (पूर्वी अफ्रीका) में जन्म। पिता श्री वैशाखीराम जी केनिया में रेलवे की सर्विस में थे, और वहाँ आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता थे। गुरुकुल कुरुक्षेत्र और गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में विद्यालय विभाग की शिक्षा पूरी कर श्री सत्यदेव उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और १६३२ में वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की। १६३४ में वह नैरोबी चले गये, और कुछ वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा, पूर्वी अफ्रीका के तत्त्वावधान में केनिया, युगाण्डा, टाङ्गानिका आदि अफ्रीकन प्रदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार किया। सन् १६४६ में उन्होंने अपना स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया, और सनफ्लैग निटिंग वर्क्स नाम से कारखाने की स्थापना की। इस व्यवसाय ने बहुत उन्नति की, और कुछही वर्षों में 'सनफ्लैग' नाम से केनिया, तंजानिया, नाइजीरिया, कैमरून, इंग्लैण्ड और भारत में अनेक फैक्टरियों और मिलों की उन्होंने स्थापना की। इनमें जो अपार सम्पत्ति सत्यदेव जी ने अर्जित की, उसका अच्छा बड़ा भाग वह परोपकार तथा दान में लगाते हैं। इसके लिए वह कई धर्मार्थ ट्रस्ट बना चुके हैं। नैरोबी, ग्रेटर कैलाश (नयी दिल्ली), अरुषा (तंजानिया), पोर्ट लुई (मारीशस) और लण्डन की आर्यसमाजों को उन्होंने लाखों रुपये दान में दिये हैं, और डी०ए०वी० कॉलेज कमेटी, नयी दिल्ली तथा गुरुकुल कुरुक्षेत्र को भी। नैरोबी और लण्डन में हुए सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों को उन्होंने भरपूर आर्थिक सहायता दी थी और उनकी सफलता के लिए अपना तन, मन, धन लगा दिया था। पंडित सत्यदेव जी पर सरस्वती और लक्ष्मी की समान रूप से कृपा है। बहुत बड़े उद्योगपति होते हुए भी वह सर्वथा निरभिमानी हैं, और धर्मप्रचार तथा विद्या के अध्ययन में संलग्न रहते हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने जेलयात्रा भी की थी। सत्याग्रह के सैनिकों का नेतृत्व करने के कारण वह 'दलपति' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। अब वह आर्यसमाज के दलपति हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्रीमती गायत्री देवी जी भारद्वाज

१५ फरवरी सन् १९१७ को नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) में जन्म। उस समय उनके पिता श्री पं० दौलतरामजी केनिया में रेलवे की सर्विस में थे। बाद में वह भारत वापस आ गये और अमृतसर में टाइप फाउण्डरी तथा प्रिंटिंग प्रेस का निजी कारोबार शुरू किया। पण्डित दौलतरामजी का आर्यसमाज के साथ सम्पर्क था और वह महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने अपनी पुत्री गायत्री देवी को कन्या गुरुकुल, देहरादून में पढ़ने के लिए भेजा। कुछ समय कन्या गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर वह अमृतसर आ गयीं, और वहाँ आर्य कन्या पाठशाला में अपनी पढ़ाई को जारी रखा। गायत्री देवी जी अपने शिक्षा-काल में सदा प्रथम रहने वाली छात्रा रहीं। अद्भुत स्मरणशक्ति का वरदान उन्हें प्राप्त है। हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत की शिक्षा भी उन्होंने प्राप्त की, और पंजाब यूनीवर्सिटी से हिन्दी में भूषण और प्रभाकर तथा संस्कृत में विशारद की परीक्षाएं प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण कीं।

नवम्बर १९३३ में गायत्री जी का विवाह पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार के साथ अमृतसर में हुआ। विवाह के पश्चात् गायत्री देवी जी अपने पतिदेव के साथ केनिया चली गयीं, और वहाँ के अन्यतम नगर किसुमु की आर्य कन्या पाठशाला में सहायक मुख्याध्यापिका का कार्य किया। अपने पति पण्डित सत्यदेव जी के बड़े उद्योगपतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने पर भी उनमें अभिमान का सर्वथा अभाव है। उनमें वे मानवोचित गुण अक्षुण्ण रूप से विद्यमान हैं, जो प्रायः धन की अतिशयता हो जाने पर कायम नहीं रह पाते। उनका रहन- सहन बहुत सादा है, और स्वभाव अत्यन्त सरल व मृदु है। आर्यसमाज के कार्यों में वह उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं, और उनका जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए समर्पित है। श्रीमती गायत्री देवी जी एक आर्य महिला हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज

हरयाणा प्रदेश के ग्राम सासरोली (तहसील झज्झर, जिला रोहतक) में सन् १६०६ में जन्म। ग्राम के प्राइमरी स्कूल तथा नेशनल जाट स्कूल, रोहतक में हाईस्कूल तक शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने ज्योति संस्कृत पाठशाला, दिल्ली में संस्कृत का अध्ययन किया, और उसके पश्चात् दयानन्द उपदेशक विद्यालय, लाहौर में पांच वर्ष तक संस्कृत, वेद-वेदाङ्गों, धर्मशास्त्रों तथा आर्यसामाजिक साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की। आठ वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के उपदेशक रहे, और दो वर्ष उपदेशक विद्यालय लाहौर में अध्यापन का कार्य किया। पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज की आज्ञा से सन् १६४१ में वह दीनानगर चले गये, और चिरकाल तक अध्यापक, वैद्य तथा प्रबन्धक के रूप में वहां के दयानन्द मठ की सेवा की। प्रथम जून सन् १६५५ को उन्होंने सन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर ली, और दयानन्द मठ, दीनानगर के अध्यक्ष के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त हुए। सन् १६७३ में पंजाब-हरयाणा हाईकोर्ट द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के रिसीवर नियुक्त किये गये। गोरक्षा आन्दोलन में स्वामी जी दो बार जेलयात्रा कर चुके हैं। आर्यसमाज में उनकी जो उच्च एवं प्रतिष्ठित स्थिति है, उसके कारण उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली का प्रतिष्ठित सदस्य बनाया गया है, और शान्तिदेवी कन्या कॉलिज तथा स्वामी स्वतन्त्रानन्द मेमोरियल कॉलिज, दीनानगर के भी वह प्रधान हैं। स्वामी सर्वानन्दजी सच्चे अर्थों में आर्य संन्यासी हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में निष्ठापूर्वक संलग्न रहते हैं। आर्य यती मण्डल के भी वह अध्यक्ष हैं।

संरक्षक-सदस्य

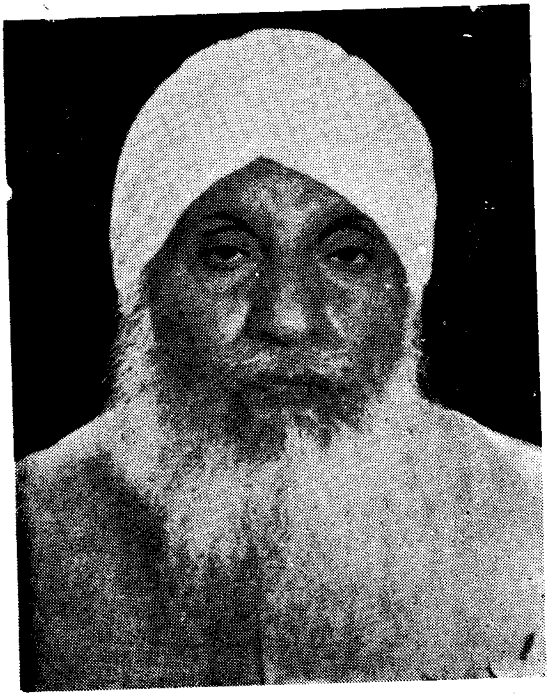

श्री सरदार इन्दरसिंहजी गिल

श्री सरदार इन्दरसिंहजी गिल का जन्म ९ मई सन् १९०१ को लुधियाना जिले के जंडियाली ग्राम में हुआ था। उनकी शिक्षा लुधियाना के आर्य स्कूल में हुई। सन् १९२२ में वह केनिया चले गये। वहां उन्होंने ४ साल रेलवे की सर्विस की। फिर उनकी बदली युगाण्डा में हो गयी। सन् १९३६ तक वह न्सिन्जी के स्टेशन मास्टर रहे। इसके पश्चात् रेलवे की सर्विस छोड़कर अपना कारोबार शुरू कर दिया। उन्होंने युगाण्डा और तंजानिया में आरा मशीन और जिनिंग मिल के उद्योग स्थापित किये, जिनमें उन्हें अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। सन् १९५९ में जिन्जा (युगाण्डा) और सन् १९६३ में टांगा (तंजानिया) में उन्होंने प्लाईवुड की फैक्टरियाँ भी कायम कीं। पूर्वी अफ्रीका में इस उद्योग की पहल उन्हीं द्वारा की गयी। साथ ही, गन्ने और चाय की खेती के लिए उन्होंने बड़े-बड़े फार्म भी कायम किये। श्री इदी अमीन की नीति के कारण, अन्य भारतीयों के समान, जब वह युगाण्डा से चले आये, तो वहाँ जो सम्पत्ति वह छोड़ आये थे, उसका मूल्य सात करोड़ रुपये के लगभग था। वह परम धार्मिक हैं, और आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों तथा अन्य समारोहों में सम्मिलित होते रहते हैं। सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि है। जिन्जा के इण्डियन एसोसिएशन के वह दो साल अध्यक्ष रहे थे, और वहाँ के हिन्दू मंदिर के प्रधान-पद को उन्होंने पांच साल सुशोभित किया था। जिन्जा में उन्होंने अपने खर्च से एक नर्सरी स्कूल भी स्थापित किया, जिसमें ३०० बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था है। नैरोबी के आर्यसमाज नर्सरी स्कूल को भी उन्होंने उदारतापूर्वक दान दिया और आर्यसमाज के अन्य कार्यकलापों के लिए भी वह सदा आर्थिक सहायता करते रहते हैं। साहनेवाल (पंजाब) में उन्होंने आंखों के एक हॉस्पिटल की स्थापना की है, और युगाण्डा के तीन विद्यार्थियों को अपने खर्च से भारत में उच्च शिक्षा भी दिलाई है।

श्री संजीव वर्मा

श्री वीरेन्द्रकुमार जी वर्मा और श्रीमती शकुन्तला जी वर्मा का यह सुपुत्र बचपन से ही बहुत कुशाग्र बुद्धि था। एक बार जो बात पढ़ लेता या सुन लेता, वह उसे कभी भूलता न था। छोटी आयु में ही बोलना सीख गया था और ज्ञान की ऐसी बातें करता था कि सुनने वाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। प्रथम से दसवीं कक्षा तक की परीक्षाओं में वह सदा ९५ प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करता रहा। उसकी शिक्षा बड़ौदा और नैरोबी (केनिया) में हुई थी, और दोनों ही जगह उसने अपने शिक्षकों से भरपूर प्यार और प्रशंसा पाई थी। खेलकूद में भी वह सबसे आगे था। वह संगीत में भी प्रवीण था। फ्रेञ्च भाषा भी उसने सीख ली थी। उसे संस्कृत के भी बहुत से श्लोक याद थे। पढ़ाई, खेलकूद, संगीत आदि में उसने कितने ही पुरस्कार प्राप्त किए थे। वस्तुतः, वह एक संस्कारी बालक था। तेजस्वी और प्रतिभाशाली बच्चे सम्भवतः प्रभु को भी प्यारे होते हैं। इसीलिए चौदह वर्ष की छोटी-सी आयु में ही प्रभु ने इस होनहार बालक को अपनी गोद में ले लिया। १८ फरवरी सन् १९६१ को संजीव का जन्म हुआ, और ६ सितम्बर १९७५ को वह अपने माता-पिता को रोता-बिलखता छोड़कर परम-पिता की शरण में चला गया। सर्वशक्तिमान् परमात्मा उसकी पवित्र आत्मा को सद्गति तथा अमर शान्ति प्रदान करें।

श्री वीरेन्द्रकुमार जी वर्मा इन्जीनियर हैं, और केनिया में सेवारत हैं। श्रीमती शकुन्तला वर्मा आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा की स्नातिका हैं। पति-पत्नी दोनों वैदिक धर्म के सच्चे अनुयायी और आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। अपने दिवंगत पुत्र की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के प्रयोजन से उन्होंने 'आर्यसमाज का इतिहास' ग्रन्थ के लिए पांच हजार रुपये का सात्विक दान प्रदान किया।

संरक्षक-सदस्य

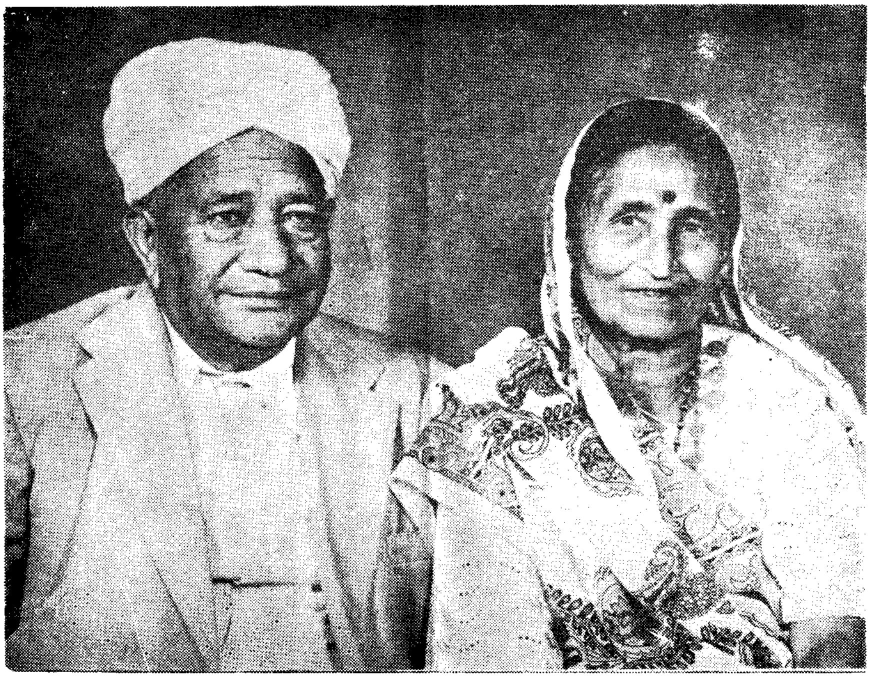

श्री मोहनलालजी मोहित और श्रीमती यशवन्ती देवी जी

मॉरीशस के मूर्धन्य आर्य नेता श्री मोहनलाल मोहित का जन्म २२ सितम्बर सन् १९०२ को लावनीर (मॉरीशस) में हुआ था। उनके पूर्वज प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के अधीन सन् १८६८ में मॉरीशस गये थे, और प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा होने पर वहीं बस गये थे। शीघ्र ही, उन्होंने स्वतन्त्र रूप से खेती प्रारम्भ कर एक सम्पन्न व प्रतिष्ठित किसान की स्थिति प्राप्त कर ली थी। मोहनलाल जी को नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, पर वह अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि और परिश्रमी थे। ज्ञान के उपार्जन के लिए उन्हें बहुत उत्साह था। अतः उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और फ्रेञ्च भाषाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया, और वह हिन्दी के सुलेखक भी बन गये। सन् १९२७ में उन्होंने पं० काशीनाथ जी का एक भाषण सुना, जिससे वह वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। मॉरीशस की आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य परोपकारिणी सभा के वह सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे, और सन् १९५० में जब इन दोनों सभाओं का एकीकरण होकर "आर्य सभा मॉरीशस" का निर्माण हुआ, तो उसके प्रमुख कर्णधार व मूर्धन्य की स्थिति में वह देश-विदेश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर हो गये। श्री मोहित जी मॉरीशस के प्रतिष्ठित उद्योगपति व सम्पन्न किसान हैं। अपने धन का उपयोग देश, धर्म और समाज की सेवा में करते हैं, और लाखों रुपये विविध संस्थाओं, विद्यालयों, गुरुकुलों और आर्यसमाजों को दान दे चुके हैं। विश्व भर में वैदिक धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से वह अब एक करोड़ के लगभग धनराशि से एक ट्रस्ट बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, जिसके लिए वह स्वयं दस लाख रुपयों की व्यवस्था करने के लिए कृतसंकल्प हैं। लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा है, पर उनका अपना जीवन अत्यन्त सरल, सात्विक, सदाचारमय एवं धार्मिक है। सन् १९२६ में देवी यशवन्तीजी से उनका विवाह हुआ था। मोहित जी का सारा परिवार उन्हीं के समान धार्मिक है।

संरक्षक-सदस्य

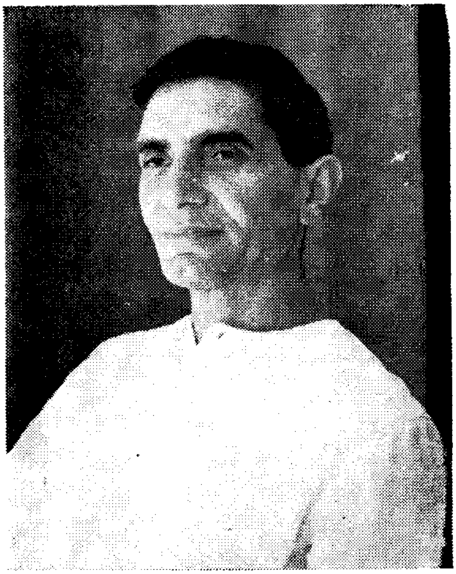

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार

श्रीमती सावित्री देवी शर्मा

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार का जन्म २ अक्तूबर सन् १९१० को अमृतसर में हुआ था। उनके पिता श्री शंकरदास शर्मा लाहौर में लोहे तथा मशीनरी के बहुत बड़े व्यापारी थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं एवं आर्यसमाज में उनकी अगाध आस्था थी। इसीलिए उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया, जहाँ से वह सन् १९३२ में स्नातक हुए। स्नातक होने के पश्चात् सत्यदेवजी भी लाहौर में अपने पारिवारिक व्यवसाय में कार्यरत हो गये। भारत के विभाजन के बाद सन् १९४७ में आप दिल्ली आ गये, और अपने व्यवसाय को पुनः स्थापित किया। वह 'एस० डी० शर्मा एण्ड कम्पनी' के स्वत्वाधिकारी हैं, और मशीनरी के व्यवसाय में उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की है। सफल व्यवसायी होने के साथ-साथ सत्यदेवजी आर्यसमाज के उत्साही व कर्मठ कार्यकर्त्ता भी हैं। आर्यसमाज के सार्वजनिक जीवन में उनका अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। वह चिरकाल तक पंजाब और दिल्ली की आर्य प्रतिनिधि सभाओं की अंतरंग सभाओं के सदस्य रहे हैं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा तथा सीनेट और गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी के व्यवसाय-पटल के वर्षों तक सदस्य रहकर उन्होंने इनके प्रबन्ध, नीति-निर्धारण तथा संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सत्यदेवजी अत्यन्त मिलनसार तथा मृदुभाषी हैं, और सबके प्रति सौहार्द्र रखते हैं। वह सच्चे अर्थों में अजातशत्रु हैं।

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार की धर्मपत्नी श्रीमती सावित्री देवी शर्मा का जन्म सन् १९१६ में जम्मू के एक प्रतिष्ठित पौराणिक परिवार में हुआ था। पर पतिगृह में आकर वह पूर्णतः आर्यसमाज की अनुयायी हो गयी थीं। उन्होंने स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और हिन्दी तथा अंग्रेजी पर उनका पूरा अधिकार था। उन्होंने अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा दिलाने पर पूरा-पूरा ध्यान दिया। एक पुत्री को उन्होंने कन्या गुरुकुल देहरादून में प्रविष्ट कराया, जहां से स्नातिका होने पर उसका विवाह नैरोबी के सम्भ्रान्त उद्योगपति पण्डित सत्यदेव भारद्वाज के सुपुत्र के साथ हुआ। सावित्री जी परम धार्मिक तथा राष्ट्रभक्त थीं। अपने सब आभूषण उन्होने राष्ट्रीय कोश में दान दे दिये थे। अपने पति के सामाजिक जीवन में उनका पूरा सहयोग रहता था। वह हंसमुख तथा अतिथि-सत्कार में प्रवीण थीं। अगस्त १९८३ में वह दिवंगत हुईं।

संरक्षक-सदस्य

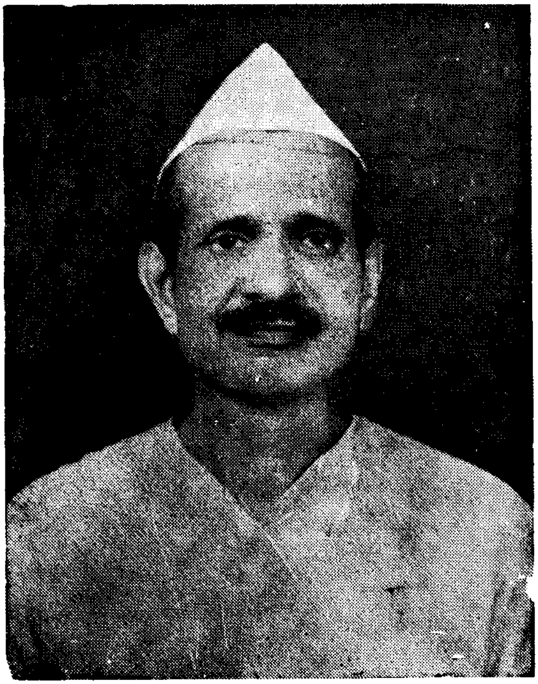

श्री पूरनचन्दजी आर्य

श्रावण सुदी तृतीया, सम्वत् १९७८ (सन् १९२१) को आगरा में जन्म। पिता श्री धनीरामजी आगरा के एक प्रतिष्ठित व्यवसायी थे। दाल मिल एवं रोलिंग मिल द्वारा श्री पूरनचन्द ने आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत उन्नति की। उनके सदाचरण तथा सद्व्यवहार के कारण आगरा के व्यापार तथा व्यवसाय के क्षेत्रों में उन्हें अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है। श्री पूरनचन्द अत्यन्त मृदुभाषी, परिश्रमी, धार्मिक तथा सादगीप्रिय आर्य सज्जन हैं। उनके परिवार के अन्य व्यक्ति भी उन्हीं के समान धार्मिक प्रकृति के हैं। वैदिक धर्म में श्री पूरनचन्द की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह निष्ठापूर्वक लगे रहते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज, आगरा (हींग की मण्डी) के वह प्रधान हैं, और 'आर्य परिवार' नामक आर्यों के पारिवारिक संगठन के कोषाध्यक्ष हैं। गुरूकुल शिक्षा-प्रणाली के महत्त्व व उपयोगिता को वह स्वीकार करते हैं, और इसीलिए अपने क्षेत्र के गुरुकुलों की व्यवस्था तथा संचालन में वह सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन की कार्यकारिणी सभा के वह सदस्य रहे हैं, और इस समय गुरुकुल गंगीरी (जिला अलीगढ़) के मंत्री हैं। आर्य उपप्रतिनिधि सभा, आगरा के भी वह उच्च पदाधिकारी हैं। आर्यसमाज से उनका वास्तविक हित है, और उनका तन, मन, धन सब वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित है।

संरक्षक-सदस्य

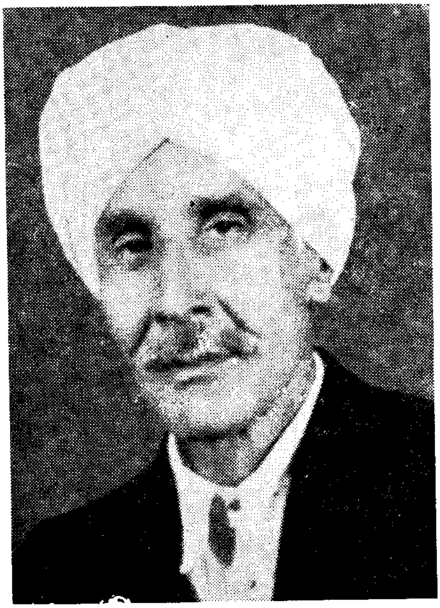

लाला राधाकृष्णजी लम्ब

लाला राधाकृष्णजी लम्ब का जन्म सन् १८८६ में पटियाला (पंजाब) में हुआ था। उनके पिता लाला माधोराम लम्ब पटियाला रियासत के खजाञ्ची थे। राधाकृष्णजी की शिक्षा पटियाला और लाहौर में हुई। आर्यसमाज और कांग्रेस के कार्यकलाप में वह सक्रिय रूप से भाग लिया करते थे। इसीलिए सन् १९१९ में उन्हें पटियाला के रेजिडेण्ट ने जेल में डाल दिया था। अपने पिताजी के प्रभाव से जब वह जेल से मुक्त हुए, तो खन्ना (पंजाब) चले गये और वहां ए० एस० हाईस्कूल में अध्यापन का कार्य करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने खन्ना में आर्यसमाज के कार्य को संभाल लिया, और उसके कोषाध्यक्ष, मंत्री तथा प्रधान के पदों पर रहकर समाज की सेवा में तत्पर रहे। खन्ना की पहली सार्वजनिक लायब्रेरी (डा० नौरातराम लायब्रेरी) उन्होंने ही आर्यसमाज की ओर से स्थापित की थी। सन् १९४६ में उन्होंने आर्य पुत्री पाठशाला की स्थापना की, जो अब हायर सेकेण्डरी स्कूल की स्थिति प्राप्त कर चुकी है। खन्ना और उसके चारों ओर के ग्रामों में उन्होंने घर-घर जाकर हवन-यज्ञ कराये, बीसियों मुसलमानों की शुद्धि की, और वैदिक रीति से उनके विवाह कराये। सन् १९७१ में उनका निधन हुआ।

श्री राधाकृष्णजी के सुपुत्र श्री प्रकाश वर्मा ने अपने दिवंगत पिता की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए ५००० रुपये की धनराशि प्रदान की, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया।

संरक्षक-सदस्य

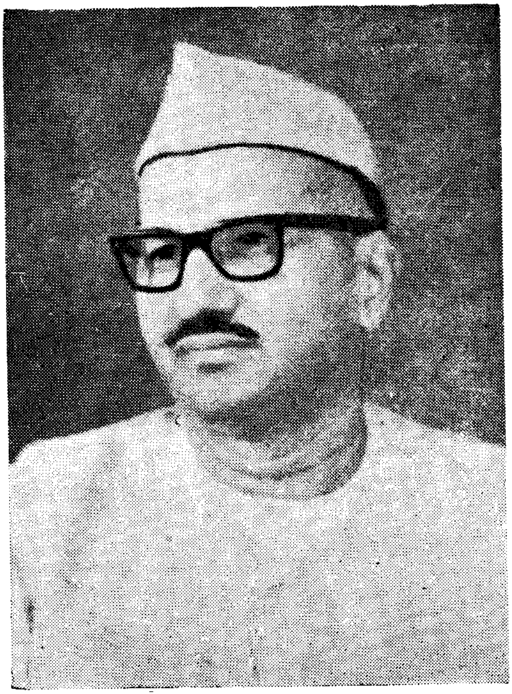

श्री लालमनजी आर्य

श्री लालमनजी आर्य का जन्म सन् १९११ में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल परिवार में हुआ था। युवावस्था में ही उन्हें आर्यसमाज के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था में निरंतर वृद्धि होती गयी। उन्होंने अपने घर से सामाजिक सुधारों का प्रारम्भ किया, और मृतक भोज, श्राद्ध, छुआछूत, परदा प्रथा, दहेज और बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के वह कट्टर विरोधी हो गये। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, उनसे प्रभावित होकर आर्यसमाज की धारा में सम्मिलित हो गया। उनका जीवन आर्य मन्तव्यों के पूर्णतया अनुरूप था। वह स्वयं प्रतिदिन सन्ध्या-हवन किया करते थे, और उनकी प्रेरणा से अनेक परिवारों में दैनिक व साप्ताहिक यज्ञ की परिपाटी शुरू हो गयी थी। वह सरल भाषा में कविताएं लिख कर उन द्वारा दूसरों को कुप्रथाओं व अन्धविश्वासों से सचेत करते रहते थे। ६१ वर्ष की आयु में उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लिया था। युवावस्था से मृत्युपर्यन्त वह आर्यसमाज तथा देश की विविध संस्थाओं को रचनात्मक व आर्थिक सहयोग देते रहे। वह दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार; गुरु विरजानन्द वैदिक साधना आश्रम, मथुरा; बाल सेवा सदन, भिवानी; वैश्य विधवा हितकारिणी सभा; आर्य-समाज बड़ा बाजार ट्रस्ट, कलकत्ता; आर्य प्रादेशिक उपप्रतिनिधि सभा, हरयाणा आदि संस्थाओं के माध्यम से धर्म तथा समाज की सेवा में संलग्न रहे। अपने जन्म-स्थान शेरड़ा में उनके निर्देशन से बने स्कूल, औषधालय, कूप, सरोवर और विश्रामालय आदि उनकी दानशीलता के परिचायक हैं। उनका परिवार अत्यन्त समृद्ध है, और उनके सुपुत्र भी उनके आदर्श के अनुसार धर्म तथा समाज की सेवा में तत्पर हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्रीमती सुशीलादेवी

२६ सितम्बर सन् १६१० के दिन हलदौर (जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश) में जन्म। पिता श्री भवानीप्रसादजी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, पर्शियन तथा अंग्रेजी के विद्वान् थे, और आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता थे। आर्यसमाज में पर्वों को कैसे मनाया जाए, इस विषय पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा उन्हीं से 'आर्य पर्वपद्धति' नामक पुस्तक लिखवाई गयी थी। सुशीलाजी ने घर पर रहकर संस्कृत और हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त की, और १८ वर्ष की आयु में काशी तथा पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। अंग्रेजी की शिक्षा उन्होंने फोर्मन क्रिश्चियन कॉलिज, लाहौर में पढ़कर ग्रहण की। सन् १६३० में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के साथ उनका विवाह हुआ, और अपने पति के साहित्यिक कार्यों में वह निरंतर सहयोग देती रहीं। सन् १६३६ में वह पेरिस गयीं, और वहां रहकर फ्रेञ्च भाषा तथा साहित्य का अध्ययन किया। आन्द्र जीद के एक प्रसिद्ध उपन्यास का उन्होंने मूल फ्रेञ्च से हिन्दी में 'संकरा द्वार' नामक अनुवाद किया, जिस पर भारत सरकार द्वारा उन्हें एक हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया। सुशीलाजी की सार्वजनिक जीवन में रुचि है। मसूरी नगरपालिका की वह सदस्य रह चुकी हैं, और सन् १६६३ में वह विश्व महिला सम्मेलन, मास्को (रूस) में भारत के शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में सम्मिलित हुई थीं। वह तीन बार यूरोप की यात्रा कर चुकी हैं। भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों, नैतिक मूल्यों तथा सदाचरण के नियमों में सुशीलाजी का पूर्ण विश्वास है, और वह उनके अनुसार अपना जीवन बिताने के लिए सदा प्रयत्नशील रहती हैं।

संरक्षक-सदस्य

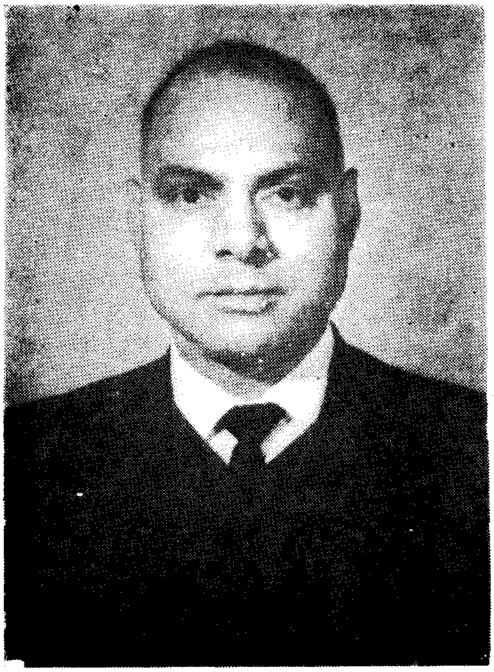

प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथजी भारद्वाज

प्रोफेसर भारद्वाज का जन्म अमृतसर में हुआ था, और वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। हिन्दू कॉलिज, अमृतसर से उन्होंने संस्कृत में बी० ए० (ऑनर्स) की परीक्षा उत्तीर्ण की, और फिर पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर से फिलोसोफी में एम०ए० किया। बाद में उन्होंने इतिहास और हिन्दी विषयों में भी एम० ए० किया। पण्डित परशुराम तथा पंडित धर्मभानुजी शास्त्री सदृश विद्वानों का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त था, जिनकी कृपा तथा सान्निध्य से वह वैदिक धर्म तथा संस्कृत साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने में समर्थ हुए। पांच वर्ष अमृतसर में प्राध्यापक का कार्य कर वह होशियारपुर के डी० ए० वी० कॉलिज में प्रोफेसर नियुक्त हुए, जिस स्थिति में उन्होंने सन् १९६६ तक कार्य किया। अमृतसर तथा होशियारपुर में प्रोफेसर का कार्य करते हुए श्री सुरेन्द्रनाथजी भारद्वाज का आर्यसमाज के कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान रहा। मार्च १९६३ में वह इंग्लैण्ड गये, और वहाँ प्राध्यापक के रूप में उन्होंने कार्य प्रारम्भ किया। लण्डन में रहते हुए उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के लिए जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्त्व का है। १९६६ से १९७८ तक बारह साल वह हिन्दू सेण्टर, लण्डन के प्रधान रहे। इसी बीच जब लण्डन में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी, तो वह उसके भी प्रधान निर्वाचित हुए, जिस स्थिति में कार्य करते हुए उन्हें बारह साल हो चुके हैं। वस्तुतः प्रोफेसर भारद्वाज ही लण्डन आर्यसमाज के प्राण हैं, और उनके प्रयत्न से ग्रेट ब्रिटेन में अन्यत्र भी आर्यसमाजों की स्थापना हो रही है। सन् १९८० में लण्डन में जो सार्वभौम आर्य महासम्मेलन हुआ था, उसमें प्रो० भारद्वाज का अनुपम कर्तृत्व था। नैरोबी, सुरीनाम, गुयाना और त्रिनिदाद आदि में भी वह वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए जाते रहे हैं। प्रो० भारद्वाज का तन, मन, धन सब आर्यसमाज के लिए समर्पित है। वैदिक धर्म तथा समाज सेवा की उन्हें सच्ची लगन है।

संरक्षक-सदस्य

श्री रामलालजी बहल

३ जनवरी सन् १८९९ को मियानी, जिला शाहपुर (पाकिस्तान) में जन्म। २१ वर्ष की आयु में वह नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) चले गये, और केनिया-युगाण्डा रेलवे में सर्विस कर ली। श्री बहल को प्रारम्भ से ही वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा थी, और वह वेदों तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते रहते थे। अपने घर पर उन्होंने एक पुस्तकालय स्थापित किया हुआ था, जिसमें वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ तथा आर्यसमाज के साहित्य का उत्तम संग्रह था। अन्य धर्मों के ग्रन्थ भी इस पुस्तकालय में थे। श्री बहल प्रतिदिन धार्मिक पुस्तकों का नियमपूर्वक स्वाध्याय किया करते थे, और उनका जीवन शान्त, सात्विक, धार्मिक और सुखी था। नैरोबी आर्यसमाज के साथ उनका निकट सम्पर्क था और वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए उनका सक्रिय सहयोग सदा प्राप्त रहता था। पर उन्होंने समाज में कोई पद प्राप्त करने की कभी इच्छा नहीं की, और पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से कार्य करते रहे। श्री बहल के तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं। तीनों पुत्र डाक्टर हैं, दो अमेरिका में और एक लण्डन में। दो पुत्रियाँ केनिया में हैं, और एक नार्वे में है। सब सुखी व सम्पन्न जीवन बिता रहे हैं।

सन् १९६२ में श्री बहल का देहावसान हो गया था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती जी बहल अपने पतिदेव के चरणचिन्हों पर चलती हुई वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में संलग्न रहती हैं, और आर्य स्त्री समाज, नैरोबी के संचालन में उनका महत्वपूर्ण कर्तृत्व है। अपने पतिदेव की पुण्यस्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए श्रीमती विद्यावती बहल ने 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए पाँच हजार रुपये प्रदान किये हैं, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया है।

संरक्षक-सदस्य

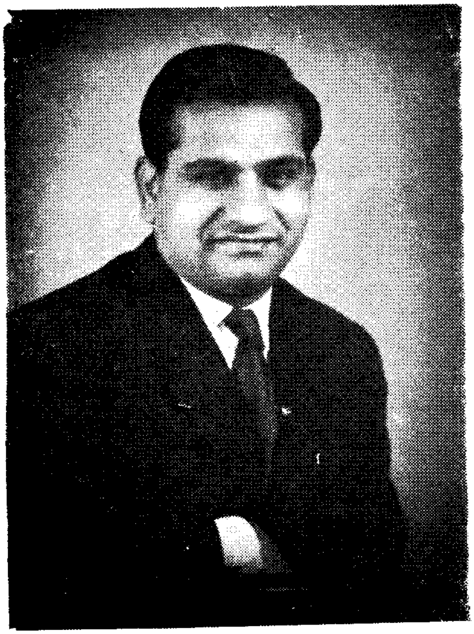

श्री जयदेवराज जी मल्होत्रा

श्री जयदेवराज जी मल्होत्रा का जन्म ११ अक्तूबर १६२६ को भेरा (पाकिस्तान) में हुआ था। उनके पिता श्री बालकराम मल्होत्रा भेरा के सम्पन्न व प्रतिष्ठित नागरिक थे, और पश्चिमी पंजाब के उस क्षेत्र में उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। गुजरांवाला और लाहौर में शिक्षा प्राप्त कर श्री राज मल्होत्रा ने नार्दर्न रेलवे में सर्विस कर ली। सन् १६५६ में श्री बालकराम मल्होत्रा का देहावसान हो जाने पर वह लण्डन चले गये, और वहाँ रहकर उन्होंने मैकेनिकल इन्जीनियरिंग का अध्ययन किया। पर वहाँ कोई सर्विस न कर उन्होंने आयात-निर्यात (इम्पोर्ट एण्ड एक्सपोर्ट) का कारोबार शुरू कर दिया, जिसमें उन्होंने शीघ्र ही बहुत उन्नति कर ली। लण्डन के खाद्य पदार्थों के भारतीय व्यापारियों में उन्हें इस समय मूर्धन्य स्थान प्राप्त है, जो उनके परिश्रम, मधुर स्वभाव तथा सद्व्यवहार का परिणाम है। व्यापार में रत रहते हुए भी मल्होत्रा जी को साहित्य, ललित कला और सांस्कृतिक कार्यों में अत्यधिक रुचि है। वह सुकवि तथा सुलेखक भी हैं, और साहित्यिकों तथा कवियों का सम्मान करने में सदा तत्पर रहते हैं। सार्वजनिक जीवन में वह सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, और 'इण्डिया इण्टरनेशनल क्लब, लण्डन' के अध्यक्ष हैं। उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी विशेषता है, जिसके कारण वह सबको अपना बना लेते हैं, और उनके सम्पर्क में आकर सब प्रसन्नता अनुभव करने लगते हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्री महेन्द्रकुमार जी भल्ला

श्री महेन्द्रकुमार जी भल्ला का जन्म ६ मार्च सन् १९३१ को जालंधर में हुआ था। उनके पिता डा० हुकुमचन्द जी भल्ला जालंधर के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। वह किल्ला आर्य-समाज के अनेक वर्षों तक प्रधान रहे थे, और डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना तथा विस्तार में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। नकोदर के डी० ए० वी कॉलिज के तो वह संस्थापक ही थे। महात्मा हंसराज जी के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। श्री महेन्द्रकुमार भल्ला की शिक्षा जालंधर के साईं दास एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल और डी० ए० वी० कॉलिज में हुई। सन् १९५२ में श्रीमती शकुन्तला भल्ला से उनका विवाह हुआ, और उसी वर्ष वह केनिया चले गये। केनिया जाकर उन्होंने वहाँ शिक्षा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और नैरोबी में केनियन कॉलिज तथा किताल में किताल हाई स्कूल की स्थापना की। साथ ही, उन्होंने ओषधियों के निर्माण का उद्योग भी शुरू किया। आर्यसमाज के कार्यकलाप में श्री भल्ला का योगदान सराहनीय है। वह चिरकाल तक नैरोबी आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य तथा मन्त्री रहे हैं, और सन् १९८३ में उसके प्रधान चुने गये। नैरोबी में आर्यसमाज की जो अनेक शिक्षण-संस्थाएं हैं, भल्ला जी का उनकी व्यवस्था व संचालन में प्रमुख हाथ है। वह अनेक स्कूलों के मंत्री व प्रबन्धकर्ता के रूप में भी कार्य करते रहे हैं। वह अत्यन्त कर्मठ और मिलनसार आर्य सज्जन हैं। लण्डन भी उनका कार्यक्षेत्र है, और वहाँ की आर्यसमाज के भी वह संरक्षक-सदस्य हैं।

संरक्षक-सदस्य

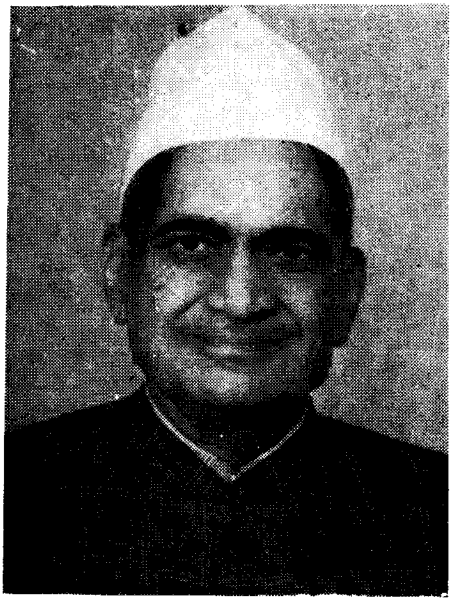

श्री सेठ भगवतीप्रसादजी खेतान

झुन्झुनू (राजस्थान) में 'सेठ रामकरणदास रामविलास राय खेतान' नाम से प्रसिद्ध एक प्रतिष्ठित अग्रवाल-परिवार है। श्री भगवतीप्रसादजी का जन्म इसी परिवार में २४ सितम्बर सन् १९११ के दिन हुआ था। ४० वर्ष की आयु तक अपने पिता, मामा तथा ससुराल वालों के विभिन्न उद्योगों एवं व्यवसायों में उच्च पदों पर रहकर कार्य करते हुए उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा व कार्यकुशलता का परिचय दिया, और फिर सन् १९५१ से अपने स्वयं के विस्तृत व्यवसाय का संचालन प्रारंभ किया। आयात और निर्यात का उनका बहुत बड़ा व्यापार है, और अनेक उद्योगों (आर्ट सिल्क, स्टील, कपड़े की रंगाई व प्रिंटिंग, माईनिंग आदि) के उनके विशाल कारखाने स्थापित हैं। लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा है। धनिकों की तो भारत में कमी नहीं है, पर श्री भगवतीप्रसाद खेतान समाजसेवा तथा लोकोपकार के कार्यों में जिस उदारता से अपने धन का व्यय करते हैं, वह वस्तुतः अनुपम है। उन्होंने कितने ही चेरिटेबल (धर्मार्थ) ट्रस्ट स्थापित किये हैं, जिसके द्वारा अनेक शिक्षण-संस्थाओं, पुस्तकालयों और औषधालयों का संचालन और जीर्ण मंदिरों का पुनरुद्धार किया जा रहा है। सार्वजनिक जीवन में श्री भगवतीप्रसादजी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। इसी कारण वह चौदह से भी अधिक ट्रस्टों के ट्रस्टी हैं, और कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं के अध्यक्ष व आजीवन सदस्य हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक कार्यकलाप में श्री खेतानजी निष्ठा तथा उत्साह के साथ भाग लेते हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रति भी उनकी आस्था है। उनका जीवन बहुत सरल तथा सात्विक है। सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के प्राप्त होते हुए भी वह उनसे असंपृक्त रहने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वह स्वयं विद्याव्यसनी हैं, और विद्वानों का यथोचित सम्मान करते हैं। वह अत्यन्त सरल प्रकृति, मृदु स्वभाव तथा सात्विक वृत्ति के पुरुष हैं।

संरक्षक-सदस्य

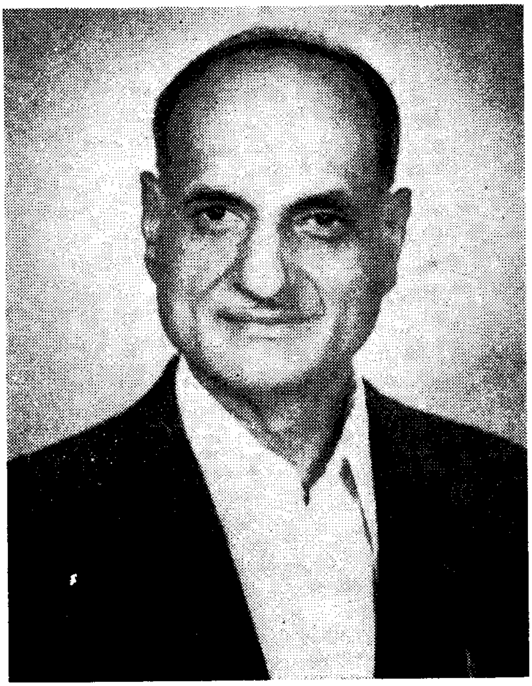

श्री तिलकराजजी अग्रवाल

श्री तिलकराजजी अग्रवाल का जन्म २२ नवम्बर सन् १६२२ को डसका (जिला सियालकोट, पाकिस्तान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके दादा श्री कर्म-चन्द अग्रवाल जिले के एक प्रसिद्ध वकील थे, और विधर्मियों को शुद्ध कर आर्य बनाने में सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। उनके पिता श्री हेमराज अग्रवाल द्वारा प्रतिवर्ष आर्यसमाज में एक प्रीतिभोज का आयोजन किया जाता था, जिसमें भोजन हरिजनों द्वारा ही परोसा जाता था। तिलकराजजी ने धर्म, समाज तथा देश की सेवा की भावना विरासत में प्राप्त की, और वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में पूर्ण उत्साह से योगदान करते रहे। कांग्रेस द्वारा संचालित विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा हैदराबाद-सत्याग्रह में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, और पंजाब व्यापार मण्डल के आन्दोलन में हाथ बंटाने के लिए उन्हें शीघ्र ही जेल यात्रा भी करनी पड़ी। सियालकोट में उन्होंने आर्य कुमार सभा और आर्य वीर दल की स्थापना की, और उनकी कार्यकारिणी सभाओं के सदस्य रहे।

भारत विभाजन के पश्चात् वह दिल्ली आ गये, और 'अग्रवाल मेटल कम्पनी' के नाम से अलौह धातुओं का व्यापार प्रारंभ किया। इनमें उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई, और 'नान-फैरस मेटल' के प्रमुख व्यापारी माने जाने लगे। दिल्ली और बम्बई रहते हुए तिलकराजजी का ध्यान अग्रवाल जाति में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों की ओर गया, और उसमें सुधार तथा जागृति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने 'अग्रवाल जागृति' का प्रकाशन प्रारंभ किया। अपनी जन्म-जाति को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उन्होंने अनेक अग्रवाल-संगठनों का संचालन अपने हाथों में लिया, और अनेक धर्मार्थ ट्रस्टों की स्थापना की। महर्षि के मन्तव्यों में तिलकराजजी की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साह के साथ भाग लेते हैं। धर्म और समाज के कार्यों में उदारतापूर्वक दान देकर वह अपने धन का सदुपयोग करने में गौरव अनुभव करते हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्री पी० डी० अग्रवाल

चूरू जिले (राजस्थान) के एक छोटे-से गांव नांगल में श्री पी० डी० अग्रवाल का जन्म हुआ था। वह अपने पिता-माता (श्री भोरूराम और श्रीमती सिंगारीदेवी) के सबसे छोटे पुत्र थे। उनकी शिक्षा गाँव में हुई, और उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। पर उनमें विलक्षण कार्यशक्ति और उच्च महत्त्वाकांक्षा विद्यमान थी। जीवन में कुछ कर दिखाने की धुन में वह छोटी आयु में ही काम में लग गये। १७ वर्ष की आयु में वह गाँव छोड़कर वानरहाट चले गये, और वहां एक दुकान पर नौकरी कर ली। पर वह इतने परिश्रमी थे और व्यापार में उनकी इतनी क्षमता थी, कि शीघ्र ही उन्होंने उस दुकान को खरीद लिया जिस पर उन्होंने आठ रुपये मासिक की नौकरी की थी। तीन वर्ष बाद वह कलकत्ता चले गये, और वहां 'जसवन्तराय एण्ड ब्रादर्स' के नाम से कपड़े का व्यवसाय शुरू किया। सन् १९५८ में उन्होंने ट्रांसपोर्ट का कारोबार शुरू किया, और 'ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया' नाम से अपना पहला आफिस कलकत्ता में खोला। आज यह भारतवर्ष में सबसे बड़ी ट्रांसपोर्ट कम्पनी है, और इसकी सैकड़ों शाखाएं सर्वत्र विद्यमान हैं। वह ऑल इण्डिया मोटर ट्रांसपोर्ट कांग्रेस तथा कलकत्ता गुड्स ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन के वर्षों तक प्रधान रहे, और साथ ही भारत सरकार की ट्रांसपोर्ट डेवेलेपमेण्ट कौंसिल के सदस्य भी। सन् १९६९ में उन्होंने बैंगलोर में मिनी स्टील प्लांट भी स्थापित किया था। वह दिन में अठारह-अठारह घण्टे काम करते थे। अपने कर्मचारियों के साथ उनके सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। उन्होंने अपार धन कमाया, और उसका सदुपयोग किया। दान देने में वह कभी पीछे नहीं हटते थे। अपनी आमदनी का बड़ा भाग वह धर्म तथा समाज के कार्यों में व्यय करते थे। उनका विवाह श्रीमती धनवती देवी जी से हुआ था, जो जीवनपर्यन्त अपने पतिदेव के लिए शक्ति-स्तम्भ बनी रहीं। १७ सितम्बर १९८२ को श्री पी० डी० अग्रवाल का असमय में ही अमेरिका में देहान्त हो गया।

संरक्षक-सदस्य

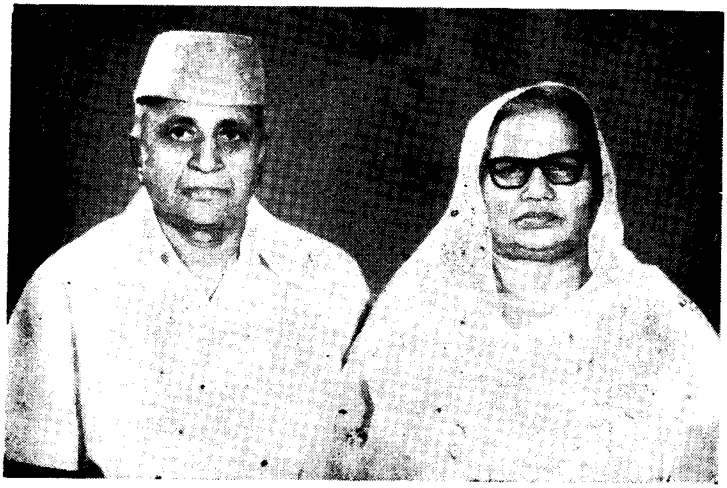

श्री लाला कुन्दनलालजी अग्रवाल   श्रीमती कौशल्यादेवीजी अग्रवाल

श्री कुन्दनलालजी अग्रवाल का जन्म सन् १९१४ में सियालकोट (पंजाब-पाकिस्तान) के जुधाला गाँव में हुआ था। उनके पिता श्री निक्कामलजी अग्रवाल धार्मिक वृत्ति के सद्-गृहस्थ थे। १९४७ में पाकिस्तान बनने के बाद श्री कुन्दनलाल अमृतसर आ गये, और वहां उन्होंने कपड़े का थोक व्यापार प्रारंभ किया, जिसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। शीघ्र ही उन्होंने अहमदाबाद, बम्बई तथा श्रीनगर में अपनी ब्राञ्चें खोल लीं। धन का उपयोग उन्होंने आर्यसमाज और देश की सेवा में किया, और लाखों रुपये दान में दिये।

श्री कुन्दनलालजी की धर्मपत्नी श्रीमती कौशल्यादेवीजी का जन्म सन् १९१६ में अमृतसर में हुआ था। बचपन में उन्हें जलियांवाला बाग के ठीक सामने देश और धर्म पर मर मिटने वाले क्रान्तिकारियों को अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला, और उनमें देश और धर्म की सेवा करने की भावना उत्पन्न हुई। आर्यसमाज के प्रति उनमें अगाध श्रद्धा है, और उसके कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं। नित्यप्रति वह नियमपूर्वक सन्ध्या-हवन करती हैं। जहाँ कहीं भी आर्यसमाज का कोई समारोह हो, उसमें वह सम्मिलित होती हैं, और यथाशक्ति दिल खोलकर दान देती हैं।

संरक्षक-सदस्य

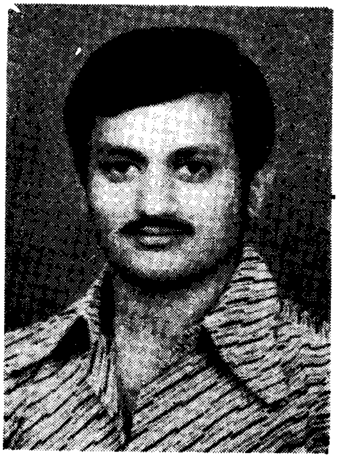

स्वर्गीय श्री ललितकुमारजी

अमृतसरनिवासी श्री कुन्दनलालजी अग्रवाल का कनिष्ठ पुत्र ललितकुमार किशोर आयु में ही अपने माता-पिता को बिलखता छोड़कर इस संसार से विदा हो गया था। ईश्वर की यही इच्छा थी। ललितकुमार धार्मिक वृत्ति का युवक था, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप में उत्साह के साथ भाग लिया करता था। अपने प्रिय होनहार पुत्र की स्मृति में श्री कुन्दनलालजी ने अमृतसर में श्री ललितकुमार मेमोरियल हास्पिटल की स्थापना की है, जिसे अब उन्होंने चार-पांच लाख नकद रुपयों के साथ स्थानीय आयुर्वेद कालिज को दान में दे दिया है।

श्री ललितकुमार मेमोरियल हास्पिटल

(श्री ललितकुमार चेरीटेबल ट्रस्ट के तत्त्वाधान में स्थापित तथा उसी द्वारा संचालित।)

संरक्षक-सदस्य

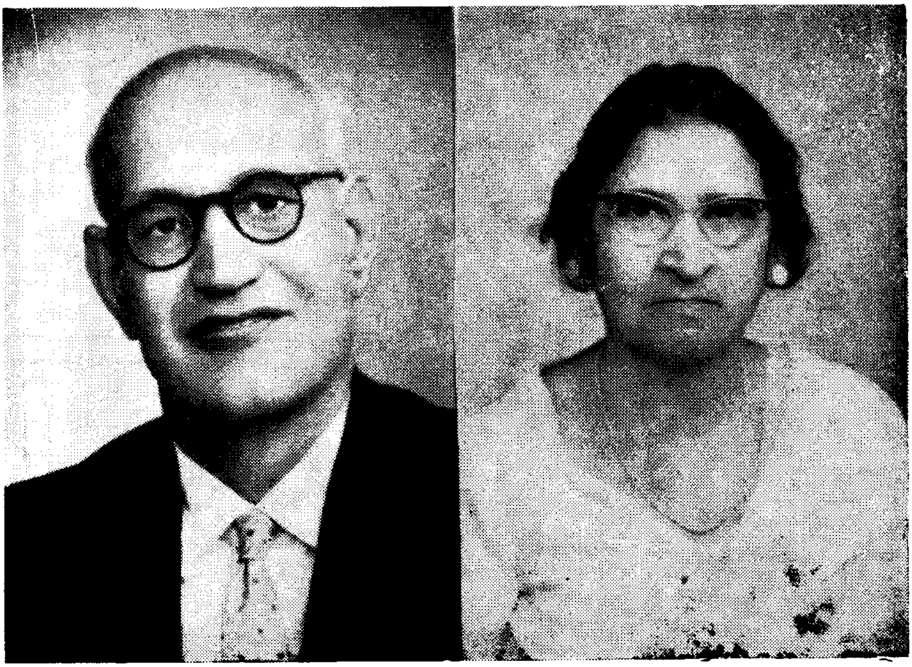

श्री बंसीलालजी सोफत और श्रीमती वेदवतीजी सोफत

स्वर्गीय श्री बंसीलालजी सोफ़त अपने परिवार सहित नितान्त निःस्वार्थ रूप से आर्यसमाज नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) की सेवा करते रहे। वर्षों तक नैरोबी आर्य-समाज के कोषाध्यक्ष रहकर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो कार्य उन्होंने किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। श्री सोफत नैरोबी के एक बैंक में पदाधिकारी थे, और अपने सत्याचरण तथा सद्व्यवहार के कारण बैंक के विशिष्टतम व्यक्तियों में गिने जाते थे। सन् १९६५ में उनका निधन हो गया।

श्री बंसीलालजी सोफत की धर्मपत्नी श्रीमती वेदवतीजी का जन्म मार्च सन् १९११ में लुधियाना के एक प्रसिद्ध व प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री लब्भूरामजी व माता श्रीमती हुक्मदेवी जी की महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति अगाध आस्था थी। वेदवतीजी की शिक्षा लुधियाना की आर्य पुत्री पाठशाला में हुई, और बचपन से ही उन्होंने माता-पिता के धार्मिक संस्कार प्राप्त किये और साथ ही वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति अटूट श्रद्धा व प्रेम भी। अक्तूबर १९२७ में उनका श्री बंसीलालजी सोफत से विवाह हुआ, और वह अपने पति के साथ नैरोबी (केनिया) चली गयीं। वहाँ पहुंचने पर पूर्ण उत्साह तथा लगन से आर्यसमाज के कार्य में जुट गयीं। वर्षों तक मंत्री, प्रधान आदि पदों पर रहकर उन्होंने तन, मन, धन से आर्यसमाज की सेवा की। वह सरल स्वभाव की आदर्श आर्य महिला हैं, और धर्म के कार्य में सदा अग्रसर रहती हैं। श्रीमती वेदवतीजी सोफत अपने पतिदेव के चरणचिन्हों पर चलती हुई आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग ले रही हैं, और आर्य स्त्री समाज, नैरोबी के कार्यकलाप के सफलता-पूर्वक संचालन में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

संरक्षक-सदस्य

डा० सुखदेवजी भारद्वाज　　　　श्रीमती सत्यवतीजी भारद्वाज

डा० सुखदेवजी का जन्म ३० मई, सन् १६०७ को नैरौबी (केनिया) में हुआ था। वह स्वर्गीय पंडित वैशाखीरामजी के तृतीय पुत्र हैं। उनकी शिक्षा लुधियाना के आर्य हाई स्कूल में हुई, और बाद में उन्होंने इन्दौर मैडिकल स्कूल से चिकित्साविज्ञान में डिग्री प्राप्त की। सन् १६२६ में श्रीमती सत्यवती (सुपुत्री डा० जीवाराम) के साथ उनका विवाह हुआ, और वह केनिया वापस चले गये। केनिया की मैडिकल सर्विस में वह ४० वर्ष के लगभग रहे, और सन् १६६६ में सरकारी सेवा से निवृत्त हुए। सन् १६७२ में उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। मरने से पूर्व उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी, कि डा० भारद्वाज अपना शेष जीवन धर्म और समाज की सेवा में लगाएं और इसके लिए कोई पारिश्रमिक न लें। सरकारी सर्विस में रहते हुए भी डा० भारद्वाज आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहते थे, पर बाद में तो उन्होंने अपना तन, मन, धन – सब समाज की सेवा में अर्पित कर दिया। अपना सब समय वह केनिया में आर्यसमाज के संगठन एवं प्रचार में लगाने लगे। सन् १६७२ में वह नैरोबी आर्यसमाज के प्रधान चुने गये। यह आर्यसमाज जो आज अत्यन्त व्यवस्थित व समृद्ध रूप में है, उसका बहुत कुछ श्रेय डा० भारद्वाज की लगन और निष्काम भाव से सेवा को ही प्राप्त है। उन्हीं द्वारा नैरोबी में धर्मार्थ औषधालय की स्थापना की गयी, जिसमें रंग, वर्ण, जाति, मत आदि का कोई भी भेद किये बिना मनुष्यमात्र की चिकित्सा की जाती है।

अपने पतिदेव के समान श्रीमती सत्यवतीजी भारद्वाज भी धर्मपरायण महिला थीं, और समाज तथा धर्म की सेवा में डा० भारद्वाज का हाथ बटाया करती थीं। भारत की संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं पर उनकी अगाध आस्था थी। अपनी सन्तान की उच्च शिक्षा पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। इसी का यह परिणाम है, कि उनके दोनों पुत्र तथा तीनों पुत्रियां समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर विविध देशों में बसे हुए हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्रीमती कीर्तिदेवी भारद्वाज

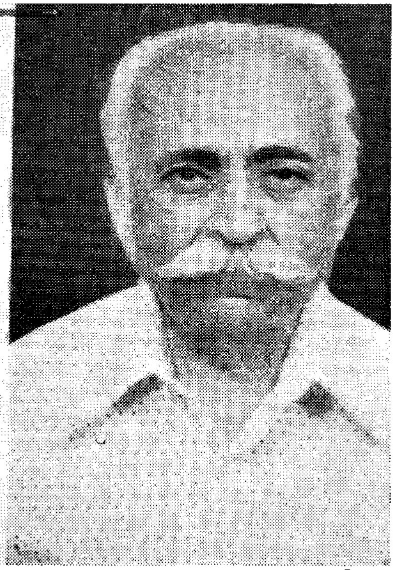

श्री पण्डित ब्रह्मदेवजी भारद्वाज

श्री ब्रह्मदेवजी भारद्वाज का जन्म २४ फरवरी सन् १९०५ को नैरोबी (केनिया) में हुआ था। उनके पिता पण्डित वैशाखीरामजी सन् १८९८ में भारत से केनिया गये थे, और सन् १९२८ तक वह वहां सरकार तथा रेलवे विभाग की सेवा में कार्यरत रहे। १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में केनिया में आर्यसमाज को सरकार द्वारा विद्रोही संस्था घोषित कर दिया गया था। उस समय नैरोबी का आर्यसमाज मन्दिर निर्माणाधीन था। श्री वैशाखीरामजी ने इस बात की परवाह नहीं की, कि आर्यसमाज को राजद्रोही घोषित कर दिया गया है। वह आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराते रहे, और युद्ध के दिनों में उसे पूरा भी करा दिया। निःसन्देह यह उनकी निर्भीकता, साहस तथा धर्मप्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्री वैशाखीरामजी की सभी सन्तानों ने अपने पिता के जीवन व विचारों से प्रभावित होकर अपनी सेवाएं आर्यसमाज को प्रदान की हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री ब्रह्मदेव भारद्वाज किशोर आयु से ही आर्य वीर दल तथा हिन्दू संगठन के कर्मठ कार्यकर्ता रहे हैं। लुधियाना तथा नैरोबी में आर्यसमाज को शक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करने में उनका कर्तृत्व अनुकरणीय है। शुद्धि तथा हिन्दू कन्याओं के संरक्षण के लिए भी उन्होंने सराहनीय कार्य किया हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कीर्तिदेवीजी धर्म तथा समाज की सेवा के अपने पति के कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं। श्री ब्रह्मदेवजी तथा श्रीमती कीर्तिदेवीजी के सुपुत्र पण्डित सत्यभूषण तथा पण्डित ब्रजभूषण अपने परिवार की परम्परा का अनुसरण करते हुए आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। वस्तुतः, श्री ब्रह्मदेवजी के सम्पूर्ण परिवार ने ही अपने को आर्यसमाज के लिए अर्पित किया हुआ है। श्री सत्यभूषणजी चिरकाल से नैरोबी आर्यसमाज के उच्च पदाधिकारी के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में तत्पर हैं, और अनेक वर्षों तक उसके प्रधान रहे हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्री पण्डित लब्भूरामजी शर्मा

श्री शर्मा का जन्म पंजाब के एक धनी व सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। सन् १९२२ में वह केनिया गये, और कुछ समय अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करने के बाद उन्होंने रेलवे की सर्विस स्वीकार कर ली। सन् १९५४ में वह केनिया रेलवे के कर्मशियल आफिसर के पद से सेवानिवृत हुए, और भारत वापस लौट कर चंडीगढ़ में बस गये। जब तक वह केनिया में रहे, आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नकुरू और किसुमु में आर्यसमाजों की स्थापना में उनका कर्तृत्व विशेष महत्व का था। चंडीगढ़ में भी श्री शर्माजी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। चंडीगढ़ की डी०ए०वी० शिक्षण-संस्थाओं तथा सेक्टर ७ और सेक्टर २२ की आर्यसमाजों की स्थापना में उनका योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। सन् १९७२ में उनका निधन हुआ।

श्रीमती सुशीलादेवीजी शर्मा

पण्डित लब्भूराम शर्मा की पत्नी श्रीमती सुशीलादेवी सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी थीं। उनके पिता श्री पण्डित धनीराम शास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने अपनी पुत्री को भी उच्च शिक्षा दी थी। सुशीलाजी सन् १९२४ में केनिया गयीं, और वहाँ जाकर उन्होंने किसुमु में आर्य गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। यह किसुमु का प्रथम आर्य शिक्षणालय था, और सुशीलाजी स्वयं इसमें अवैतनिक रूप से अध्यापन का कार्य किया करती थीं। किसुमु, नकुरू और नैरोबी में आर्य स्त्री-समाजों की स्थापना तथा संचालन में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का था, और चंडीगढ़ आकर भी वह आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार तथा स्त्रीशिक्षा के कार्यों में निरन्तर उत्साहपूर्वक भाग लेती रहीं। सन् १९८० में नैरोबी (केनिया) में उनका देहावसान हुआ।

श्री पण्डित लब्भूरामजी शर्मा के दो सुपुत्र हैं—पण्डित ब्रह्मदत्त शर्मा और पण्डित देवदत्त शर्मा। ये दोनों ही महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते हैं, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। पण्डित देवदत्त शर्मा सन् १९८१ और सन् १९८२ में नैरोबी आर्यसमाज के मन्त्री रहे हैं। उनका पुत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में मैडिकल आफिसर है, और वह उसके माध्यम से उस देश के विविध नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना कर वहां आर्य प्रतिनिधि सभा के संगठन का प्रयत्न करने में लगे हुए हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्री जयदेवजी शर्मा भारद्वाज **श्रीमती सोमवतीजी भारद्वाज**

श्री जयदेवजी शर्मा भारद्वाज का जन्म १६ मार्च सन् १९०६ को नैरोबी में हुआ था। उनके पिता श्री वैशाखीरामजी सन् १८९४ में केनिया गये थे। वह वहाँ की रेलवे में पदाधिकारी थे, और रेलवे की सर्विस में रहते हुए उत्साहपूर्वक आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर रहा करते थे। नैरोबी में आर्यसमाज की स्थापना में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। वह अनेक वर्षों तक वहां की आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष, मन्त्री और प्रधान रहे। सन् १९२१ में रेलवे की सेवा से निवृत्त होकर वह लुधियाना आ गये, और वहां आर्यसमाज के कार्यकलाप में हाथ बटाने लगे। वैदिक धर्म तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी अगाध आस्था थी, और उनका जीवन सदाचारमय तथा वैदिक धर्म की शिक्षाओं के अनुरूप था।

श्री जयदेव शर्मा अपने योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। सन् १९२४ में वह भी केनिया गये, और सन् १९५२ तक केनिया-युगाण्डा रेलवे की सर्विस में रहे। उसके बाद उन्होंने जे० डी० शर्मा एण्ड सन्स नाम से अपना निजी कारोबार शुरू किया और हौजरी की फैक्टरी स्थापित की। अपने पिता के समान जयदेवजी भी धार्मिक वृत्ति के निष्ठावान् सज्जन हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में उत्साह तथा लगन के साथ संलग्न रहते हैं। पूर्वी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के वह वर्षों तक पदाधिकारी रहे हैं। व्यायाम तथा स्पोर्टस में उनकी अत्यधिक रुचि हैं। आर्य युवकों की शारीरिक उन्नति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

जयदेवजी की पत्नी श्रीमती सोमवती जी भारद्वाज का नैरोबी की स्त्री-आर्यसमाज की उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी सन्तान उच्च शिक्षित हैं। यह सारा परिवार समृद्ध, प्रतिष्ठित और सुसंस्कृत है।

संरक्षक-सदस्य

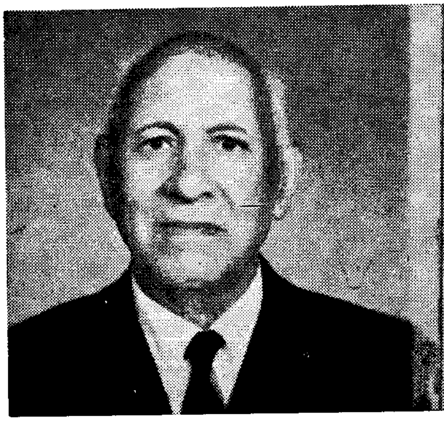

पण्डित लालचन्द जवाहरलाल जी शर्मा

श्रीमती शान्तिदेवी जी शर्मा

पण्डित लालचन्दजी पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के एक प्रमुख उन्नायक थे। उनका जन्म १८९५ में गोदपुर (जिला होशियारपुर) के एक पुञ्ज कृषक परिवार में हुआ था। सन् १९१३ में वह केनिया चले गये और वहाँ ठेकेदारी का काम प्रारम्भ किया। उस समय केनिया में बसे हुए भारतोयों द्वारा यह आन्दोलन किया जा रहा था, कि उन्हें भी वहां अंग्रेजों के समान अधिकार प्राप्त हों। सन् १९१४ में विश्व महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर केनिया में बसे हुए अंग्रेजों को यह अवसर प्राप्त हो गया कि वे केनिया के भारतीयों के विषय में यह कहने लगे, कि उनमें भी गदर की प्रवृत्ति शुरू हो गई है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से भारतीय गिरफ्तार कर लिए गए। शर्माजी भी उनमें थे। राजद्रोह के आरोप में शर्माजी को मौत की सजा दी गयी, जो बाद में दस साल के कठोर कारावास में बदल दी गयी। महायुद्ध की समाप्ति पर एक न्यायिक जाँच कमीशन ने शर्माजी को निर्दोष घोषित करते हुए कारावास से मुक्त कर दिया। अब उन्होंने अपना स्वतंत्र कारोबार शुरू किया, जिसमें उन्होंने बहुत उन्नति की। पर व्यवसाय-व्यापार में संलग्न रहते हुए भी वह आर्य-समाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नैरोबी के आर्य गर्ल्स सेकेण्डरी स्कूल की स्थापना व उत्कर्ष में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। पण्डित लालचन्द शर्मा का विवाह केनिया के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता पण्डित वैशाखीरामजी की सुपुत्री श्रीमती शान्तिदेवी जी के साथ हुआ था। शान्तिदेवीजी अपने पति तथा भाइयों के समान धर्म तथा समाज की सेवा में सदा तत्पर रहती हैं, और नैरोबी की स्त्री-आर्यसमाज के संचालन में उनका कर्तृत्व सराहनीय है। वह एक आदर्श आर्य महिला हैं, और सभी हिन्दू परिवारों के सुख-दुःख में सहृदयता से सहायक होना उनका स्वभाव है।

संरक्षक-सदस्य

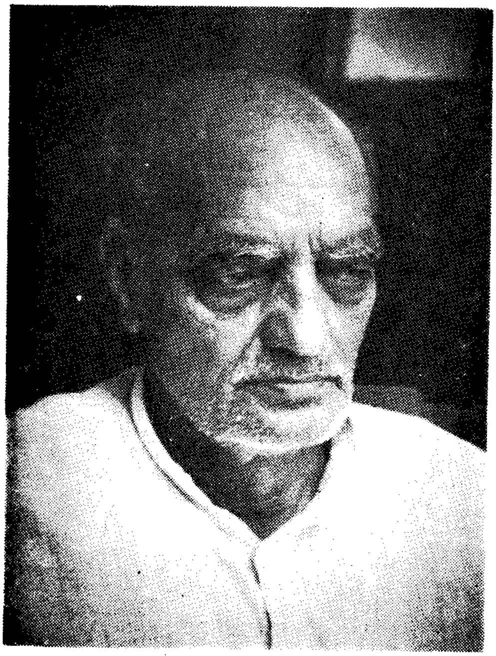

डा० हरिप्रकाशजी आयुर्वेदालंकार

कमालिया (पाकिस्तान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री लक्ष्मणदासजी की वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था थी, और आर्यसमाज के वह उत्साही तथा कर्मठ कार्यकर्ता थे। उन्होंने अपने सभी पुत्रों को गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा के लिए भेजा, और सभी ने आर्यसमाज के क्षेत्र में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किया। श्री हरिप्रकाश गुरुकुल में नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३७ में स्नातक हुए और उन्होंने 'आयुर्वेदालंकार' की उपाधि प्राप्त की। चिकित्सा में उनकी योग्यता को दृष्टि में रखकर १९३९ में उन्हें गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का चिकित्सक नियत किया गया, और १९४० में गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी का सहायक व्यवसायाध्यक्ष। सन् १९४४ में अम्बाला छावनी को उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और उस क्षेत्र के लिए गुरुकुल फार्मेसी की चीफ एजेन्सी लेकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाद में (सन् १९७२ में) वह गुरुकुल फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष नियत हुए।

डा० हरिप्रकाशजी की सार्वजनिक जीवन के प्रति विद्यार्थी अवस्था से ही रुचि रही है। स्नातक होने से पूर्व ही सत्याग्रह आन्दोलन में उन्होंने जेलयात्रा की थी, और रुड़की क्षेत्र के राजनैतिक जीवन में सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त कर ली थी। वर्षों तक वह आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के मंत्री रहे, और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट, विद्या-सभा, शिक्षापटल, चयन समिति तथा व्यवसाय पटल आदि के सदस्य। भारत का विभाजन होने पर उन्होंने शरणार्थियों की लगन से सेवा की, और शरणार्थी सेवा शिविर, रुड़की के वह संचालक रहे। अम्बाला की आर्य गर्ल्स पोस्ट-ग्रेजुएट कॉलिज आदि अनेक संस्थाओं के वह प्रबन्धक तथा आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रतिष्ठित सदस्य हैं, और हरयाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान रह चुके हैं। अब वह गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता हैं।

संरक्षक-सदस्य

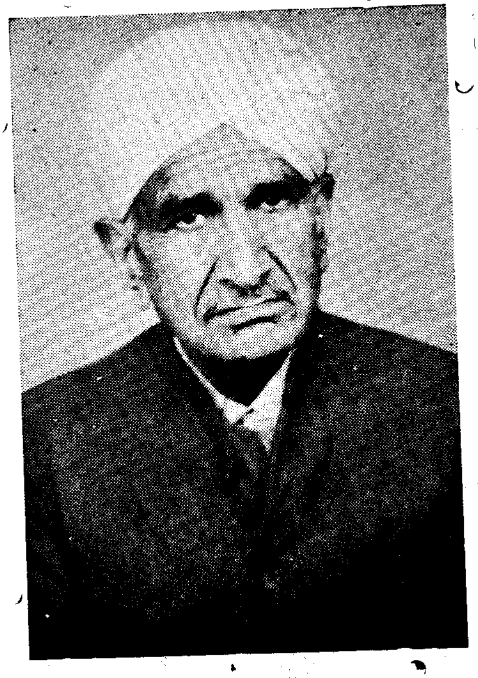

श्री गोविन्दरामजी भूटानी

भारत के विभाजन के कारण पाकिस्तान से विस्थापित हुए श्री भूटानीजी ने स्वल्प समय में ही दिल्ली में अपने कारोबार को पुनः स्थापित कर लिया और परमपिता परमात्मा की कृपा से शीघ्र ही वह पुनः सम्पन्न व समृद्ध हो गये। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में भूटानीजी की अगाध श्रद्धा है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और सभी धार्मिक व उपयोगी कार्यों के लिए सहायता देने में सदैव तत्पर रहते हैं।

प्रतिष्ठित-सभासद

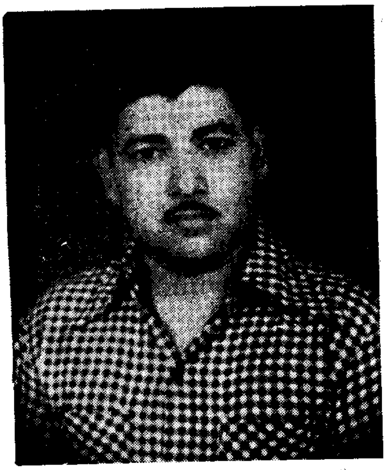

श्री राजेन्द्रप्रसादजी

१७ जुलाई सन् १९४८ को ग्राम चनपरीया (बिहार) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। प्रारम्भ से ही आर्य विद्वानों तथा संन्यासियों के साथ सम्पर्क, जिसके परिणामस्वरूप वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा और आर्यसमाज के कार्यकलाप में रुचि। समीपवर्ती ग्रामों और नगरो में वैदिक धर्म के प्रचार में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। लण्डन के आर्य महा सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे, और आर्य-समाज के सभी समारोहों में उनका उत्साहपूर्वक योगदान रहता है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में बिहार कें प्रतिनिधि हैं। राजेन्द्रप्रसाद जी अभी युवक हैं, पर आर्यसमाज के कार्यकलाप में उन्होंने अपने को पूर्ण रूप से समर्पित किया हुआ है।

संरक्षक-सदस्य

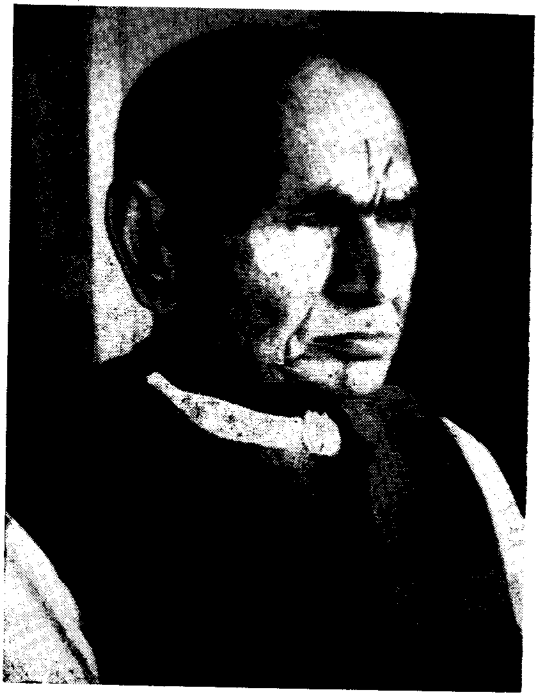

कर्मयोगी श्री भूपाल आर्य

स्व० श्री भूपालजी आर्य का जन्म गांव शेरड़ा, (राजस्थान) में संवत् १९६५ वि० की श्रावणी पूर्णिमा को हुआ था। वीरता, उदारता, प्रभुभक्ति भूपालजी को पैतृक दाय में मिली थीं। श्री भूपालजी 'सादा जीवन, उच्च विचार' की साक्षात् मूर्ति थे। स्वदेश और स्वधर्म की भक्ति उनके रोम-रोम में समायी हुई थी। जीवनपर्यन्त खादी के ही वस्त्र धारण करते रहे। श्री भूपालजी स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के कट्टर भक्त थे। यज्ञ-हवन, भजन, सत्संग इन्हें अतिप्रिय थे। वे अपने व्यावसायिक स्थान पर अपने कर्मचारियों के साथ साप्ताहिक हवन-भजन-सत्संग नियमित रूप से करते थे।

राजस्थान में अकाल पड़ने पर भूपालजी व्यापार करने की दृष्टि से उत्तरी बंगाल गये। १९४६ ई० में कलकत्ता में कपड़े का व्यवसाय आरम्भ किया। १९६२ ई० में आपके पुत्रों ने ट्रक ट्रान्सपोर्ट का काम आरम्भ किया। आपका परिवार ट्रान्सपोर्ट में अग्रगण्य व्यवसायी है। आपका देहान्त १८ नवम्बर, १९८३ को दिल्ली में हो गया। आपके पुत्र श्री दयानन्द आर्य, श्री चन्द्रमोहन आर्य, श्री रतनप्रकाश आर्य, अपने पूज्य पिताजी के चरण-चिन्हों पर चलते हुए देश, धम, जाति की सेवा में तत्पर हैं। इन श्रद्धालु पुत्रों ने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में ५००० रुपये का दान देकर आर्य स्वाध्याय केन्द्र की संरक्षक-सदस्यता स्वीकार की है।

संरक्षक-सदस्य

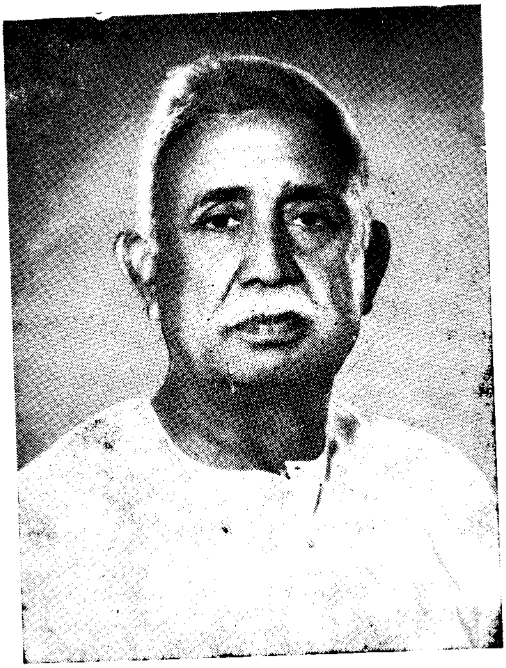

श्री छोगमल चौधरी

हरयाणा के बहल नामक गांव में श्री छोगमल चौधरी का जन्म हुआ था। उनका पैतृक पेशा खेती और ग्रामीण व्यवसाय था, जिसमें उन्होंने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। आरम्भ से ही उनकी अभिरुचि साहित्य के अध्ययन में थी। धार्मिक साहित्य उन्हें विशेष रूप से प्रिय रहा है। श्री चौधरी ने किशोर अवस्था में ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ा था। तभी से महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा हो गयी थी, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप व मन्तव्यों में वे विश्वास रखने लगे थे। श्री चौधरी सत्संग, स्वाध्याय एवं यज्ञ के अतिप्रेमी हैं।

श्री छोगमल जी के चार पुत्र हैं—श्री हरिकिशन चौधरी, श्री शिवकुमार चौधरी, श्री महेन्द्रकुमार चौधरी और श्री प्रमोदकुमार चौधरी। श्री हरिकिशन बड़े कुशल उद्योगपति व व्यवसायी हैं। अपने अनुजों को साथ लेकर उन्होंने कलकत्ता और सूरत में उद्योग व व्यवसाय में बहुत उन्नति की है।

श्री शिवकुमार चौधरी उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए, आर्यसमाज के निष्ठावान् भक्त व कर्मठ कार्यकर्ता हैं। बड़ा बाजार (कलकत्ता) आर्यसमाज की उन्नति में उनका कर्तृत्व अत्यन्त महत्व का है। आर्यसमाज के इतिहास के गौरव से प्रभावित होकर उन्होंने अपने पुज्य पिताजी के नाम से ५००० रुपये प्रदान कर आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य होना स्वीकार किया है।

संरक्षक सदस्य

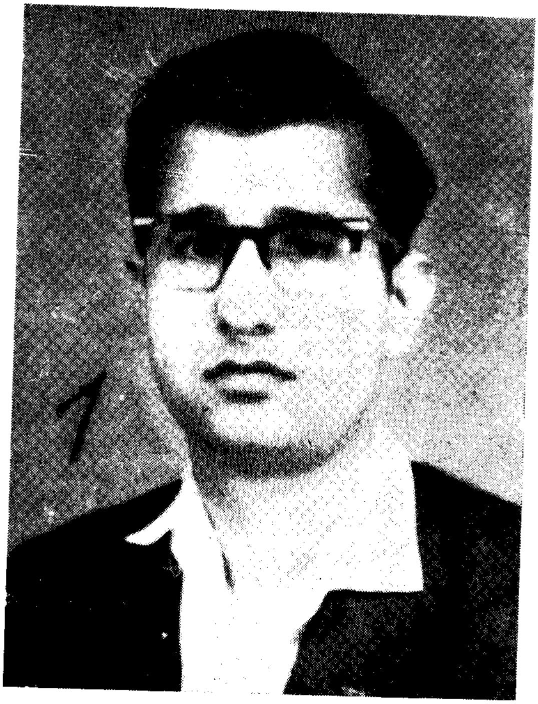

श्री कन्हैयालाल आर्य

स्व० श्री कन्हैयालालजी का जन्म ३१ मई सन् १९३६ ई० में हरयाणा के गुरेरा नामक ग्राम में हुआ था। आपके बड़े भाई श्री चन्दूलाल आर्य, श्री फूलचन्द आर्य, श्री रामरिछ पाल आर्य कलकत्ता में व्यवसाय करते थे, सो कन्हैयालालजी की स्कूली शिक्षा कलकत्ता में ही हुई। यहीं अपने बड़े भाई श्री फूलचन्द आर्य और छोटे भाई श्री जगदीशप्रसाद आर्य के साथ अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठान जय भारत फैब्रिक्स में व्यवसाय करना आरम्भ किया। श्री कन्हैयालालजी श्रद्धालु कट्टर आर्यसमाजी थे। श्री कन्हैयालालजी ने रूढ़ियों को तोड़ कर एक विधवा कन्या के साथ विवाह करके सामाजिक क्रान्ति की थी। श्री आर्यजी आर्यसमाज बड़ा बाजार के निष्ठावान् कार्यकर्त्ता थे और जब १३ जून सन् १९८५ ई० को आपका देहान्त हुआ, उस समय आप आर्यसमाज बड़ा बाजार कलकत्ता के प्रधान थे।

आपके अग्रज श्री फूलचन्द जी आर्य कलकत्ता के आर्यसमाजी क्षेत्र के प्रतिष्ठित एवं वरिष्ठ कार्यकर्त्ता हैं। अपने युवक प्रिय अनुज स्व० कन्हैयालालजी की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए आपने ५००० रुपये का दान देकर आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया।

परम सहायक एवं सहयोगी

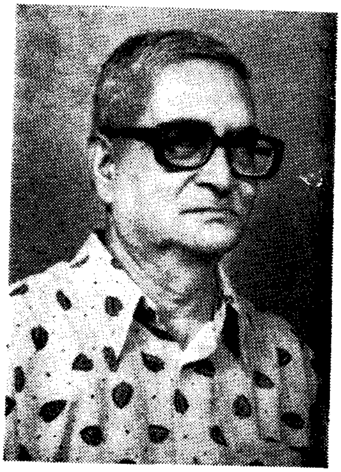

प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार

प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार का जन्म सन् १९१७ में जम्मू में हुआ था। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से वेदालंकार की परीक्षा उत्तीर्ण कर सन् १९३८ में वे स्नातक हुए, और बाद में आगरा यूनिवर्सिटी से संस्कृत तथा इतिहास में एम. ए. की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। सन् १९४७ से १९६९ तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रोफेसर रहे, और फिर पन्तनगर यूनिवर्सिटी में प्रकाशन निदेशालय के निदेशक नियुक्त हुए। दो दर्जन से अधिक उच्च कोटि के व मौलिक ग्रन्थों के रचयिता, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून, हिन्दू परिवार मीमांसा, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, भारत का सांस्कृतिक दिग्विजय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर भारत सरकार द्वारा दस हजार रुपयों का पुरस्कार, और अन्य अनेक ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत। 'आर्यसमाज का इतिहास' के लेखन व सम्पादन में प्रमुख सहयोगी। हरिदत्त जी की अनुपम साहित्य सेवा के कारण गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने उन्हें सन् १९७६ में 'विद्यामार्तण्ड' की मानद उपाधि में सम्मानित किया।

प्रतिष्ठित-सदस्य

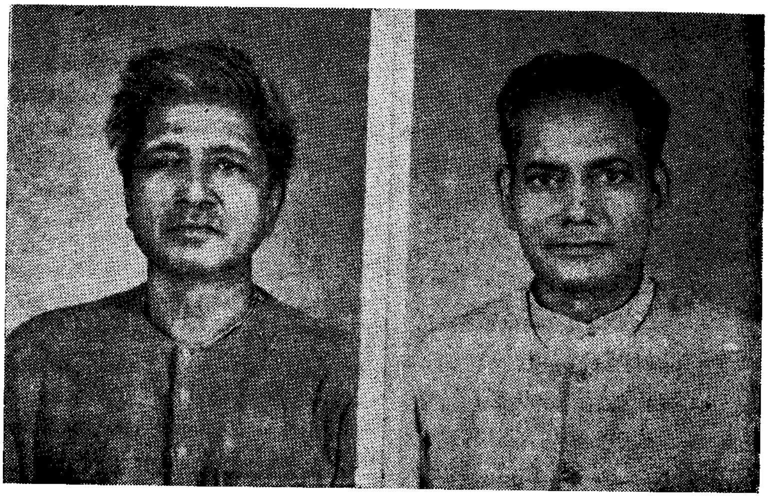

श्री भूपनारायण शास्त्री | श्री रामाज्ञा बैरागी

(बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के सर्वसम्मति से नवनिर्वाचित प्रधान और मंत्री)

श्री भूपनारायण शास्त्री बिहार के अत्यन्त कर्मठ, उत्साही तथा लोकप्रिय आर्य नेता हैं। उनका जीवन मुख्यतया आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत हुआ है। उन्होंने कितनी ही आर्य शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की, और योग्यतापूर्वक उनका संचालन किया। अब वे अपना सब समय व शक्ति बिहार में आर्यसमाज को सशक्त बनाने तथा संगठित करने में लगा रहे हैं। सर्वसम्मति से बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित होकर अब वे पूर्वी भारत में महर्षि के मिशन को और भी अधिक समर्पण भाव से पूर्ण करने में समर्थ होंगे।

उनके सहयोगी श्री रामाज्ञा बैरागी चिरकाल से आर्य वीर दल द्वारा आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हैं। अब उनका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत व उत्तरदायित्वपूर्ण हो गया है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

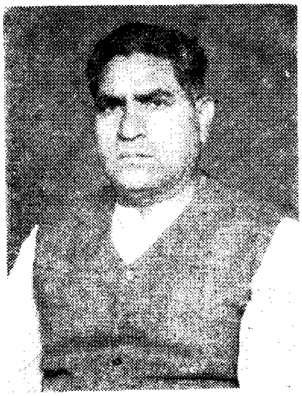

श्री दयानन्द आर्य

श्रीमती सुरेन्द्रवती कुलश्रेष्ठ

श्री दयानन्द आर्य आगरा के प्रतिष्ठित व सम्पन्न नागरिक हैं। आर्य संसार में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त है। उनका जन्म २० मई, सन् १६२८ को जामपुर बरहन (जिला आगरा) के एक सम्भ्रान्त आर्य परिवार में हुआ था। जब वह केवल १३ वर्ष की आयु के थे, क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने लगे, और क्रान्तिकारी जीवन बिताते हुए भी संन्यासी हो गये। दो साल के लगभग वह संन्यासी होकर जनता की सेवा करते रहे। बाद में उन्होंने सांसारिक जीवन में आने की आवश्यकता अनुभव की, और अपनी अधूरी छोड़ी हुई शिक्षा को पूरा कर एम. ए. तथा एल-एल. बी. की परीक्षाएं, उत्तीर्ण कीं। वकालत में उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई, और आगरा क्षेत्र के चोटी के वकीलों में उनकी गिनती होने लगी। श्री दयानन्द आर्य जहां सफल वकील हैं, वहां सशक्त लेखक एवं वक्ता भी हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना भी की है। आर्यसमाज और उनकी शिक्षण-संस्थाओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। नौ वर्ष तक वह आर्य केन्द्रीय सभा, आगरा के अध्यक्ष रहे हैं, और अनेक शिक्षण-संस्थाओं के प्रशासक, अध्यक्ष तथा प्रबन्धक के रूप में समाज की सेवा करते रहे हैं। राष्ट्रीय कालिज, बरहन उनके विद्याप्रेम तथा जनसेवा का मूर्त रूप है। उनकी स्थापना आर्य जी द्वारा ही की गई थी, और वे ही उसका संचालन कर रहे हैं। आर्यसमाज मन्दिर राजा मण्डी, दयानन्द बालमन्दिर लक्ष्मीनगर, विद्यासागर हॉल, गर्ल्स कॉलिज आगरा आदि संस्थाओं को उन्होंने भरपूर आर्थिक सहायता प्रदान की है, और उनका संचालन किया है। विदेश यात्रा का उन्हें बहुत शौक है। वे तीस विदेशी राज्यों की अपनी पत्नी के साथ यात्रा कर चुके हैं, और विदेशों की इन यात्राओं में भारतीय संस्कृति एवं आर्य आदर्शों के प्रचार में सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

श्री दयानन्द आर्य की धर्मपत्नी श्रीमती सुरेन्द्रवती कुलश्रेष्ठ शमसपुर (जिला एटा) के प्रसिद्ध सम्भ्रान्त व कुलीन तालेवरसिंह परिवार की पुत्री हैं। अपने पति के समान वह भी निष्ठावान् व कर्मठ समाजसेविका हैं। स्त्री आर्यसमाज की वह बीस वर्ष तक प्रधान रही हैं, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं। श्री आर्य के साथ वह भी तीस के लगभग विदेशों का भ्रमण कर चुकी हैं।

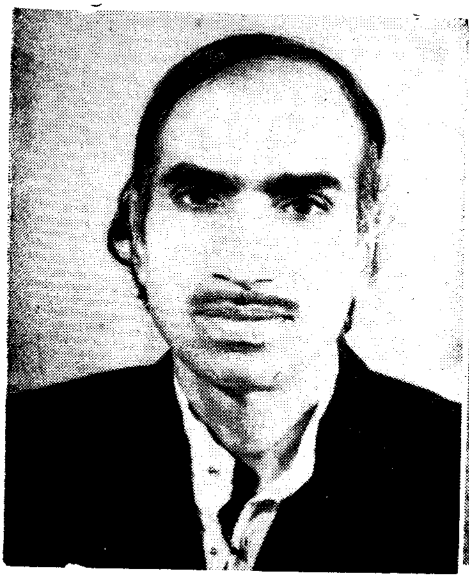

श्री भगवानदासजी अग्रवाल तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मनभावतीजी अग्रवाल

श्री भगवानदासजी अग्रवाल का जन्म सन् १६२७ में गांव नकटा, जिला भिवानी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री लालजीराम अग्रवाल धार्मिक प्रकृति के पुरुष थे। भगवानदासजी की शिक्षा भिवानी में हुई, जहाँ वह आर्यसमाज तथा आर्य वीर दल के सम्पर्क में आए और उन्होंने आसपास के ग्रामों मे उत्साहपूर्वक आर्य वीर दल का कार्य किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन तथा मन्तव्यों की जो छाप उस समय उन पर पड़ी, वह आजीवन रहेगी। महर्षि और आर्यसमाज से वह कभी उऋण नहीं होंगे। शिक्षाकाल में ही उनका परिचय श्री फूलचन्दजी शर्मा 'निडर' से हुआ और उनके जीवन से उन्होंने बहुत कुछ सीखा।

सन् १६४७ में श्रीमती मनभावती देवी से उनका विवाह हुआ। श्रीमती जी का जीवन अत्यन्त सरल, तपस्यामय तथा सात्विक है, और योग साधन में उन्हें विशेष रुचि है। सन् १६४८ में श्री भगवानदासजी तिनसुखिया (आसाम) में आए, जहां व्यापार में उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। उनके तीन पुत्र और एक पुत्री हैं। तीनों पुत्रों का विवाह बिना दहेज के वैदिक रीति से करके उन्होंने आदर्श उपस्थित किया है। तिनसुखिया में वह आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक संलग्न रहते हैं। वहां आर्यसमाज की स्थापना उन्हीं द्वारा की गई है, और अब उनका विचार एक बहु-उद्देश्यीय विद्यालय खोलने का है, जो ईश्वर की कृपा से शीघ्र पूर्ण होगा। प्राकृतिक चिकित्सा से श्री अग्रवालजी को विशेष अनुराग है।

संरक्षक-सदस्य

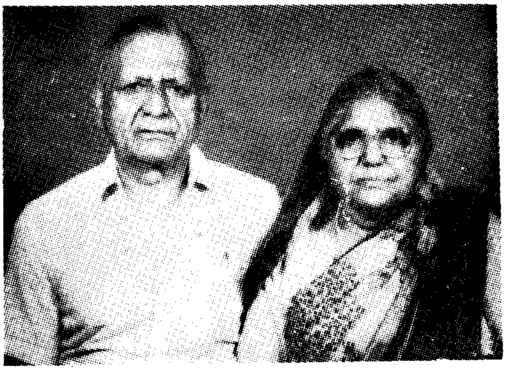

श्री हरवंशलाल शर्मा तथा श्रीमती राजकुमारी शर्मा

श्री हरवंशलाल शर्मा का जन्म २ फरवरी, १९२० में ग्राम रूड़काकलां (जालन्धर) में हुआ। वह बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। वह अपने पिता श्री कर्मचन्द जी शर्मा के पास कराची में चले गये, जहां वे अपना कार्य करते थे। वहां रहते हुए इनका झुकाव आर्यसमाज की ओर होगया और वह अपने चाचा श्री पं० मुरारीलाल जी शर्मा व ताया श्री पं० किशनचन्द जी शर्मा के साथ आर्यसमाज के कार्य में बढ़चढ़ कर भाग लेने लगे। यहीं से वे एयरफोर्स में भर्ती हो गए और लगभग १५ साल तक वायुसेना में रहे। यहां भी इनका रहनसहन व खानपान सादा व पवित्र रहा।

एयरफोर्स सेवा के बाद वह जालन्धर में आकर कार्य करने लगे। यहां साईकल पार्टस बनाने का कार्य "विजय साईकल एण्ड स्टील इण्डस्ट्रीज" के नाम से आरम्भ किया, जो इस समय अपने यौवन पर है। अब आप साईकल पार्टस के साथ साथ पाइप फिटिंग आदि का सामान भी बनाते हैं। इनके तीन सुपुत्र हैं, एक सुपुत्री है। सभी विवाहित हैं और बड़े खुशहाल रूप में हैं। इनकी धर्मपत्नी श्रीमती राजकुमारी इनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलती हैं। सुपुत्र भी बहुत सुयोग्य व चरित्रवान् हैं। इनके बड़े सुपुत्र श्री सुदर्शनकुमार शर्मा और उनसे छोटे श्री सुरेशकुमार शर्मा और सबसे छोटे नरेशकुमार शर्मा हैं। यह सभी मिलकर चलते हैं और अपने कार्य को सुचारु रूप से कर रहे हैं, और अपने पूज्य पिता जी को पूर्ण सहयोग दे रहे हैं। अब सारा कार्यभार इन्होंने संभाल लिया है, जिससे श्री हरवंशलाल जी शर्मा को आर्यसमाज का कार्य करने में अब पहले से अधिक समय मिल जाता है।

जालन्धर में भी श्री हरवंशलाल शर्मा आर्यसमाज के क्षेत्र में गिनेचुने व्यक्तियों में से एक हैं। जालन्धर की कोई भी ऐसी समाज न होगी, जिसको समय-समय पर यह सहायता न देते हों। यह आर्यसमाज वेदमन्दिर भार्गव नगर के सदस्य हैं। परन्तु उनके साथ ही यह अन्य सभी आर्यसमाजों को भी पूर्ण सहयोग देते रहते हैं। यह काम करने में विश्वास रखते हैं, अधिकार प्राप्ति की इन्हें कोई लालसा नहीं। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के यह कई वर्ष उपप्रधान रहे और अब सभा के कोषाध्यक्ष हैं। इसके साथ ही आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था गुरुकुल करतारपुर के यह कार्यकर्त्ता उपप्रधान हैं, और इसी प्रकार से दयानन्द मठ जालन्धर के भी विशेष कार्यकर्त्ता हैं।

आर्यसमाजी क्षेत्रों में इनका नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। पंजाब के अतिरिक्त, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार, दिल्ली व हरियाणा के गुरुकुलों तथा दूसरी संस्थाओं को भी यथा-योग्य आर्थिक सहायता करते रहते हैं। इस सब कार्य में इनकी धर्मपत्नी श्रीमती राजकुमारी जी का भी इन्हें पूरा-पूरा सहयोग मिल रहा है। शर्मा जी तथा उनकी पत्नी राजकुमारी जी को महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति अगाध श्रद्धा है, और उनका जीवन आर्यसमाज के कार्यकलाप के लिये पूर्णतया समर्पित है। वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये वे सदा मुक्तहस्त से दान देने के लिए तत्पर रहते हैं।

संरक्षक-सदस्य

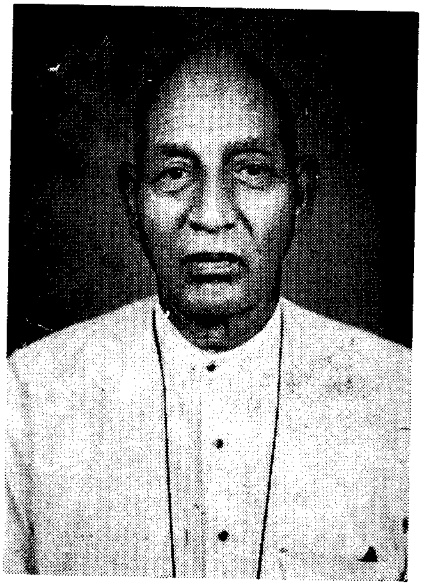

पण्डित फूलचन्द शर्मा 'निडर'

श्री पण्डित फूलचन्द जी का जन्म सन् १९०२ में भिवानी (हरयाणा) के एक अग्रवाल परिवार (बंसल गोत्र) में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई। पर आर्यसमाज में रुचि होने पर उन्होंने स्वयं हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन शुरू किया, और इनमें उच्च योग्यता प्राप्त कर ली। कई मास तक अजमेर रहकर उन्होंने श्री जयदेव विद्यालंकार (चतुर्वेद-भाष्यकार) से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों में निष्णात हो जाने पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने उन्हें गुणकर्मानुसार 'ब्राह्मण' बर्ण का स्वीकार कर ब्राह्मण उपाधि से विभूषित किया। तब वे अपने नाम के साथ 'शर्मा' लगाने लगे। क्योंकि वे कवि भी हैं, अत: 'निडर' उपनाम रखकर उन्होंने काव्य क्षेत्र में भी प्रबेश किया। उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा में बहुत सी कविताओं तथा भजनों की रचना की है, जिन्हें आर्यसमाज के सत्संगों में उत्साहपूर्वक गाया जाता है। उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें वैदिक धर्म के मन्तव्यों का अत्यन्त सरल व प्रभावशाली रूप से प्रतिपादन किया गया है।

श्री पण्डित फूलचन्द जी शर्मा का सारा जीवन संघर्ष में व्यतीत हुआ है। उनका परिवार कट्टर पौराणिक था। उनकी माता जी भी सनातनी विचारों की थीं। पिता जी की मृत्यु तब हो गई थी जब वे २½ वर्ष के थे। शर्मा जी सुदृढ़ आर्यसमाजी हैं, अत: अपने पौराणिक पारिवारिक जनों तक रूढ़िवादी समाज से उन्हें घोर संघर्ष करना पड़ा। पर वे अपने सिद्धान्तों व विश्वासों पर अटल रहे। वे आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में निरन्तर संलग्न रहते हैं और सत्यार्थ प्रकाश की कथा, प्रवचन एवं शास्त्रार्थ आदि द्वारा वैदिक धर्म का समुज्वल रूप प्रस्तुत करते हैं।

उनके तीन पुत्र और दो पुत्रियां है। सब दृढ़ आर्य हैं। ईश्वर की सब पर कृपा है। सब सम्पन्न, समृद्ध, सुखी व यशस्वी हैं।

संरक्षक-सदस्य

श्री सोमनाथ मरवाह

कोषाध्यक्ष, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली
एवं परिद्रष्टा (विजिटर) गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री सोमनाथ मरवाह हाई कोर्ट दिल्ली एवं सुप्रीम कोर्ट के सीनियर एडवोकेट हैं, और कानूनी सूझबूझ तथा वाक्पटुता के लिये उनकी सर्वत्र ख्याति है। वैदिक धर्म के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था है, और आर्यसमाज के वे कर्मठ तथा उत्साहसम्पन्न नेता हैं। आर्यसमाज के सामने कोई भी समस्या हो, चाहे आर्थिक और चाहे कानूनी, उसके समाधान के लिये वे सदा तत्पर रहते हैं। हैदराबाद सत्याग्रह के आर्य सैनिकों को स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी की स्थिति प्रदान कराने के लिये उन्होंने जो सफल प्रयत्न किया, वह इतिहास में सुवर्णीय अक्षरों में लिखा जाएगा। आर्यसमाज द्वारा संचालित हिन्दी सत्याग्रह, गोरक्षा आन्दोलन तथा धर्माभियान रक्षा में उनकी सराहनीय भूमिका रही है। वे जिस काम को हाथ में लेते हैं, सफल बनाकर छोड़ते हैं। आर्यसमाज तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के लिए उनमें अदम्य उत्साह है। उनके नेतृत्व में आर्यसमाज उन्नति पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जाएगा—यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री बजरंगलालजी गोयल

श्रीमती सावित्री देवी गोयल

श्री बजरंगलाल गोयल का जन्म सन् १९१७ में हरयाणा के प्रसिद्ध नगर भिवानी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। बचपन में ही माता-पिता का साया उन पर से उठ गया, और बड़े भाई तथा भाभी ने उनका पालन किया। उनके परिवार के लोग कट्टर सनातनी विचारों के थे, पर बजरंगलालजी शिक्षा काल में आर्यसमाज के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में आस्था रखने लगे। पढ़ाई पूरी कर वह कलकत्ता चले गये, और वहां व्यापार में अच्छी सफलता प्राप्त की। कलकत्ता में रहते हुए उन्होंने आर्यसमाज बड़ा बाजार के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेना शुरू किया, और वर्षों तक समाज के मंत्री रहे। सन् १९६१ में बम्बई जाकर अपना व्यवसाय शुरू किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता मिली। बम्बई फोर्ट आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य तथा कोषाध्यक्ष के पद पर रहकर उन्होंने चिरकाल तक समाज की सेवा की, और फिर उसके महामंत्री के रूप में आर्यसमाज में कार्यरत रहे। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से बम्बई प्रदेश में जो अर्थसमिति संगठित की गयी थी, उसके मन्त्री बजरंगलालजी ही थे।

श्रीमती सावित्री देवी जुई कलां, जिला भिवानी (हरयाणा) के निवासी श्री बनारसीदासजी अग्रवाल की ज्येष्ठ पुत्री हैं। यद्यपि उन्हें उच्च शिक्षा का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, पर हिन्दी भाषा का उन्हें समुचित ज्ञान है, जिसके कारण वह धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करती रहती हैं। धर्म में इन्हें बचपन से ही आस्था रही है। सन् १९४५ में श्री बजरंगलालजी गोयल के साथ उनका विवाह हुआ, और आर्यसमाज के मन्तव्यों से परिचय प्राप्त करने का उन्हें अवसर मिला। शीघ्र ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगीं, और सार्वजनिक जीवन में उन्होंने सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया। सावित्रीजी धार्मिक प्रवृत्ति की सुसंस्कृत महिला हैं, अतिथिसेवा में वह दक्ष हैं, और उनकी प्रकृति बहुत मिलनसार है। अपने सुयोग्य पति श्री बजरंगलाल गोयल के साथ वह प्रसन्नतापूर्वक सादा व सात्विक जीवन बिताती हैं।

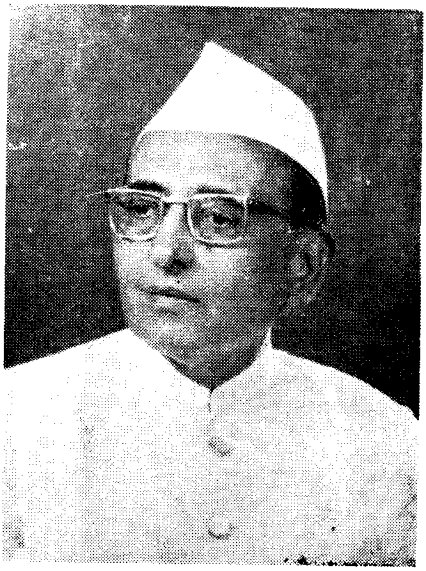

श्री जयन्तिलाल हरजीवनदास संघवी

श्री जयन्तिलाल हरजीवनदास संघवी का जन्म १६ अक्टूबर १६१५ को सौराष्ट्र के एक प्रतिष्ठित बनिया (वैश्य) परिवार में हुआ था। पिता और बड़े भाई की मृत्यु हो जाने के कारण वह मैट्रिकुलेशन से अधिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके, और उन्हें व्यापार में लग जाना पड़ा। उन्हें देश और धर्म की सेवा में बचपन से ही रुचि थी। १५ वर्ष की आयु में उन्होंने सत्याग्रह संग्राम में भाग लिया, और २२ वर्ष की आयु में शिवाजी पार्क, बम्बई आर्यसमाज की स्थापना की। चिरकाल तक इस समाज के प्रधान के रूप में वह धर्म की सेवा में संलग्न रहे, और सम्प्रति भी इसके प्रधान हैं। संघवीजी कट्टर 'दयानन्दी' व 'आर्यसमाजी' हैं। आर्यसमाज के विविध कार्यकलापों में उत्साह व लगन से सहयोग प्रदान करने में वह सदा उद्यत रहते हैं।

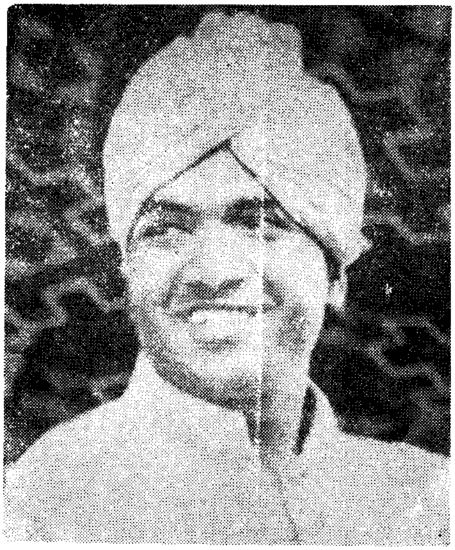

श्री स्वामी शक्तिवेशजी

श्री स्वामी शक्तिवेशजी का जन्म राजस्थान के एक पौराणिक परिवार में हुआ था। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित होकर वह आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए और शीघ्र ही उन्होंने आर्य जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री तथा प्रधान रहकर उन्होंने उत्साहपूर्वक आर्यसमाज की सेवा की, और सम्प्रति स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का सफलतापूर्वक संचालन कर रहे हैं। शक्तिवेशजी में अदम्य उत्साह व शक्ति है, और उसका उपयोग वह पूर्णतया आर्यसमाज की सेवा में कर रहे हैं। □

संघवीजी का सार्वजनिक सेवा का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है। सन् १६४१-४२ के घोर दुर्भिक्ष के समय उन्होंने सौराष्ट्र में 'मानव राहत समाज' स्थापित कर दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सेवा की थी। युवकों को व्यायाम की शिक्षा देने के लिए उन्होंने मातुंगा रोड, बंबई में 'प्रताप व्यायाम मन्दिर' की स्थापना की है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है। लायन्स क्लब हायर सेकेण्डरी स्कूल, मातुंगा के वह संस्थापक-प्रधान हैं। संघवी जगमोहनदास भगवानदास हाई स्कूल तथा श्रीमती हरिबाई भगवानदास स्कूल की स्थापना व संचालन में भी उनका प्रमुख कर्तृत्व है। जनता की सेवा के लिए उन्होंने आर्यसमाज, शिवाजी पार्क (बम्बई), मातुंगा रोड (बम्बई) तथा महुवा (सौराष्ट्र) में धर्मार्थ औषधालय भी स्थापित किए हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्रीमती सुदर्शनाजी कौशल

२२ जनवरी, सन् १९२९ के दिन नैरोबी (केनिया, ईस्ट अफ्रीका) के एक सम्भ्रान्त आर्य परिवार में सुदर्शनाजी का जन्म हुआ था। उनके पिता श्री बंसीलालजी सोफत और माता श्रीमती वेदवतीजी सोफ़त - दोनों की वैदिक धर्म में सुदृढ़ आस्था और आर्यसमाज के प्रति सच्चा प्रेम था। नैरोबी के आर्य स्कूल में सुदर्शनाजी की शिक्षा हुई, और दिसम्बर १९४५ में डाक्टर वेदप्रकाशजी कौशल से भारत में उनका विवाह हुआ। डाक्टर कौशल का सम्बन्ध लुधियाना के एक प्रसिद्ध आर्य परिवार से है, जिसके अन्यतम सदस्य डाक्टर बख़्तावरसिंह कौशल ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत किया था।

श्रीमती सुदर्शना कौशल और उनके पति अब दस साल से लण्डन में हैं। वहाँ वे दोनों आर्यसमाज के कार्यलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और उनके सारे परिवार की यही आकांक्षा है कि महर्षि के मिशन को पूरा करने में सहायक हो सकें। उनका जीवन सरल सात्विक और धार्मिक है।

डाक्टर (श्रीमती) शान्ताजी मल्होत्रा

सन् १९३९ में लाहौर में शान्ताजी का जन्म हुआ था। उनके पिता पण्डित भीमसेन विद्यालंकार अविभाजित पंजाब के प्रतिष्ठित आर्य नेता थे, जो वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महामन्त्री रहे थे। सन् १९५९ में पंजाब यूनिवर्सिटी से राजनीतिशास्त्र में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर शान्ताजी उसी वर्ष आर्य गर्ल्स कॉलिज, अम्बाला छावनी में प्राध्यापिका नियुक्त हुईं; और सन् १९६१ में इसी कॉलिज की आचार्या हो गयीं। गत तेईस वर्ष से उच्च शिक्षा की इस आर्य संस्था का वह सफलतापूर्वक संचालन कर रही हैं। १९६५ में श्री राजकुमार मल्होत्रा (हरयाणा में एग्जीक्यूटिव इंजीनियर) से उनका विवाह हुआ। श्री मल्होत्रा धार्मिक प्रकृति और आर्य विचारों के सज्जन हैं। माता-पिता के धार्मिक संस्कार उनके पुत्र राजीव पर भी पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। सन् १९७८ में 'पोलिटिकल थॉट ऑफ स्वामी दयानन्द' विषय पर डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के निदेशन में शोधकार्य किया, और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री पण्डित सुखदेवजी शर्मा

२५ जनवरी १९२१ को अमृतसर के सम्भ्रान्त आर्य व्यवसायी श्री शंकरदासजी शर्मा के घर सुखदेवजी का जन्म हुआ था। उनके बड़े भाई पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और बड़ी बहिन श्रीमती सत्यवती शर्मा कन्या गुरुकुल देहरादून की स्नातिका हैं। सुखदेवजी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर में हुई थी। भारत के विभाजन के पश्चात् वह कलकत्ता में बस गये। वह एक सफल उद्योग-पति हैं, और एक व्यावसायिक संस्थान के प्रधान हैं। गत ३२ वर्षों से वह कलकत्ता आर्यसमाज के कार्यों में सच्ची लगन तथा उत्साह के साथ सेवा में तत्पर हैं। वह उसके अन्तरंग सदस्य, उपमंत्री, उपप्रधान, मंत्री और प्रधान भी रह चुके हैं। राउरकेला (उड़ीसा) के गुरुकुल वेदव्यास की प्रबन्ध समिति के वह सदस्य हैं, और अनेक आर्य शिक्षण-संस्थाओं के मंत्री तथा सदस्य हैं। सन् १९६६ में वह सपत्नीक फ्रांस, इंग्लैण्ड, कनाडा, अमेरिका आदि विदेशों की यात्रा कर चुके हैं। आर्यसमाज के वह सच्चे सेवक हैं, और उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु है।

श्रीमती सुनीतिदेवीजी शर्मा

श्रीमती सुनीतिदेवीजी का जन्म २८ जून १९३१ को नई दिल्ली में हुआ था। उनके पिता पंडित शालिग्रामजी शर्मा हनुमान रोड (नयी दिल्ली) आर्यसमाज के मंत्री, पहाड़गंज और जवाहरनगर की आर्यसमाजों के संस्था-पक एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आजीवन सदस्य थे। सुनीतिजी की शिक्षा इन्द्रप्रस्थ कॉलिज, दिल्ली में हुई, जहां उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। संगीत के प्रति उनकी बचपन से ही रुचि थी, और वह आर्यसमाज के उत्सवों में भजन-गायन भी किया करती थीं। सुनीतिजी उत्कृष्ट कोटि की कवयित्री तथा सुलेखिका भी हैं। वह यूरोप तथा अमेरिका का भ्रमण कर चुकी हैं, और सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, नैरोबी में उन्हें संगीत सम्मेलन के लिए विशेष रूप से निमंत्रित किया गया था। संगीत, कविता तथा साहित्य के लिए वह अनेक पुरस्कारों द्वारा सम्मानित की जा चुकी हैं। उनके गीतों के अनेक कैसेट बने हुए हैं। कलकत्ता के आर्य जगत् में उनका स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठित है। वह आर्य स्त्री-समाज, मल्लिक बाजार, कलकत्ता की संस्थापिका हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

कुमारी एन्जेला कोछड़

श्री अरुण कोछड़

कुमारी एन्जेला कोछड़ की आयु केवल सतरह वर्ष की है, और उनके भाई अरुण कोछड़ की आयु उनसे एक वर्ष के लगभग कम है। पर ये दोनों बहन-भाई वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों में अभी से अनुपम उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। लण्डन में आर्यसमाज का कोई भी अधिवेशन हो, छोटा या बड़ा कोई भी सम्मेलन या समारोह हो, एन्जेला और अरुण का उनमें सक्रिय रूप से योगदान रहता है। उनके मधुर संगीत तथा गीतों को सुनकर श्रोता भक्तिरस में मग्न हो जाते हैं। अभिनय और नाटक के माध्यम से भी वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के सन्देश को जनता तक पहुंचाते हैं, और वैदिक धर्म पर व्याख्यान भी देते हैं। सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन में देश-देशान्तर से आये हुए आर्य नर-नारी, आर्यसमाज के प्रति उनकी लगन और प्रतिभा को देखकर चमत्कृत रह गये थे। २४ नवम्बर १९८० को लण्डन के हाउस ऑफ कामन्स में ११ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों की जो भाषण प्रतियोगिता हुई थी, उसमें अरुण ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था और एन्जेला ने तृतीय। इन भाई-बहन में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का अपूर्व मिश्रण है, और दोनों की अच्छाइयों को उन्होंने ग्रहण किया हुआ है। उनका जन्म एक दृढ़ आर्यसमाजी परिवार में हुआ है। उनके पिता श्री एम० एल० कोछड़ तथा माता श्रीमती शकुन्त कोछड़ की यही आकांक्षा है कि उनकी पुत्री और पुत्र वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में अपना जीवन लगा दें। हमें विश्वास है, कि एन्जेला और अरुण उनकी इस इच्छा को पूर्ण कर अपना तथा अपने माता-पिता का नाम उज्ज्वल करेंगे। भगवान् से प्रार्थना है कि ये भाई-बहन चिरायु हों, इनकी प्रतिभा का निरंतर विकास होता रहे, ये सच्चे अर्थों में आर्य बनें और इन द्वारा मनुष्यमात्र का हित-कल्याण सम्पादित हो।

प्रतिष्ठित-सदस्य

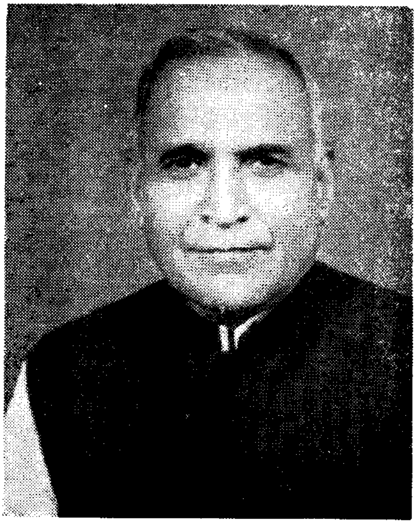

श्री वजीरचन्दजी

श्री वजीरचन्दजी का जन्म ग्राम बल्लुआणा (जिला भटिण्डा, पंजाब) में श्री नत्थूमलजी के घर हुआ था। उनका परिवार पौराणिक विचारों का था। पर जब वजीरचन्दजी भटिण्डा में निवास करने लगे, तो उनका सम्पर्क आर्यसमाज के साथ हुआ, और पूर्वजन्म के सुकृतों के फलस्वरूप वह वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये और महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म और देश की सेवा में अर्पित कर दिया। राजनैतिक गतिविधियों में भी उनकी रुचि है और वह दो बार जेलयात्रा भी कर चुके हैं। सम्प्रति वह अनेक सार्वजनिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—(१) प्रधान, आर्यसमाज, भटिण्डा। (२) प्रधान, आर्य जिला सभा, भटिण्डा। (३) उपप्रधान, आर्य गर्ल्स हाई स्कूल, भटिण्डा। (४) सदस्य, डी०ए०वी० कालिज, भटिण्डा। (५) सदस्य, गुरुकुल शिल्प विद्यालय। (६) सदस्य, अन्तरंग सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब। (७) आजीवन सदस्य, अखिल भारतीय नशाबन्दी कमेटी।

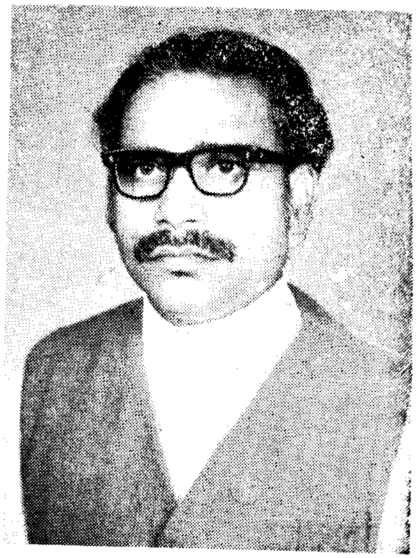

डा० बालकृष्णजी आर्य 'विकल'

डा० बालकृष्णजी आर्य 'विकल' का जन्म १९४२ ई० को बिन्दकी, फतेहपुर (उ० प्र०) में एक सम्भ्रान्त वैश्य परिवार में हुआ। १३ वर्ष की आयु में उन्होंने अपना सारा जीवन आर्य वीर दल व आर्यसमाज की सेवा में अर्पण कर दिया। वह एक अच्छे कवि और निर्भीक वक्ता भी हैं। नगर की आर्यसमाज के वह मंत्री हैं। हिन्दी रक्षा आन्दोलन में भी उन्होंने भाग लिया था; तब आपकी उम्र १४ वर्ष की थी। उनकी कविताएं सार्वदेशिक पत्र, आर्य जगत्, आर्य सन्देश आदि में छपा करती हैं। सार्वदेशिक आर्य वीर दल, दिल्ली के आदेशानुसार वह सभी बड़े कार्यक्रमों में व्यवस्था हेतु अपनी आर्य वीर सेना के साथ पहुंचते हैं—यथा आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली, सत्यार्थ-प्रकाश शताब्दी उदयपुर, आर्य महासम्मेलन अलवर में। अभी हाल में महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी अजमेर भी पहुंचे थे, जहां उनका सेवा कार्य सराहनीय रहा। वह पश्चिमी उत्तर प्रदेश के आर्य वीर दल के प्रान्तीय संचालक के रूप में बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

बाबू गुलाबसिंह आर्य

सन् १६०३ में तिजारा (अलवर, राजस्थान) के एक जैन परिवार में उत्पन्न हुए श्री गुलाब सिंह जी आर्य राजस्थान के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेताओं में एक थे। शिक्षा के लिए भरतपुर आने पर वे छात्र जीवन में श्री बैजनाथजी के सम्पर्क ने उन्हें सुदृढ़ आर्यसमाजी बना दिया, और उन्होंने अपना जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में लगा दिया। अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में उन्होंने मेवात क्षेत्र में शुद्धि के लिए व्यापक कार्य किया। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की ओर से भरतपुर में आर्य महासम्मेलन का सफलतापूर्वक आयोजन कराने का सम्पूर्ण श्रेय गुलाब सिंह जी को ही प्राप्त है। इस सम्मेलन में श्री घनश्याम सिंह गुप्त और पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति सदृश आर्य नेताओं ने भाग लिया था। भरतपुर के वर्तमान समाज मंदिर के निर्माण का श्रेय श्री गुलाबसिंह जी को ही है। वर्षों तक वे इस आर्यसमाज के प्रधान रहे। कन्याओं में शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने अपने कतिपय सहयोगियों की सहायता से आर्य कन्या विद्यालय की भी स्थापना की। वे स्वभाव से उदार थे, और किसी भी आर्य आन्दोलन को तन-मन धन से सहायता के लिए सदा उद्यत रहते थे। १४ जून, १६७६ को उनका निधन हुआ। वर्तमान में उनके परिवार में उनकी पत्नी श्रीमती राधादेवी आर्या के अतिरिक्त उनके सात पुत्र श्री ज्ञानेन्द्र, श्री सत्येन्द्र, श्री नृपेश आदि हैं, जो वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सदा तत्पर रहते हैं।

श्री सुरेशचन्द्र आर्य

२२ जून, १६२५ को उज्जैन (भरतपुर, राजस्थान) में जन्म। पिता श्री काँवलसिंह जी तथा माता श्रीमती चन्द्रादेवीजी अत्यन्त श्रद्धालु एवं धर्मपरायण थे। सुरेशचन्द्रजी परिवार के धार्मिक वातावरण में रहकर बड़े हुए और एम० ए०, बी० एड० की शिक्षा प्राप्त कर अध्यापन कार्य करते हुए प्रधानाचार्य के पद पर पहुंच गये। आर्य महिला विद्यापीठ भुसावर के संस्थापक श्री सत्यप्रिय आर्य की सुपुत्री श्रीमती विद्यावती, स्नातिका कन्या गुरुकुल हाथरस के साथ विवाह। दो पुत्र श्री अशोक आर्य तथा श्री वेदमित्र आर्य। दोनों ही सुयोग्य, एवं उच्च पदों पर कार्यरत होने के साथ-साथ धर्म एवं समाज की सेवा में संलग्न। श्री सुरेशचन्द्र आर्य ने राजकीय सेवा की अवधि के पूरा होने से पौने दो वर्ष पूर्व त्यागपत्र देकर अपना सब समय आर्यसमाज के कार्य के लिए आर्य वीर दल एवं योग साधना शिविरों के आयोजन में लगाना प्रारम्भ किया। वे आर्यसमाज के कर्मठ एवं समर्पित कार्यकर्ता हैं। अपने पिता की स्मृति में श्री भगवानदास परोपकारी ट्रस्ट की स्थापना, जिससे आर्यसमाज के कार्यों को निरन्तर सहायता प्रदान की जाती है। □

प्रतिष्ठित-सदस्य

स्वर्गीय श्री खुशवन्तराय

श्रीमती कमलाजी आर्या

श्री खुशवन्तराय छिब्बर का जन्म लुधियाना (पंजाब) के एक सम्भ्रान्त परिवार में २४ दिसम्बर, १९१८ को हुआ था। पिता श्री मेजर केशवराय जी छिब्बर तथा माता श्रीमती भागवन्तीजी दोनों शान्त, धार्मिक एवं सात्विक स्वभाव के व्यक्ति थे। खुशवन्तरायजी की शिक्षा लुधियाना के गवर्नमेन्ट कालिज तथा लाहौर के गवर्नमेन्ट कालिज में हुई। बी०ए० तक शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने लुधियाना में ही अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। १९ जनवरी, १९३७ को उनका विवाह श्रीमती कमलाजी से हुआ। उनका दाम्पत्य जीवन बहुत सुखी था। उनकी कोई सन्तान नहीं हुई, पर इससे उन्होंने कभी दुःख अनुभव नहीं किया। वे सभी बच्चों को अपनी सन्तान मानते थे और दीन-दुखियों की सेवा करने में सदा तत्पर रहते थे। ११ जनवरी, १९६१ को हृदय गति के रुक जाने से अकस्मात् उनका निधन हो गया।

श्रीमती कमलाजी का जन्म कसौली (हिमाचल प्रदेश) में एक धार्मिक व प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पिता श्री डा० नन्दलालजी कसौली के सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीटयूट में एक जाने-माने डाक्टर थे, और माता श्रीमती देवकी देवी जी धार्मिक वृत्ति की महिला थीं। धर्म से प्रेम तथा समाज की सेवा भावना कमलाजी ने अपने माता-पिता से प्राप्त की है। उनका जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए समर्पित है। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की वे महामन्त्री हैं, और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् एवं विद्या सभा की सदस्य हैं। अनेक आर्य संस्थाओं के संचालन व व्यवस्था में उनका सक्रिय योगदान है। वे श्री गुरु विरजानन्द स्मारक ट्रस्ट करतारपुर की उपप्रधान, स्त्री आर्यसमाज श्रद्धानन्द बाजार लुधियाना की प्रधान, प्रान्तीय महिला आर्य सभा पंजाब व हिमाचल प्रदेश की प्रधान, दयानन्द माडल स्कूल लुधियाना की प्रधान और अन्य भी कितनी ही आर्य शिक्षण-संस्थाओं की पदाधिकारी हैं। जिन आर्य महिलाओं ने अपना तन-मन-धन वैदिक धर्म के प्रचार व आर्यसमाज की सेवा के लिए अर्पित किया हुआ है, कमलाजी का उनमें मूर्धन्य स्थान है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

रायसाहिब चौधरी प्रतापसिंह जी

९ जनवरी १९०४ को शुजाबाद (जिला मुलतान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। शुरु से ही सार्वजनिक जीवन तथा आर्य-समाज के कार्यों में रुचि। दस साल के लगभग शुजाबाद की नगरपालिका के सदस्य रहे और छह साल प्रधान। १९२७ से १९४७ तक मुलतान डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य। भारत के विभाजन के पश्चात् करनाल (हरयाणा) में आ गये, और वहाँ रहकर वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हो गये। धन द्वारा भी वह देश तथा धर्म की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं। इसी प्रयोजन से करनाल में रा०सा० चौधरी प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास तथा रा० ब० चौधरी नारायणसिंह न्यास की स्थापना। करनाल में प्रताप पब्लिक लायब्रेरी तथा प्रताप पब्लिक स्कूल की स्थापना। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, हरयाणा के प्रधान; परोपकारिणी सभा अजमेर के ट्रस्टी तथा अनेक सार्वजनिक आर्य संस्थाओं के पदाधिकारी। विद्वानो के सम्मान और वेद संबंधी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने में सदा तत्पर।

श्री कृष्णलालजी आर्य

एबटाबाद (पाकिस्तान) में सन् १९१८ में जन्म। शिक्षा एम० ए०, बी० कॉम०, कॉस्ट एकाउण्टेण्ट। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। भारत के विभाजन के बाद आर्यसमाज, लोदी रोड, नयी दिल्ली में महत्वपूर्ण कार्य। १९५९-६० में नया नांगल (पंजाब) में रहे और वहाँ के भव्य आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण में विशेष भूमिका अदा की। सन् १९६२-६६ ई० में विशाखापटनम (आन्ध्र) में हिन्दुस्तान शिपयार्ड के वित्तीय सलाहकार रहे, और वहाँ एक विशाल आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराया। १९६६-६९ में कामरूप (असम) रहे, और वहां भी समाज-मन्दिर का निर्माण कराया। १९७६-७७ में ट्रिपोली (लिबिया-अफ्रीका) रहे, और वहाँ भारतीयों में आर्य-समाज के सत्संगों का प्रारम्भ किया। १९७८-८१ में निजामुद्दीन (नयी दिल्ली) आर्यसमाज के मंत्री, और सम्प्रति आर्य प्रतिनिधि सभा, हिमाचल प्रदेश के महामंत्री। श्री आर्यजी का संकल्प है, कि शेष सारा जीवन हिमाचल प्रदेश में आर्यसमाज के विस्तार के लिए समर्पित कर दिया जाये।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री अलगूरामजी वर्मा

सुलतानपुर (उत्तर प्रदेश) जिले के कैथी जलालपुर गांव में २६ सितम्बर १६२५ ई० को श्री अलगूराम वर्मा का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम श्री भगवतीदीन वर्मा और माता का नाम श्रीमती रुक्मणी देवी था। इण्टरमीडियेट तक की शिक्षा प्राप्त कर वह कलकत्ता चले गये, और अपने चचेरे भाई श्री हलकम्पीराम वर्मा की सहायता से उन्होंने वहां लोहे का व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। इसमें उन्होंने बहुत उन्नति की, और शीघ्र ही उनकी गिनती कलकत्ता के लोहे के प्रतिष्ठित व्यापारियों में की जाने लगी। कलकत्ता रहते हुए श्री अलगूराम श्री सीताराम आर्य के सम्पर्क में आये, और आर्यसमाज के सत्संगों में सम्मिलित होने लगे। वहां पण्डित रमाकान्त शास्त्री के उपदेशों से प्रभावित होकर वह आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य बन गये, और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। सन् १६७६ में उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा की, और १६७८ में वह नैरोबी के तथा सन् १६८० में लण्डन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों में सम्मिलित हुए। इन अवसरों पर यूरोप और अफ्रीका आदि के विविध देशों का परिभ्रमण करते हुए उन्होंने उनमें वैदिक धर्म का प्रचार भी किया।

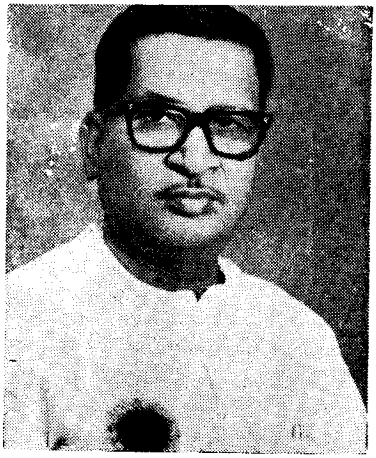

श्री सीतारामजी आर्य

श्री सीताराम का जन्म फैजाबाद जिले के फूलपुर ग्राम (टाण्डा) में सन् १६२२ में हुआ था। उनका परिवार कट्टर पौराणिक था, और ग्राम का वातावरण अत्यन्त दूषित था। पर वहां रहते हुए सीतारामजी टाण्डा आर्यसमाज के सम्पर्क में आते रहते थे, और वहां के पवित्र विचारों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ता था। पन्द्रह वर्ष की आयु में वह कलकत्ता गये और वहां आर्थिक संघर्ष में लग गये। इसमें उन्हें समुचित सफलता प्राप्त हुई, और व्यापार-व्यवसाय में उन्होंने अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर लिया। कलकत्ता में रहते हुए वह आर्यसमाज के निकट सम्पर्क में आये, जिसके कारण उनके जीवन में महान् परिवर्तन हुआ। व्यापार के साथ-साथ समाज तथा देश की उन्नति के लिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न में तत्पर हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में निष्ठा के साथ भाग लेने लगे। उनका पूरा परिवार वैदिक विचारधारा से ओत-प्रोत है, और सीतारामजी ने अपना सर्वस्व आर्यसमाज के लिए समर्पित किया हुआ है। सन् १६६१ में उन्होंने अपने ग्राम में रामनारायण हाई-स्कूल की स्थापना की थी, और अनेक शिक्षण-संस्थाओं का वह संचालन कर रहे हैं। चिरकाल तक वह कलकत्ता आर्यसमाज के प्रधान रहे हैं।

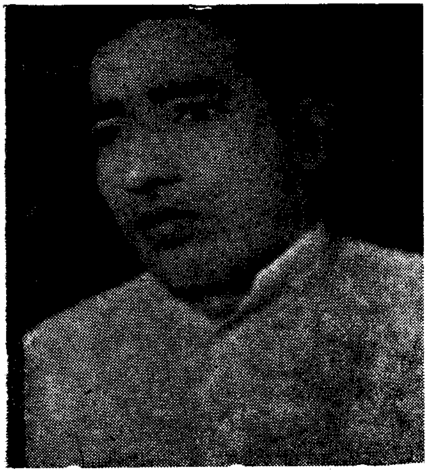

श्री यशपालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य

श्री यशपालजी का जन्म ५ दिसम्बर सन् १९४९ को ग्राम हुमायूंपुर (रोहतक) के एक प्रतिष्ठित किसान परिवार में हुआ था। आर्यसमाज में अगाध आस्था होने के कारण उनके पिता श्री भगत दरयावसिंहजी ने शिक्षा के लिए अपने पुत्र को गुरुकुल झज्जर (हरयाणा) में प्रविष्ट कराया, जहां ब्रह्मचर्य-पूर्वक तपस्या का जीवन बिताते हुए उन्होंने वेद-वेदांगों का अध्ययन किया और व्याकरणाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपनी शिक्षा को उन्होंने बाद में भी जारी रखा, और पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' तथा आयुर्वेद विद्यापीठ दिल्ली से 'आयुर्वेद-विशारद' की डिग्रियां प्राप्त कीं। दो वर्ष उन्होंने गुरुकुल झज्जर में अध्यापन का कार्य किया, और फिर गुरुकुल ततारपुर (गाजियाबाद) के आचार्य रहे। बाद में वह आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता के पदों पर नियुक्त होकर गुरुकुल मटिण्डू चले गये, और सन् १९७५ में उन्होंने कन्या गुरुकुल खरखोदा (सोनीपत) की स्थापना की। वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की विद्यापरिषद तथा गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य रह चुके हैं। गौरक्षा आन्दोलन में वह जेल भी गये थे। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, प्रभावशाली वक्ता हैं, और उनका जीवन आर्य आदर्शों के अनुरूप है।

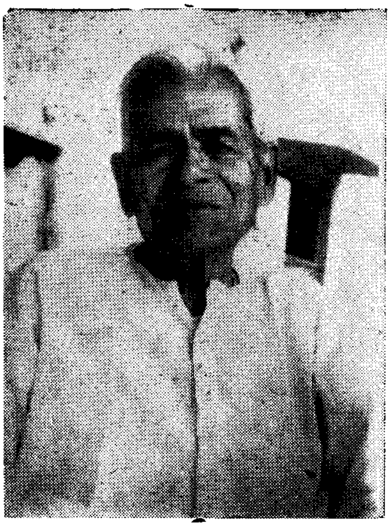

श्री बख्तावरलालजी

अब से लगभग ९० वर्ष पूर्व सन् १८९५ में हापुड़ (उत्तर प्रदेश) के एक प्रतिष्ठित पौराणिक परिवार में श्री बख्तावरलाल का जन्म हुआ था। सनातनी वातावरण में पालन-पोषण होते हुए भी वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से प्रभावित हुए, और उनका सारा परिवार आर्यसमाजी बन गया। हापुड़ के प्रमुख आर्य परिवारों में उनके परिवार की गणना की जाती है। वह कई वर्षों तक हापुड़ आर्यसमाज के प्रधान रहे, और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। अनेक प्रमुख आर्य शिक्षण-संस्थाओं की उन्होंने स्थापना की, और तन-मन-धन से उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न किया। धर्म, शिक्षा और समाज-सेवा के कार्यों में वह मुक्त हस्त से दान दिया करते थे। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में भी उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। सन् १९३० से १९४२ तक के काल में उन्होंने चार बार लम्बी-लम्बी अवधि के लिए जेल यात्रा की, और इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि इसके कारण उनके परिवार तथा व्यापार को कितनी क्षति उठानी पड़ रही है। उनकी धर्मपत्नी भी सच्चे अर्थों में उनकी सहधर्मिणी थीं। वह भी अनेक वर्षों तक हापुड़ की स्त्री-आर्यसमाज की प्रधान रही थीं। ४ फरवरी १९८३ को श्री बख्तावरलालजी दिवंगत हुए।

प्रतिष्ठित-सदस्य

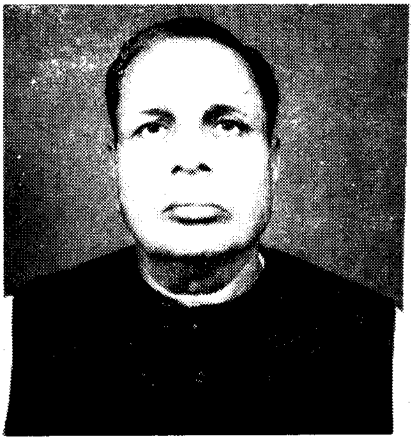

श्री पूनमचन्दजी आर्य और श्रीमती मेवादेवीजी आर्या

श्री पूनमचन्द आर्य का जन्म २१ जुलाई सन् १६२१ को भिवानी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित व सम्पन्न परिवार में हुआ था। बचपन से ही उनके विचार पवित्र थे और उनका पालन-पोषण धार्मिक व सदाचारमय वातावरण में हुआ था। इसी कारण छोटी आयु में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लग गये थे। सन् १६३४ में अपनी शिक्षा को अधूरा छोड़कर व्यापार के लिए वह भावनगर (काठियावाड़) चले गये, और सन् १६३७ में कलकत्ता आ गये। वहां उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की और शीघ्र ही एक सम्पन्न व्यापारी बन गये। वर्षों तक वह कलकत्ता आर्यसमाज के मंत्री, उपप्रधान और प्रधान रहे। परोपकारिणी सभा के वह उपप्रधान हैं, और महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी महोत्सव की सफलता के लिए उन्होंने दिन-रात एक करके घोर परिश्रम किया। वह आर्य-समाज के कार्यकलाप के लिए धन जुटाने में विशेष उत्साह प्रदर्शित करते हैं। उनके सत्प्रयत्न से कलकत्ता और बम्बई के कितने ही सम्पन्न लोगों ने धर्म और समाज के कार्यों के लिए दान की प्रेरणा प्राप्त की है। श्री पूनमचन्दजी का आदर्श आर्य-जीवन है, धर्मपत्नी के वियोग के पश्चात् जो आर्यसमाज के प्रति और भी अधिक प्रखर रूप से समर्पित हो गया है।

मेवादेवीजी का जन्म सन् १६२३ में ग्राम बढ़वा (जिला भिवानी, हरयाणा) के एक सम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता दार्जिलिंग में कपड़े के प्रतिष्ठित व्यापारी थे। मेवादेवीजी का पालन-पोषण सदाचार और धर्म के वातावरण में हुआ, जिसका उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। १६३७ में श्री पूनमचन्द आर्य से उनका विवाह हुआ। विवाह के समय मेवादेवीजी पौराणिक विचारों की थीं, पर विवाह के बाद वह पति के रंग में रंगती गयीं, और शीघ्र ही आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित हो गयीं। उन्होंने वैदिक साहित्य का अध्ययन किया, और समाज के सत्संगों में नियमित रूप से सम्मिलित होने लगीं। वह अत्यन्त सरल व धार्मिक प्रकृति की आर्य महिला थीं, और अपने परिवार तथा समाज के प्रति कर्त्तव्यों के पालन में सदा तत्पर रहती थीं। उनमें धैर्य, उदारता, दानशीलता, गम्भीरता, दूरदर्शिता, मिष्टभाषिता आदि सब गुण विद्यमान थे।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री जवाहरलालजी आर्य

श्रीमती दुर्गादेवीजी आर्य

हरयाणा के देवराला ग्राम के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में सन् १६२४ में श्री जवाहरलालजी का जन्म हुआ था। उनके परिवार के सब सदस्य, विशेषतया उनके दोनों बड़े भाई, महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते थे। बचपन से ही श्री जवाहरलाल को आर्यसमाज के वातावरण में पलने और बड़ा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसके कारण वैदिक धर्म में उनकी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती गयी। देवराला, भिवानी तथा पिलानी में शिक्षा प्राप्त कर वह व्यवसाय-व्यापार के लिए पश्चिमी बंगाल चले गये, और सिलीगुड़ी तथा कलकत्ता में किराना एवं चाय के व्यवसाय में उन्होंने बहुत उन्नति की। सिलीगुड़ी आर्यसमाज की स्थापना में उनका विशेष योगदान था, और कोषाध्यक्ष, लेखा-निरीक्षक तथा प्रधान आदि पदों पर रहकर वह उस आर्यसमाज की उन्नति में निरन्तर प्रयत्नशील रहे। वर्तमान समय में भी वह सिलीगुड़ी आर्यसमाज के प्रधान हैं। आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने तथा निर्धन छात्रों को मासिक वृत्तियां प्रदान करने में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनके घर में प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होता है, और उनका जीवन आर्य मान्यताओं के अनुरूप धार्मिक एवं सदाचारमय है। महर्षि दीक्षा शताब्दी मथुरा (१६६०), आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली (१६७५) और आर्य महासम्मेलन कलकत्ता आदि समारोहों में उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते रहे हैं।

उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गादेवीजी अपने पतिदेव के समान ही वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति अगाध आस्था रखती हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके परिवार का वातावरण पूर्णतया धार्मिक बना हुआ है।

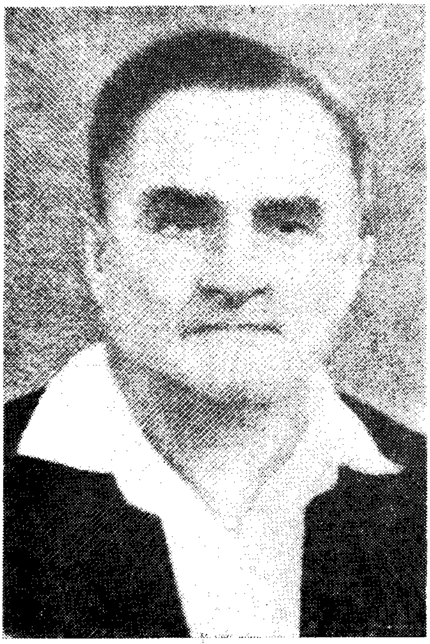

श्री देवनाथजी विद्यालंकार

१५ जुलाई १९०८ ई० को रादेर (सूरत. गुजरात) में जन्म । पिता श्री नरोत्तम भाई माधव भाई पटेल की वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था । गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३० में स्नातक हुए, और विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की । दो वर्ष तक आचार्य देवशर्माजी के व्यक्तिगत सचिव रहे, और फिर गुरुकुल की सेवा में अध्यापक (१९३२-४७) । १९४८ में नैरोबी (ईस्ट अफ्रीका) चले गये, और १९७६ तक वहां अध्यापन का कार्य किया । श्री देवनाथ के सुपुत्रों ने व्यापार-व्यवसाय में बहुत सफलता प्राप्त की है, और अमेरिका तथा ब्रिटेन उनके व्यापार के क्षेत्र हैं । श्री देवनाथ भी उन्हीं के साथ निवास कर रहे हैं, और अमेरिका तथा लण्डन में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेते रहते हैं । वह अत्यन्त सहृदय आर्य सज्जन हैं, और उनका जीवन वेद की शिक्षाओं के अनुसार है । उनका सारा परिवार ही आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेता रहता है ।

श्री नवनतीलालजी आर्य

१ सितम्बर, सन् १९११ के दिन सिन्ध नदी के तट पर स्थित ईसाखेल में जन्म । स्कूल और कॉलिज की शिक्षा पूरी कर सन् १९३४ में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की । उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के शिक्षा विभाग के उच्च पदाधिकारी श्री आत्मप्रकाशजी की सुपुत्री श्रीमती सत्यप्रिया देवी के साथ सन् १९३५ में विवाह । कुछ वर्ष लाहौर में वकालत की । फिर सन् १९३९ से भारत के सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) में वकालत कर रहे हैं और दिल्ली के अत्यन्त सफल व प्रसिद्ध वकील हैं । बचपन से आर्यसमाज में विशेष रुचि है । उनके फूफा श्री जसारामजी दृढ़ आर्यसमाजी थे । उन्हीं की प्रेरणा से वैदिक धर्म के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न हुई, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे । अनेक आर्य संस्थाओं तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय सदृश शिक्षणालयों के साथ पदाधिकारी के रूप में सम्बद्ध तथा उनकी गतिविधि के निदेशन में तत्पर । अत्यंत सरल, मृदु स्वभाव के आर्य सज्जन हैं ।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री लाला नागरमल गुप्ता

लाला नागरमल गुप्ता का जन्म सितंबर, १८९६ में जिला गुड़गांवां (हरयाणा) के अन्यतम गांव डांसना में हुआ था। वह अपने पिता श्री हरदयालसिंह के कनिष्ठ पुत्र थे। श्री नागरमल का विवाह लाला मुसद्दीलाल (सर शादीलाल, चीफ जस्टिस, हाईकोर्ट पंजाब के चचेरे भाई) की कन्या से हुआ था। लाला मुसद्दीलाल कर्मठ आर्यसमाजी थे। उनके प्रभाव से श्री नागरमल ने भी आर्यसमाज की गतिविधि में उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारम्भ किया, और श्री करमचन्द गुप्ता तथा लाला श्रीचन्द वैद्य के सहयोग से गुड़गांवां आर्यसमाज में नव-जीवन का संचार कर दिया। अनेक वर्षों तक यह गुड़गांवां में वकील रहे, और अपनी सब शक्ति आर्यसमाज के कार्य में लगाते रहे। चिरकाल तक गुड़गांवां आर्यसमाज के प्रधान रहकर उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को आगे बढ़ाया। सन् १९६० में उनकी मृत्यु हुई। श्री नागरमल का परिवार बहुत सम्पन्न व प्रतिष्ठित है। उनके दो पुत्र कलकत्ता में कैमिकल फैक्टरी चला रहे हैं, और उनके एक स्वर्गीय पुत्र की सन्तान द्वारा राजस्थान तथा दिल्ली में दवाइयों की फैक्टरी चलायी जा रही है।

श्री मुन्नीलालजी आर्य

पंजाब के ऐतिहासिक बलिदानी नगर सरहिन्द के विख्यात सर्वस्वदानी टोडरमल के मोहल्ले के निवासी लाला शिब्बूमलजी के कट्टर पौराणिक परिवार में लाला सुलेखचन्द के यहां सन् १८९४ में जन्म। विलक्षण प्रतिभासम्पन्न एवं पूर्वजन्म के संस्कारों से अभिषिक्त।

पं० रामचन्द्र देहलवी तथा पं० शान्तिप्रकाश आदि आर्य नेताओं के निकट सम्पर्क से आर्यसमाज में दीक्षित होकर परम्परा से विद्रोह तथा सपरिवार गृहत्याग। परिणामत: अनुज नौरातारामम और बनारसीदास द्वारा अनुकरण तथा सरहिन्द में आर्यसमाज की स्थापना।

सम्पूर्ण सन्तति पर आर्यसमाज की अमिट छाप। उनके पुत्र डॉ० विश्वबन्धु 'व्यथित' (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी०ए०वी०कॉलिज, अबोहर) आर्यसमाज के यशस्वी लेखक, वक्ता, कार्यकर्त्ता तथा रससिद्ध कवि हैं। अन्य सुपुत्र श्री सत्यप्रकाश, श्री देशबन्धु व श्री नरेन्द्रकुमार तथा सुपुत्री श्रीमती सुशीलादेवी क्रमश: सरहिन्द, भटिण्डा, खन्ना तथा नयी दिल्ली में कार्यरत होकर आर्यसमाज को गति प्रदान करने में संलग्न हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

स्वर्गीय श्री गोविन्दरामजी आर्य

स्वर्गीय श्रीमती मेवादेवीजी आर्य

हरयाणा के देवराला ग्राम में सावन सुदी ६, सम्वत् १९६३ (सन् १९०६) के दिन एक पौराणिक अग्रवाल परिवार में श्री गोविन्दराम का जन्म हुआ था। आर्यसमाज के उपदेशक तथा कुशल वैद्य पण्डित दीनानाथजी के सम्पर्क में आने पर उनके विचारों में परिवर्तन हुआ, और सुदृढ़ आर्यसमाजी बन गये। अपने गाँव में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की और आर्य प्रचारकों को निमन्त्रित कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इस पर कट्टर पौराणिकों के प्रभाव के कारण उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, और उनके पारिवारिक-जन भी उनका विरोध करने लगे। पर उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की। उनके प्रयत्न से गांव के बहुत से परिवार आर्यसमाजी बन गये, जिससे उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। उन्होंने गाँव में एक हाईस्कूल तथा एक आर्य कन्या पाठशाला खुलवायी, जहां प्रतिदिन संध्या-हवन होने लगा और गाँव की स्त्रियां भी उसमें सम्मिलित होने लगीं। शीघ्र ही उनका सारा परिवार आर्यसमाजी बन गया, और सारे इलाके में वैदिक धर्म की धूम मच गयी। श्री गोविन्दरामजी हिन्दी रक्षा आन्दोलन और गौरक्षा आन्दोलन में जेल भी गये। उन्होंने बहुत-सी विधवाओं का उद्धार किया है, और अपने पुत्र जयदेव तथा पौत्र देशबन्धु का विवाह भी बाल-विधवाओं से सम्पन्न कर समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया है। परदा, दहेज आदि कुरीतियों के वह घोर विरोधी हैं। गोविन्दरामजी का सम्पूर्ण जीवन आर्यसमाज के लिए समर्पित है।

श्री गोविन्दरामजी आर्य की धर्मपत्नी मेवादेवीजी का जन्म भी हरयाणा के ग्राम लालावास में हुआ था। अपने पति के सम्पर्क से उन पर भी आर्यससाज का प्रभाव पड़ा, और वह भी प्रतिदिन गायत्री मन्त्र का जाप करने लगीं। वह अत्यन्त मिलनसार, सहृदय, चतुर गृहिणी हैं और आदर्श आर्य महिला हैं। अतिथियों की सेवा में वह सदा तत्पर रहती हैं। घर की सब व्यवस्था उन्होंने सुचारु रूप से की हुई है, जिसके कारण श्री गोविन्दरामजी घर से निश्चिन्त होकर अपना सब समय समाज-सेवा में लगा सकते हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

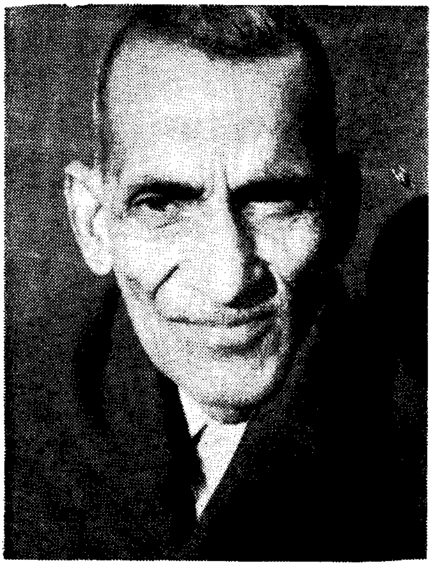

श्री पण्डित शशिभूषणजी विद्यालंकार

गुरुकुल कांगड़ी तथा कुरुक्षेत्र की स्थापना में स्वामी श्रद्धानन्दजी के निकट सहयोगी श्री गोपीनाथजी गुप्त, सिविल इन्जीनियर, के सुपुत्र। जन्म १० मार्च १८९४; स्थान कौल (कुरुक्षेत्र)। सन् १९१७ में गुरुकुल काँगड़ी की स्नातक परीक्षा तथा पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की शास्त्री परीक्षा में सवप्रथम; वैदिक और जैन साहित्य के प्रखर तलस्पर्शी पण्डित। गुरुकुल काँगड़ी तथा कुरुक्षेत्र में अल्पकालिक मुख्याधिष्ठाता सेवा कार्य, अम्बाला जैन कालेज में संस्कृत के अध्यापक, आर्यसमाज के मंत्री एवं पुरोहित के रूप में दीर्घकालिक सेवा। पत्नी—श्रीमती पार्वती देवी स्नातिका, कन्या महाविद्यालय जालंधर (बहिन प्रो० रामसिंहजी एवं पं० हरिश्चन्द्रजी विद्यालंकार)। दामाद—पं० धर्मराज वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी में संस्कृ व्याकरण के उपाध्याय। पुत्र—१. श्री पुरुषोत्तम आर्य, २. श्री ज्ञानचन्द्र आर्य, चीफ इन्जीनियर म०प्र० विद्युत परिमंडल जबलपुर, ३. डॉ० ओम्प्रकाश वेदालंकार, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी-संस्कृत विभाग, राजकीय कालेज, भरतपुर (राज०)। पुत्री—श्रीमती चन्द्रकला।

निधन—२ अक्तूबर, १९६६।

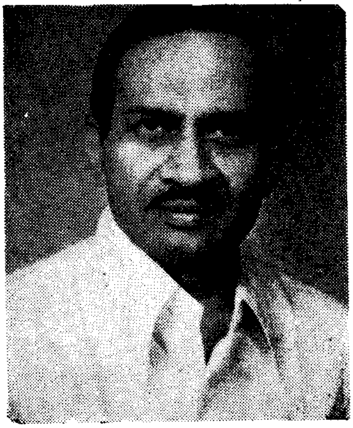

श्री रामसरन राधावल्लभजी अग्रवाल

श्री रामसरन राधावल्लभ अग्रवाल का जन्म सन् १९२९ में गोवर्धन (जिला मथुरा) में हुआ था। उन्होंने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में व्यापार प्रारम्भ किया, और शीघ्र ही वहाँ के प्रतिष्ठित व्यापारियों व धनपतियों में उन्होंने स्थान प्राप्त कर लिया। उनका अलौह धातुओं (नान-फैरस मैटल्स) का कारोबार है, और वह बोम्बे नान-फैरस टल्स एण्ड स्क्रैप मर्चेन्टस एसोसियेशन के वाइस-प्रेजिडेंट हैं। बोम्बे मैटल एक्सचेन्ज लिमिटेड के वह निदेशक (डाइरैक्टर) भी रह चुके हैं। बम्बई के सार्वजनिक जीवन में उन्हें इतना सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है कि सन् १९८०-८२ में वह उस महानगरी के विशेष कार्यकारी दण्डाधिकारी रहे। सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों (सामाजिक, धार्मिक और साँस्कृतिक) में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। बम्बई हिन्दी विद्यापीठ और अग्रसेन शिक्षा एवं सहायता ट्रस्ट सदृश महत्वपूर्ण संस्थाओं के वह ट्रस्टी हैं, और अग्रवाल सेवा समाज, बम्बई के मंत्री हैं। वैदिक धर्म की उदात्त शिक्षाओं के प्रति उनकी आस्था है, और उनका जीवन धार्मिक तथा सदाचारमय है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री जमनाप्रसादजी

श्री वेदप्रकाशजी

श्री जमनाप्रसाद का जन्म १४ फरवरी सन् १६१५ को हाजीपुर, जिला वैशाली (बिहार) के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री नन्दनप्रसाद धार्मिक प्रकृति के सज्जन थे, और समाजसेवा के कार्यों में रुचि रखते थे। श्री जमनाप्रसाद किशोर आयु में ही आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं, और उसके कार्यकलाप में उत्साह व लगन के साथ भाग लेते हैं। श्री वेदप्रकाश उनके सुपुत्र हैं, और अपने पिता के समान ही उनकी वैदिक धर्म में पूर्ण आस्था है। आर्यसमाज के लिए इन दोनों पिता-पुत्र में अनुपम उत्साह है। इसलिए वे सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन (१६८०) में बिहार आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे, और अन्यत्र भी आर्यसमाज के विशाल समारोहों में भाग लेते रहते हैं।

श्री दुर्गाप्रसाद आर्य

२० जुलाई, १६२२ को दुमका (बिहार) में जन्म। वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह के साथ संलग्न। दुमका आर्यसमाज के मन्त्री तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती प्राथमिक शिक्षा विद्यालय, आर्य शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालय, डी. ए. वी. पब्लिक स्कूल आदि दुमका की अनेक शिक्षण-संस्थाओं के संचलित में सक्रिय सहयोग। शिक्षा के क्षेत्र में विशम अभिरुचि।

प्रतिष्ठित-सदस्य

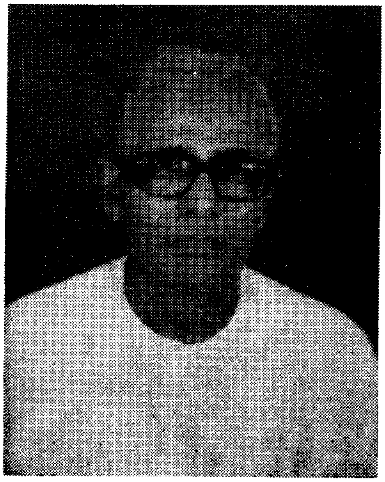

श्री रुलियारामजी गुप्त

श्री रुलियाराम गुप्त का जन्म सन् १६१५ में खरक कलाँ (हरयाणा) में श्री सांवलदासजी के घर हुआ था। वैश्य हाई-स्कूल रोहतक में शिक्षा प्राप्त कर वह कलकत्ता आ गये, और वहां कागज तथा मुद्रण के व्यवसाय में उन्होंने बहुत उन्नति की। वह कलकत्ता पेपर ट्रेडर्स एसोसिएशन और हरयाणा चैरीटेबल सोसायटी के सदस्य हैं, और मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के वित्त-मन्त्री रह चुके हैं। खरक कलाँ में अपने पिताजी की स्मृति में उन्होंने 'सांवलदास समाज कल्याण केन्द्र' की स्थापना की है। गत ५० वर्ष से वह कलकत्ता आर्यसमाज के सदस्य हैं, और अब उसके प्रधान हैं। वह अत्यन्त श्रद्धालु तथा धर्मपरायण सज्जन हैं। आर्यसमाज के लिए उनमें बहुत उत्साह है और पूर्ण आस्था से वह उसके कार्यकलाप में लगे रहते हैं।

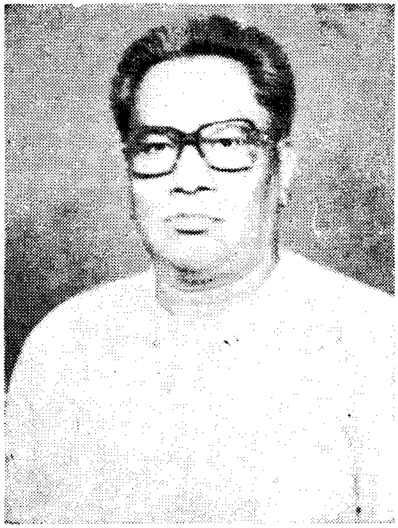

श्री रामकुमारजी गुप्त

श्री रामकुमार गुप्त का जन्म श्रावण सुदी ४, विक्रमी संवत् १६८८ (सन् १६३१) को जिला भिवानी के मित्ताथल ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री नेकीराम अग्रवाल अपने क्षेत्र के एक प्रतिष्ठित व्यापारी थे। किशोरावस्था में ही व्यापार में संलग्न हो जाने के कारण उनकी शिक्षा सामान्य ही हो पायी। पर विद्यार्थी जीवन में ही वह वैदिक धर्म की शिक्षाओं के सम्पर्क में आये, और उनका रुझान आर्यसमाज की ओर हो गया। विवाह के पश्चात् सन् १६४८ में वह कलकत्ता आ गये, और वहां कागज का स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ता में उन्होंने स्वाध्याय पर बहुत ध्यान दिया, और आर्यसमाज का बड़ा बाजार तथा आर्य वीर दल के सदस्य रूप में आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। गुप्तजी महर्षि दयानन्द सरस्वती के परम भक्त हैं। आर्यसमाज के मन्तव्यों पर उनकी अगाध आस्था है, और उनके अनुसार आचरण करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहते हैं। उनका यह भी यत्न रहता है, कि महर्षि के मिशन को पूरा करने में दूसरों का सहयोग भी निरंतर प्राप्त करते रहें।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री इन्द्रमोहनजी मेहता

श्री मेहता आगरा के प्रतिष्ठित उद्योगपति तथा कुशल इन्जीनियर हैं। वह अमेरिकन सोसायटी ऑफ मैकेनिकल इन्जीनियर्स के सदस्य और अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इलैक्ट्रिकल इन्जीनियर्स के एसोसियेट सदस्य रहे हैं। पिस्टन, रिम तथा डीजल इंजन पार्ट्स की इण्डस्ट्री का उन्होंने आगरा में सूत्रपात किया और भारत में इलैक्ट्रिक लैम्प इण्डस्ट्री के विकास में उनका महत्वपूर्ण कर्तृत्व रहा है। वैदिक धर्म के प्रति श्री मेहता जी की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज व उसकी विविध संस्थाओं की व्यवस्था तथा संचालन में वह सदा तत्पर रहते हैं। आर्यसमाज नामनेर के प्रधान, आगरा जिला आर्यसमाज शताब्दी समारोह के स्वागताध्यक्ष और आर्यसमाज बाढ़पीड़ित सहायता समिति के अध्यक्ष के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार तथा जनसेवा में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वे अनेक आर्य महासम्मेलनों और मारीशस सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित हो चुके हैं। आगरा के प्रसिद्ध आर्य संगठन 'आर्य परिवार' के वह संस्थापक-अध्यक्ष हैं।

डाक्टर सत्यपालजी नागरथ

पश्चिमी पंजाब (अब पाकिस्तान में) के एक सुप्रतिष्ठित आर्य परिवार में १४ जून १९१५ को श्री नागरथ का जन्म हुआ था। लाहौर के फोरमन क्रिश्चियन कॉलिज और के० ई० मेडिकल कॉलिज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद चिकित्सा की उच्चतम शिक्षा के लिए वह इंग्लैण्ड और अमेरिका गये। १९४२-४६ ई० में सेना में सर्विस। भारत के विभाजन के पश्चात् उत्तर प्रदेश की सरकारी मेडिकल सर्विस स्वीकार कर ली, और आगरा के एस० एन० मेडिकल कॉलिज में प्रोफेसर हो गये। छाती के रोगों, विशेषतया राजयक्ष्मा की चिकित्सा के विख्यात विशेषज्ञ हैं। १९७४ में सरकारी सर्विस से अवकाश प्राप्त कर आगरा में ही चिकित्सा-कार्य में रत हैं। अमेरिकन कॉलिज आफ चेस्ट फिजीशियन्स, इण्टरनेशनल यूनियन अगेन्स्ट ट्यूबरक्लोसिस, और कैन्सर फाउण्डेशन, नयी दिल्ली आदि कितनी ही अन्तर्राष्ट्रीय व भारतीय मेडिकल सोसायटियों के वह सदस्य हैं। समाजसेवा में उनकी विशेष रुचि, और वैदिक धर्म के प्रति अगाध आस्था है। आर्यसमाज के कार्यों में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

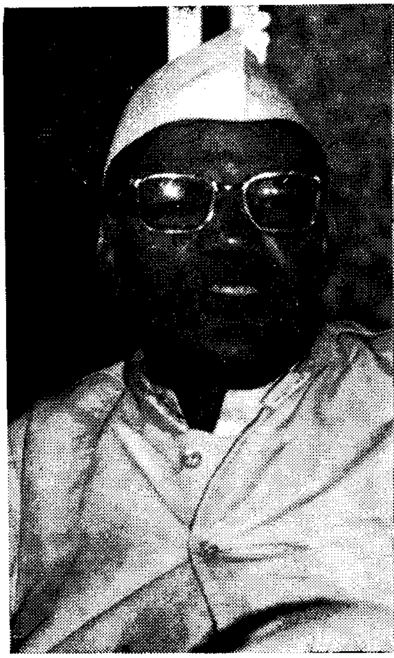

श्री राधेलालजी अग्रवाल **श्रीमती प्रेमवतीजी अग्रवाल**

श्री राधेलालजी अग्रवाल की गिनती ऐसे इने-गिने व्यक्तियों में है, जो बम्बई जैसी महानगरी के एक अत्यन्त सफल व सम्पन्न व्यवसायी होते हुए भी ग्रामीण क्षेत्र के जन-साधारण के लिए अपनी सेवाएँ देने को सदा उद्यत रहते हैं। मूलतः वह मण्डी धनौरा (जिला मुरादाबाद, उत्तरप्रदेश) के निवासी हैं और वहां की स्थानीय स्वशासन-संस्था के १८ वर्ष तक चेयरमैन रहे हैं। मण्डी धनौरा के राष्ट्रीय इन्टर कॉलिज की स्थापना श्री राधेलालजी द्वारा ही की गई थी। सन् १९३५ में वह बम्बई चले गये और वहाँ अपने चाचा श्री पूरनमलजी के व्यवसाय में सहयोग देने लगे। श्री पूरनमलजी ने सन् १९२० में 'पूरनमल दिल्लीवाला' के नाम से मिष्ठान्न की दुकान प्रारम्भ की थी, जो इस समय शुद्धता तथा विश्वसनीयता के लिए बम्बई में सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्री राधेलालजी के प्रयत्न से इस व्यवसाय ने बहुत उन्नति की। महाराष्ट्र के राज्यपाल महोदय ने इस प्रतिष्ठान को राजभवन में मिष्ठान्न-पूर्ति के लिए 'अपाइन्टमेण्ट' देकर सम्मानित किया और इसके उत्पादन सिंगापुर, मस्कत, दुबई और विदेशों में भी निर्यात किए जाने लगे।

श्री राधेलालजी बम्बई की सामाजिक व धार्मिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। पिछले १६ वर्षों से जे० पी० और अब एस० ई० एम० की उपाधि उन्हें महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रदान की गई है। आर्यसमाज के साथ श्री राधेलालजी तथा उनके परिवार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्यसमाज की सब गतिविधियों तथा कार्यकलाप में श्री राधेलालजी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं तथा तन, मन, धन द्वारा उसकी सहायता के लिए उद्यत रहते हैं। श्रीमती प्रेमवतीजी आदर्श आर्य महिला हैं, जो सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी हैं। उनके सुयोग्य पुत्र श्री विजयकुमार, श्री अजयकुमार एवं श्री संजयकुमार जहां अपने व्यवसाय में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं, वहां साथ ही अपने परिवार की परम्परा के अनुरूप धर्म, समाज तथा देश-सेवा के कार्यों में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

श्रीमती यमुनादेवीजी

(ग्राम दगडौली (सहारनपुर) वासी श्री रणजित मुनि, योगधाम, ज्वालापुर की माता जी)

सन् १८९२ की शिवरात्रि के दिन केलकीकलां गांव (जिला सहारनपुर) में श्री शिवसिंह के घर जन्म। उनके पिता परम धार्मिक एवं श्रद्धालु थे। सन् १९०८ में यमुनादेवी का विवाह बाबू रामसिंहजी के साथ हुआ, जिनके पिता श्री दलीपसिंहजी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के दर्शन किये थे, जिससे वैदिक धर्म और आर्यसमाज के प्रति उनमें अगाध आस्था हो गयी थी। यमुना-देवीजी के पिता, श्वसुर, पति एवं अन्य कुटुम्बीजन सभी धार्मिक प्रवृति के थे, जिनका प्रभाव उन पर भी पड़ा था। उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु और दयालु था। अति-थियों की सेवा में वह सदा तत्पर रहती थीं। उनका जीवन सादा तथा तपोमय जा। कम आमदनी में भी वह इतनी मितव्ययिता से घर का सब खर्च चलाती थीं कि बच्चों की शिक्षा तथा विवाह आदि के लिए धन की कमी नहीं पड़ती थी। परिवार के सब सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्य के पालन का उन्हें सदा ध्यान रहता था, और सास तथा श्वसुर की सेवा करना वह अपना धर्म मानती थीं।

श्री सूरजकुमारजी

मुजफ्फपुर (बिहार) की प्रसिद्ध प्रभात जर्दा फैक्टरी के श्री सूरजकुमार भी अन्यतम हस्सेदार हैं, और उस व्यापारिक संस्थान की उन्नति तथा समृद्धि में उनका योगदान अत्यत महत्व का है। पर श्री सूरजकुमार केवल व्यापारी ही नहीं हैं, वह उच्च कोटि के साहित्यक भी हैं। वह एक सुकवि तथा सफल साहित्यकार भी हैं। उनकी रचनाएं 'सूरज मुजफ्फपुरी' के नाम से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'कहानी के करीब', 'कविताञ्जलि' और 'ग्यारह देशों की छब्बीस दिवसीय यात्रा' उल्लेखनीय हैं। भारतीय लोककल्याण केन्द्र, मुजफ्फरपुर द्वारा श्री सूरजकुमार को उनकी पुस्तकों पर दो बार पुरस्कार देकर सम्मानित किया जा चुका है। श्री सूरजकुमार का सिद्धान्त है— "मनुष्य आजीवन विद्यार्थी है।" इसीलिए सम्पन्न व्यापारी होते हुए भी वह विद्या के उपार्जन में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, और यूनिवर्सिटी की अनेक उच्च डिग्रियाँ प्राप्त कर चुके हैं।

पता—सूरजनगर, रमना, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

प्रतिष्ठित-सदस्य

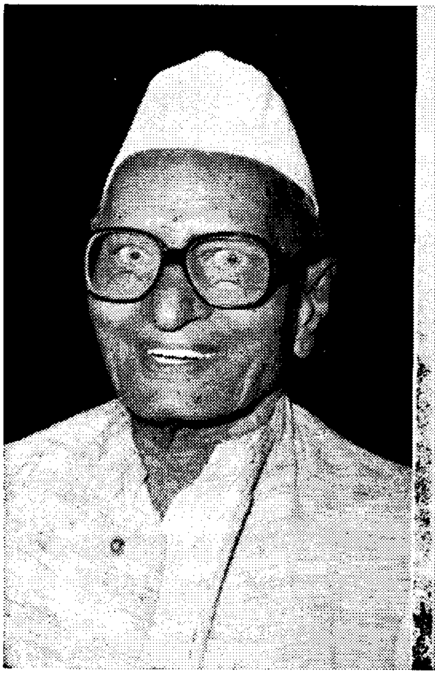

श्री गणपतरायजी आर्य

श्रीमती सुशीलादेवीजी आर्य

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में बम्बई में सर्वप्रथम जिस आर्यसमाज की स्थापना की थी, श्री गणपतराय जी उसी बम्बई (काकड़वाड़ी) समाज के प्रधान हैं। श्री गणपतराय जी का जन्म २७ दिसम्बर १९०४ को पलवल (हरयाणा) में हुआ था। उनके पिता श्री कृपारामजी आर्य एक सच्चे व कर्मठ समाज-सुधारक तथा महर्षि के अनन्य भक्त थे। अछूतों की बस्तियों में जाकर वे उनके बच्चों को स्वयं नहलाते-धुलाते और पढ़ाते-लिखाते थे। इस पर कृपारामजी को बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया। पर उनकी दृढ़ता, सत्यप्रियता तथा निष्ठा के सम्मुख बिरादरी को झुकना पड़ा और जाति से बहिष्कृत किये जाने के आदेश को वापस ले लेना पड़ा। गणपतरायजी ने आर्यसमज के प्रति सुदृढ़ आस्था अपने पिताजी से विरासत में प्राप्त की और वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा पाने के कारण धर्म तथा समाज की सेवा की उनकी भावना और भी प्रबल हो गयी। १९ वर्ष की आयु में श्री गणपतरायजी बम्बई आ गये और वहां उन्होंने 'प्रेम प्रिन्टरी' के नाम से मुद्रण का व्यवसाय शुरू किया। श्री गणपतरायजी स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे, और हैदराबाद सत्याग्रह तथा आर्यसमाज के संघर्ष में वे सदा प्रमुख रहे।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवीजी 'यथा नाम तथा गुण', सुशील स्वभाव, सौम्य प्रकृति, सेवाव्रती और दृढ़निश्चयी आर्य महिला हैं। वह सच्चे अर्थों में अपने पति की 'सहधर्मिणी' हैं और धर्म, देश व समाज की सेवा के सब कार्यों में उत्साहपूर्वक अपने पति-देव का हाथ बटाती हैं। श्री गणपतरायजी का सारा ही परिवार समाजसेवी व धार्मिक है। उनकी बहन श्रीमती भाग्यवती देवी का विवाह आर्यसमाज के महान् नेता एवं हिन्दू महासभा के प्रधान प्रोफेसर रामसिंह जी के साथ हुआ था।

महाशय प्रेमप्रकाश

सन् १९२८ में धुरी (पंजाब) के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म । पिता महाशय कुन्दनलालजी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे । १९४९ में उन्होंने आर्य हाईस्कूल स्थापित करने तथा उसके संचालन के लिए आर्यसमाज को बीस हजार रुपये का दान दिया । उन्हीं से महाशय प्रेमप्रकाशजी को आर्यसमाज की लगन लगी । उनका सारा परिवार आर्य है । उनके दैनिक सन्ध्या-हवन व वेदमन्त्रों की ध्वनि सारे नगर में लाउडस्पीकर से सुनाई देती है । प्रेमप्रकाशजी अनेक आर्य संस्थाओ के प्राण हैं । युवकों के लिए चरित्र-निर्माण-शिविरों के संयोजक, धुरी स्टेशन पर महर्षि के चित्र के स्थापक, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह में धुरी में 'ओ३म्' के झण्डे पर वायुयान द्वारा पुष्पों की वर्षा के व्यवस्थापक । अनेक पुस्तकों के लेखक । आर्यसमाज की इतनी धुन कि गत तीस वर्षों में ८०० संस्कार करवाये, जिनकी सब दान-दक्षिणा आर्यसमाज को दे दी । १० अप्रैल १९८३ को आर्यसमाज को जीवनदान देकर वानप्रस्थ की दीक्षा ग्रहण की । उनका तन, मन, धन सब आर्यसमाज के लिए समर्पित है ।

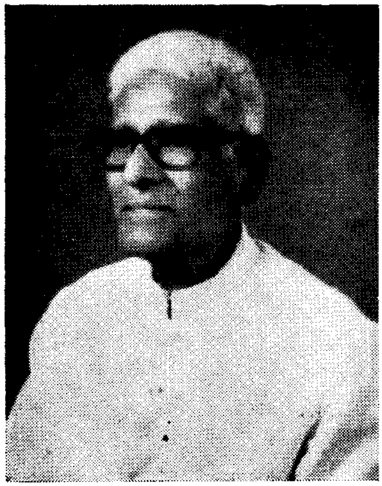

पण्डित अमरनाथजी विद्यालंकार

८ दिसम्बर १९०२ को भेरा (पंजाब) में जन्म । गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में शिक्षा । लाला लाजपतराय की प्रेरणा से १९२९ में स्वाधीनता संग्राम में जुट जाने का व्रत ग्रहण किया । २० वर्ष तक देश की स्वतन्त्रता हेतु निरन्तर संघर्ष—अनेक बार जेलयात्रा । सन् १९५६ से १९६१ तक पंजाब के शिक्षामंत्री । १९५२-५६, १९६३-६७ और १९७१-७७ तीन बार लोकसभा के सदस्य । भारत के प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के वार्षिक अधिवेशन (१९५७) में जेनेवा गये और भारतीय सद्भावना मिशन के नेता के रूप में अफगानिस्तान की यात्रा की (१९६१) । क्योरवेल (इण्डिया) लिमिटेड कम्पनी के १५ वर्ष मैनेजिंग डायरेक्टर रहे । राजनैतिक जीवन बिताते हुए भी साहित्यिक कार्य में संलग्न । हिन्दी, अंग्रेजी तथा उर्दू में अनेक पुस्तकों की रचना । तीन साल 'पंजाब-केसरी' पत्र के प्रधान संपादक भी रहे । संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों के गम्भीर विद्वान् और प्रभावशाली व्याख्यानदाता थे । अमरनाथजी का जीवन अत्यन्त सात्विक व सदाचारमय था । १९८५ में नयी दिल्ली में स्वर्गवास ।

श्री चुन्नीलालजी तनेजा

श्री चुन्नीलालजी तनेजा का जन्म सन् १९११ में सरगोधा जिले (अब पाकिस्तान में) के हडाली ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री भोलारामजी सिन्ध में ठेकेदारी का काम करते थे। श्री तनेजा भी उनके काम में हाथ बटाने लगे थे। उस समय हडाली में केवल एक गुरुद्वारा ही था। अतः हिन्दू पूजा-पाठ के लिए वहीं जाया करते थे। श्री तनेजा ने वहाँ आर्यसमाज के मन्दिर का निर्माण कराया, जिससे जनता में उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हो गई। वह छुआछूत नहीं मानते थे। सिन्ध में उन्होंने एक हरिजन को रसोइया रखा हुआ था। शुद्धि के कार्य में भी उनकी सेवाएं प्रशंसनीय रही हैं। पाकिस्तान बनने के पश्चात् वह दिल्ली में आ बसे। करौलबाग आर्यसमाज के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, और समाज के कार्य में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनकी दान की प्रवृत्ति प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

श्री हर्षवर्धन भार्गव

श्री हर्षवर्धन भार्गव का जन्म २ अप्रैल सन् १९७५ को एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। उनके पिता श्री जगदीश भार्गव विख्यात विधि-विशेषज्ञ, समाजसुधारक एवं कांग्रेस के नेता श्री ठाकुरदास भार्गव के सुपुत्र थे, और माता श्रीमती कमला भार्गव आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता और गुरुकुल काँगड़ी के भूतपूर्व मुख्याधिष्ठाता पण्डित विश्वम्भरनाथजी की सुपुत्री हैं। हर्षवर्धन ने अपने पिता और माता—दोनों के कुलों के गुण विरासत में प्राप्त किये थे। बचपन से ही वह हंसमुख तथा सेवावृत्ति के बालक थे। माडर्न स्कूल नयी दिल्ली में शिक्षा प्राप्त करते हुए रोटरी क्लब के सदस्य रूप में वह सदा असहायों और निर्धनों की सहायता करने में तत्पर रहते थे। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें अभिनय तथा टेबिल टेनिस आदि खेलों में बहुत रुचि थी। बंगलौर में इन्जीनियरिंग की शिक्षा को वह पूर्ण ही करने वाले थे, कि २१ मई सन् १९७७ के दिन वह एक भयंकर दुर्घटना के शिकार हो गये। बहुत कष्ट होते हुए भी वह हास्पिटल में अपनी माताजी को धीरज बंधाते रहे। पर ईश्वर की इच्छा के सम्मुख किसी का क्या वश है! अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों तथा साथियों से सदा के लिए विदा होकर असमय में ही वह दिवंगत हो गये।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री परमेश्वरसिंहजी सूद

श्री परमेश्वरसिंह सूद का जन्म आगरा के एक सम्भ्रान्त व सुशिक्षित परिवार में १४ नवम्बर १९०९ के दिन हुआ था। उनके पिता श्री पूर्णचन्द एडवोकेट आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे। श्री सूद का पालन-पोषण वैदिक धर्म के पवित्र वातावरण में हुआ, और उन्होंने अपने माता-पिता से सदाचार, धर्म-प्रेम तथा सबसे सहयोग की शिक्षा प्राप्त की। शिक्षाकाल में उन्होंने आगरा की आर्य मित्र सभा में सम्मिलित होकर उत्साहपूर्वक समाज की सेवा की। इस सभा में वह प्रधान भी रहे। श्री सूद का विवाह आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् व नेता आचार्य रामदेव जी की सुपुत्री डा० सुशीला से हुआ। सन् १९३२ में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया, और इलैक्ट्रिक लैम्प इण्डस्ट्री के विकास में अनुपम सफलता प्राप्त की। शिकोहाबाद की हिन्द लैम्प्स लिमिटेड के वह चिरकाल तक मैनेजर और सेक्रेटरी रहे। सन् १९६९ में कम्पनी से अवकाश प्राप्त करने के बाद भी इलैक्ट्रिक लैम्प इण्डस्ट्री के विकास में उनकी रुचि बनी रही। आर्यसमाज के सम्पर्क से समाज सेवा की जो भावना उनमें प्रादुर्भूत हो गयी थी, उसी के कारण वह बाद में रोटरी इन्टरनेशनल के माध्यम से समाज की सेवा में तत्पर रहते रहे।

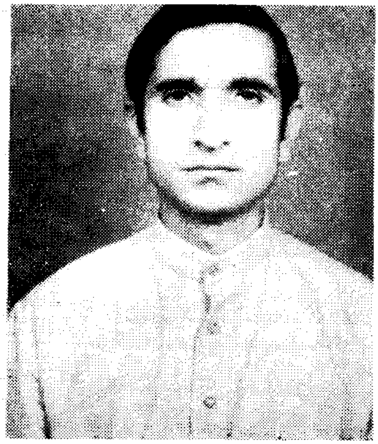

श्री पण्डित वृजपालजी शास्त्री

मेरठ जिले के जोहड़ी ग्राम में श्री वृजपालजी का जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार और वैदिक साधना आश्रम, यमुनानगर में हुई। आर्यसमाज की इन प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थाओं में अध्ययन कर उन्होंने वेदशास्त्रों का समुचित ज्ञान प्राप्त किया, और पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'साहित्य-रत्न' की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। संस्कृत और हिन्दी के वह गम्भीर विद्वान् हैं, और वैदिक सिद्धान्तों में उनकी अबाध गति है। लगभग दस वर्ष उन्होंने आर्यसमाज विक्रमपुरा, जालन्धर तथा आर्यसमाज थापरनगर, मेरठ में पौरोहित्य कार्य किया, और लगभग इतना ही समय पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में महोपदेशक रहकर वैदिक सिद्धातों का प्रचार-प्रसार किया। शास्त्रीजो निपुण संगीतज्ञ भी हैं, और उनके गीतों से आर्यसमाजों के सत्संगों में उच्च कोटि के सात्विक रस का संचार हो जाता है। सम्प्रति वह आर्यसमाज सफदरजंग, नई दिल्ली के पुरोहित व प्रचारक हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

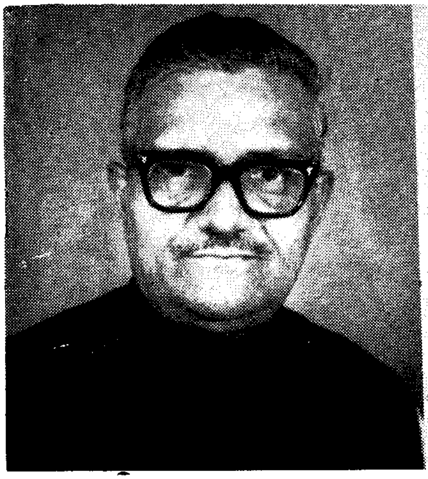

श्री लक्ष्मणसिंहजी

जन्म सन् १९२० में बलिया (उत्तर-प्रदेश) के गोविन्दपुर गाँव में। वह बचपन से ही आर्यसमाज के प्रभाव में रहे, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्होंने कलकत्ता आकर लोहे का व्यापार शुरू किया और इसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। वह कलकत्ता आयरन एण्ड स्टील एसोसिएशन के अध्यक्ष हैं, और व्यापारिक संसार में उनका प्रतिष्ठित स्थान है। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और आर्यसमाज, १९ विधान सरणी (कलकत्ता) के वर्षों तक मन्त्री, उपप्रधान तथा हिसाब-निरीक्षक रहे हैं। शिक्षा के कार्य में भी उनकी रुचि है। वह रघुमल आर्य विद्यालय के प्राथमिक विभाग के मन्त्री हैं। आर्यसमाज के हित के लिए वह सदा सचेष्ट रहते हैं, और अपने विचारों को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त करते हैं। उनके पुत्र श्री अशोक कुमार सिंह को भी उन्हीं के समान आर्यसमाज की लगन है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी अगाध आस्था है। दहेज प्रथा के वह प्रबल विरोधी हैं। वैदिक धर्म की शिक्षाओं और आर्यसमाज के मन्तव्यों को उन्होंने क्रियात्मक रूप से अपनाया हुआ है।

श्री जगदीशजी तिवारी

जन्म २० अगस्त सन् १९१९ को जिला भोजपुरा (बिहार) के धमवलि ग्राम में। सन् १९३६ में वह कलकत्ता गए। उस समय वह पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, पर उनके मन में यह शंका बनी रहती थी, कि क्या मूर्ति ही वस्तुतः भगवान् का रूप है। एक दिन उनके मित्र श्री सीतारामसिंह उन्हें घूमने के बहाने बड़ा बाजार (कलकत्ता) आर्यसमाज के सत्संग में ले गये। वहां प्रवचन सुनकर वह इतने प्रभावित हुए, कि उनके जीवन तथा विचारों में भारी परिवर्तन आ गया। एक सज्जन ने उन्हें "सत्यार्थ प्रकाश" पढ़ने को दिया। उसे पढ़कर वह आश्चर्यचकित रह गए, और यह सोचने लगे कि एक ऐसी भी पुस्तक संसार में है! इस प्रकार श्री तिवारीजी महर्षि दयानन्द सरस्वती के आस्थावान् अनुयायी हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। अब उन्हें धर्म तथा ईश्वर के वास्तविक रूप का ज्ञान हो गया है, और वह धार्मिक भजन बनाकर धर्मप्रचार में तत्पर रहते हैं, और अपनी जन्मभूमि में उन्होंने एक यज्ञशाला का भी निर्माण कराया है।

श्री डालचन्दजी

हलदौर (जिला बिजनौर) के एक प्रतिष्ठित जमींदार परिवार में सन् १८८० में जन्म। किशोर आयु में ही आर्यसमाज के साथ सम्पर्क, जिसके परिणामस्वरूप देश की उन्नति और स्वतन्त्रता तथा समाज सुधार के लिए उत्कट अभिलाषा। स्त्री-शिक्षा, दलितोद्धार तथा विधवा-विवाह के कार्यों में सक्रिय योगदान। हलदौर में बालिका-विद्यालय, देवनागरी पाठशाला और चन्द्रमणि इण्टर कॉलिज सदृश शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना, संचालन और व्यवस्था में उत्साहपूर्वक योगदान। हलदौर में आर्यसमाज तथा दो धर्मशालायों के निर्माण में उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता। सन्तानों के विवाह में जात-पाँत के बन्धनों की उपेक्षा। अछूतों के साथ खान-पान के कारण बिरादरी से बहिष्कार। कांग्रेस के उत्साही कार्यकर्त्ता।

श्री डालचन्द के सुपुत्र श्री विधुशेखर, श्री शशिशेखर तथा श्री सोमशेखर ने श्री शशिशेखर द्वारा अपने पिताजी की पुण्यस्मृति में प्रतिष्ठित सदस्यता हेतु धनराशि प्रदान की।

श्री ठाकुर रामाज्ञाजी वैरागी

फरवरी १९२५ में रक्सौल, जिला पूर्वी चम्पारन (बिहार) में जन्म। बाल्यावस्था में ही वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के विविध कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया, जिसके कारण बिहार के स्वतन्त्रता-सेनानियों में प्रतिष्ठित स्थान। वर्षों तक आर्य वीर दल के संचालक रहे। नैपाल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से कार्य किया। केनिया, इटली, युगोस्लाविया, हंगरी, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इन्डोनेशिया आदि की यात्रा। ३१ मई १९८२ को समाजसेवा के लिए जीवन को समर्पण कर और सब धन-सम्पत्ति का त्याग कर 'वैरागी' का विरुद धारण किया। श्री रामाज्ञा ठाकुर अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा समय वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों में लगा रहे हैं, और गृहस्थ जीवन का त्याग कर तपस्वी जीवन बिता रहे हैं। उनका तन, मन, धन सब वैदिक धर्म के लिए सर्मपित है।

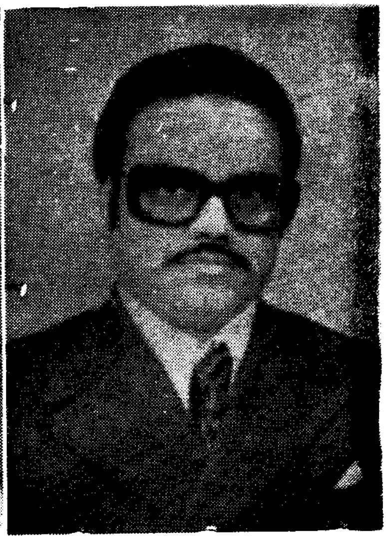

श्री पन्नालालजी आर्य

श्री पन्नालाल आर्य प्रभात जर्दा फैक्टरी तथा रत्ना जर्दा सप्लाई कम्पनी, मुजफ्फरपुर के सीनियर पार्टनर हैं। इन कम्पनियों की उन्नति तथा समृद्धि का मुख्य श्रेय श्री पन्नालालजी की कर्मठता, तन्मयता और सच्चाई को ही है। इनकी कार्यकुशलता के कारण ही यह व्यवसाय देश-विदेश में सर्वत्र फैलता जा रहा है। श्री पन्नालाल आर्य आर्यसमाज के उत्साही और कर्मठ कार्यकर्ता हैं। वह आर्य प्रतिनिधि सभा, बिहार के उपमन्त्री, उत्तर बिहार आर्यसमाज तथा आर्यकुमार सभा के प्रधान, आर्यसमाज मुजफ्फरपुर के उपप्रधान और प्रान्तीय आर्य वीर दल के उपसंचालक हैं। अन्य भी अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के साथ वह घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। सन् १९८० के लण्डन सार्वभौम आर्य सम्मेलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था, और ११ यूरोपीय देशों का भ्रमण किया था।

श्री सत्यप्रकाशजी आर्य

श्री सत्यप्रकाश आर्य प्रभात जर्दा फैक्टरी मुजफ्फरपुर (बिहार) के हिस्सेदार हैं, और जर्दा जाफरानी व्यवसाय की उन्नति के लिए तत्पर रहते हैं। आर्यसमाज के सुधारवादी तथा प्रगतिशील कार्यों में उनकी रुचि है, और धर्म तथा समाज सेवा के कार्यों में उनका सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहता है। लण्डन के सार्वभौम आर्य सम्मेलन में श्री सत्यप्रकाश सम्मिलित हुए थे, और उस अवसर पर उन्होंने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण भी किया था। लण्डन महासम्मेलन में आर्यसमाज के इतिहास की चर्चा होने पर श्री सत्यप्रकाशजी ने ही सबसे पूर्व उसका प्रतिष्ठित सदस्य होने की घोषणा की थी। आर्यसमाज और उसके इतिहास के प्रति उनके प्रेम का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह एक सरल स्वभाव के आर्य सज्जन हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री अवन्तिलालजी

श्री अवन्तिलालजी मुजफ्फरपुर (बिहार) की प्रभात जर्दा फैक्टरी के मार्केटिंग डायरेक्टर हैं। उनकी व्यवहार-कुशलता, सच्चाई तथा ईमानदारी के कारण इस फैक्टरी ने जाफरानी के व्यवसाय में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। श्री अवन्तिलालजी दृढ़ आर्यसमाजी हैं और धर्म तथा समाज की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं। कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं के वह संस्थापक तथा सदस्य हैं। वह उन्हें केवल आर्थिक सहायता ही नहीं देते, अपितु उनके कार्य-कलाप में सक्रिय रूप से भाग भी लेते हैं। वह देशभक्त तथा धर्मप्रेमी सज्जन हैं, और साहित्य के प्रति भी अनुराग रखते हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने भाग लिया था और वह जेल भी गये थे। बिहार की नदियों में बहुधा बाढ़ें आती रहती हैं; बाढ़-पीड़ितों की आर्थिक सहायता के लिए वह सदा उद्यत रहते हैं। देश, समाज तथा धर्म की सेवा में लगी हुई संस्थाएं भी उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करती रहती हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों और वैदिक धर्म के अनुरूप ही उनका जीवन है।

श्री चौधरी कन्हैयालालजी

श्री कन्हैयालालजी अत्यन्त सौम्य, धार्मिक एवं परोपकारी प्रकृति के मनुष्य थे, और तावडू (हरयाणा) के बाजार चौधरी थे। उनके एक मित्र पण्डित उमरावसिंह जब किसी काम से लाहौर गये, तो वहां उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्याख्यान सुना। उससे वह बहुत प्रभावित हुए, और सत्यार्थ प्रकाश की एक प्रति खरीद ले गये। उसे उन्होंने कन्हैयालालजी को पढ़ने के लिए दिया। उसे पढ़कर उन्होंने मूर्तिपूजा छोड़ दी, और उनमें आर्यसमाज का बीजारोपण हो गया। वह अब स्त्रीशिक्षा के पक्षपाती, पर्दा प्रथा के विरोधी और अछूतों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो गये। तावडू में आर्य-समाज की स्थापना में उन्होंने बहुत उत्साह दिखाया, और उसके लिए उदारतापूर्वक दान दिया।

श्री कन्हैयालालजी के सुयोग्य पुत्र श्री हरदत्त राय गुप्ता ने अपने पिताजी की पुण्य स्मृति में इस 'इतिहास' के लिए एक हजार रुपये प्रदान किये हैं। श्री गुप्ताजी सुशिक्षित व उत्साही आर्यसमाजी हैं, और उनका परिवार सम्पन्न, धार्मिक एवं सुसंस्कृत है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती

संन्यास आश्रम में प्रवेश से पूर्व स्वामी सच्चिदानन्दजी का नाम श्री मथुरादास था। १ जनवरी सन् १९०३ को शेखूपुरा (पाकिस्तान) जिले के उच्चापिंड नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा उर्दू में हुई थी, पर आर्यसमाज के साथ सम्पर्क होने पर उन्होंने हिन्दी पढ़ी, और धर्म तथा आर्यसमाज की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया। उनका जीवन सदाचारमय था और वह सबकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे। इसी का यह परिणाम था, कि १९४७ में पाकिस्तान के निर्माण के समय जब उनके नगर में हिन्दुओं का कत्ले-आम शुरू हुआ, तो एक ऐसे मुसलमान ने ही उनकी रक्षा की जो दर्जनों हिन्दुओं का खून कर चुका था, पर इनके उपकारों को भूल नहीं सका था। पाकिस्तान बनने पर वह अमृतसर में बस गये और वहां भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। मार्च १९७६ में उन्होंने वानप्रस्थ दीक्षा ग्रहण की और अप्रैल १९८३ में श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज से दीक्षा लेकर संन्यास आश्रम में प्रवेश किया। सन् १९७६ से वह अपना सब समय धर्म-प्रचार और समाज-सेवा में लगा रहे हैं।

श्रीमती त्रिवेणीदेवी आर्य

५०-वर्षीया श्रीमती त्रिवेणीदेवी का जन्म अरौदा ग्राम (बयाना, भरतपुर) राजस्थान में हुआ। उनका विवाह सन् १९५० में श्री प्रह्लादकुमार आर्य से हुआ। पतिदेव ने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में स्थापित श्री घूड़मल आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट के अन्तर्गत एक पुरस्कार प्रारम्भ किया हुआ है "श्री घूड़मल आर्य पुरस्कार"। आर्य जगत् की दो विभूतियां —आचार्य उदयवीरजी शास्त्री व पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक—इससे सम्मानित किये जा चुके हैं। इस बार आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति पुरस्कृत होंगे। एक पुत्र प्रभाकरदेव आर्य व एक ही पुत्री प्रतिभा देवी आर्य हैं। दामाद श्री बाबूलाल मित्तल पाहोद (गुजरात) में मैडीकल अफसर हैं। घर पर प्रतिदिन सन्ध्या व यज्ञ श्रद्धापूर्वक करती हैं। आर्यसामाजिक कार्यों में सोत्साह भाग लेती हैं। पुत्री प्रतिभा भी चारों वेदों से यज्ञ कर चुकी हैं। एक बार सवा लाख गायत्री से भी यज्ञ किया है व दुबारा चल रहा है। पौराणिक परिवार में जन्मी श्रीमती त्रिवेणीदेवी आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द के रंग में पूरी तरह रंग गई हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

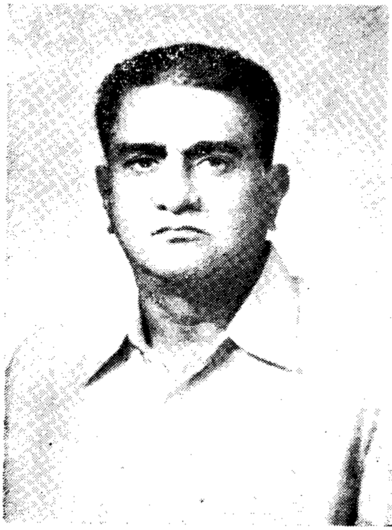

श्री जानकीदास नरूला

श्रीमती विमला नरूला

श्री जानकीदास नरूला का जन्म सन् १९२४ में लाहौर (अब पाकिस्तान) में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री भगवानदास नरूला था, और माताजी का नाम श्रीमती वीरांवाली नरूला। श्री भगवानदास नरूला लाहौर के सफल एवं समृद्ध व्यापारी थे। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में उन्होंने ब्रिटिश इण्डियन सेना में सर्विस भी की थी। श्री जानकीदास का विवाह २६ जनवरी, १९४७ के दिन श्री बैजनाथ मानचन्दा की सुपुत्री कुमारी विमला रानी के साथ हुआ। पर वे देर तक लाहौर में नहीं रह सके। सन् १९४७ में भारत का विभाजन होने के परिणामस्वरूप पाकिस्तान बन जाने पर वह लाहौर से चले आये, और कलकत्ता में बस गये। वहां उन्होंने नये सिरे से व्यापार शुरू किया, जिसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। उनका व्यापार-प्रतिष्ठान ५१, कैनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता में स्थित है। उनके दो पुत्र (श्री वीरेन्द्रकुमार नरूला और श्री सुमनकुमार नरूला) और तीन पुत्रियां (श्रीमती गीता राज, श्रीमती नीता कोछड़ और श्रीमती सीमा सचदेवा) हैं। नरूला परिवार के सदस्य निष्ठावान् आर्यसमाजी हैं, और समाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

श्रीमती विमला रानी नरूला का जन्म १७ सितम्बर १९२९ को हुआ था। उनके पिता श्री बैजनाथ मानचन्दा भी लाहौर के निवासी थे। श्रीमती नरूला आदर्श आर्य महिला हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में अपने पति को पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री डाक्टर सुरेन्द्रनाथ शर्मा   श्रीमती सत्यवतीदेवी विद्यालंकृता

श्रीमती सत्यवती का जन्म पंजाब के गुरुदासपुर नगर में २८ अक्टूबर, सन् १९१२ के दिन हुआ था। उनके पिता पण्डित शंकरदास शर्मा धार्मिक वृत्ति के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं और आर्यसमाज में उनकी पूर्ण आस्था थी। उन्होंने अपने पुत्र सत्यदेव को शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराया और अपनी पुत्री सत्यवती को कन्या गुरुकुल देहरादून में। वहाँ नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रह कर सत्यवतीजी स्नातिका हुईं, और विद्यालंकृता की उपाधि प्राप्त की। सन् १९३८ में जालन्धर के एक सम्पन्न व प्रतिष्ठित आर्य परिवार में सत्यवतीजी का विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् वह अपने पति श्री सुरेन्द्रनाथजी के साथ नैरोबी (केनिया) चली गईं, जहां वह विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं व आर्यसमाज के विविध संस्थानों में सक्रिय रूप से योगदान देती रहीं। आर्य स्त्री-समाज नैरोबी तथा मोम्बासा के कार्यकलाप में वह अत्यधिक रुचि लेती रहीं और वहां बच्चों की शिक्षा के लिए अनेक विद्यालयों का संचालन किया। सन् १९६७ में वह भारत वापस आ गईं, और तब से नई दिल्ली में रहती हुई आर्यसमाज की गतिविधि में उत्साह के साथ भाग ले रही हैं। वह स्त्री आर्यसमाज ग्रेटर कैलाश की प्रधाना हैं, और केन्द्रीय आर्य स्त्री-समाज दिल्ली के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं। यज्ञों में सत्यवतीजी की बहुत रुचि है। वह प्रति वर्ष माघ मास में वेदों द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करती हैं। उनके दो पुत्र लण्डन में डाक्टर हैं, और एक भारत की वायुसेना की सेवा से निवृत्त होकर अपने स्वतंत्र व्यवसाय में संलग्न है।

सत्यवतीजी के पतिदेव श्री सुरेन्द्रनाथ आर्य का जन्म सन् १९०४ में जालन्धर के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। भारत में एलोपैथिक चिकित्सा की उच्च शिक्षा प्राप्त कर वह नैरोबी (केनिया) चले गए और वहां मेडिकल सर्विस में नियुक्त हो गये। केनिया के विभिन्न स्थानों पर स्वास्थ्य अधिकारी के रूप में कार्य करते हुए डाक्टर शर्मा ने वहाँ के मूल निवासियों की पूर्ण निष्ठा के साथ सेवा की। केनिया में बसे हुए अरब लोगों के प्रमुख नेता सर अली उन्हें पुत्रवत् मानते थे। सरकारी सर्विस में रहते हुए भी डाक्टर शर्मा आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह के साथ भाग लेते रहे, और श्रीमती सत्यवतीजी का उनको पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा। वे अत्यन्त उदार स्वभाव के, दीनवत्सल और प्रसन्न-चित्त व्यक्ति थे। सन् १९६७ में केनिया की सेवा से निवृत्त होकर वह भारत वापस आ गये, और १७ जनवरी, १९७१ को उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रतिष्ठित-सदस्य

आचार्य श्री रामलाल आर्य

जन्म सन् १९३६ में ग्राम तेजगढ़ (जिला दमोह, मध्यप्रदेश) में। उनके परिवार में धर्म तथा समाज की सेवा की परम्परा भली भाँति विद्यमान थी। उन्होंने एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ-साथ हिन्दी और संस्कृत की भी उच्च शिक्षा प्राप्त की और साहित्यरत्न एवं वैदिक सिद्धान्त विशारद सदृश अन्य परीक्षाएं भी उत्तीर्ण कीं। १७ वर्ष की आयु में उन्होंने जबलपुर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और अपना जीवन शिक्षा, धर्म तथा आर्यसमाज की सेवा में लगाना प्रारम्भ कर दिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज गंजीपुरा (जबलपुर) के वह १५ वर्ष मन्त्री रहे, और इस समाज के कार्यकलाप को सफलतापूर्वक संचालित किया। भारतीय आर्य युवक परिषद् मध्यप्रदेश के वह उपमन्त्री रहे, और आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ की अन्तरंग सभा के सदस्य। जनवरी १९६६ में उन्होंने राइट टाउन, जबलपुर में आर्य-समाज स्थापित किया, और उसके लिए अपने विशाल भवन सतना बिल्डिंग का एक खण्ड, जिसका किराया दो हजार रुपया मासिक है, बिना किराये के आर्यसमाज के कार्य के लिए प्रदान कर दिया। राइट टाउन आर्यसमाज आचार्य जी द्वारा प्रदत्त भवन में ही स्थित है, और उसी को केन्द्र बनाकर वे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये पूर्ण उत्साह के साथ निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। राइट टाउन आर्यसमाज के तत्त्वावधान में आर्य नवयुवक मंडल, दहेज विरोधी समाज सुधार परिषद् आदि जो अनेक संस्थाएं कार्यरत हैं, उनका संचालन आचार्य रामलाल जी द्वारा ही प्रधान रूप से किया जाता है। आर्य कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए शिविरों के आयोजन, योग शिविरों की व्यवस्था, विधवाओं, असहायों व अनाथों की सहायता, आर्य साहित्य का निःशुल्क वितरण, ग्रामों में प्रचार आदि पर आचार्य जी विशेष ध्यान देते हैं, और उनके प्रयत्न से ही ये सब कार्य जबलपुर व समीपवर्ती क्षेत्र में सम्पन्न हो रहे हैं। उनका संकल्प है कि दस हजार समर्पित आर्य कार्यकर्त्ता तैयार करें, और सत्यार्थ प्रकाश की दस हजार प्रतियां निःशुल्क वितरण करें। इस संकल्प की पूर्ति की दिशा में वे तेजी से अग्रसर हो रहे हैं।

आचार्य रामलालजी को आर्यसमाज के कार्यकलाप के प्रति अनुपम उत्साह है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी प्रगाढ़ आस्था है, और उनका जीवन वैदिक धर्म के प्रचार के लिए समर्पित है।

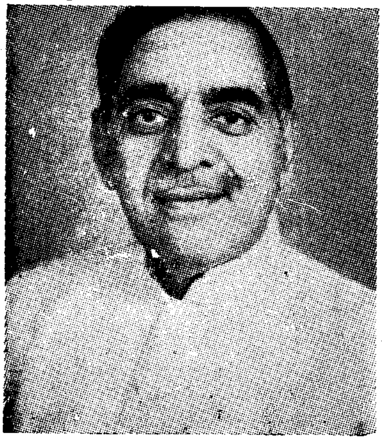

श्री नारायणदासजी जुनेजा

श्री नारायणदासजी का जन्म १९१३ ई० में लायलपुर में हुआ था। उनके पिता लाला गुरुदत्तमल लायलपुर के प्रतिष्ठित आर्य सज्जन थे। नारायणदासजी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर में हुई, और विद्यार्थी जीवन में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। भारत का विभाजन होने पर सन् १९४७ में वह सपरिवार बम्बई आ गए। वहाँ आकर उन्होंने सान्ताक्रूज आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेना शुरू किया, और शीघ्र ही उसके सर्वमान्य नेता बन गये। वर्षों तक वह सान्ताक्रूज समाज के प्रधान रहे। वह बम्बई में आर्य जगत् के सर्वमान्य नेता थे, और सान्ताक्रूज समाज के तो प्राण ही थे। श्री जुनेजाजी वैदिक संस्कृति के अनन्य पुजारी थे। उनमें अदम्य उत्साह था, और उनकी कर्तव्यपरायणता अनुपम थी। हैदराबाद के सत्याग्रह तथा आर्यसमाज के अनेक संघर्षों में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था। ऐसे कर्मयोगी आर्य ४ जून १९८१ को इस असार संसार को छोड़कर परमपिता परमात्मा की शरण में चले गये। उनके सुयोग्य पुत्र श्री कुलदीप, शोभा आदि पांच पुत्रियां तथा धर्मपत्नी श्रीमती राजरानीजी उनके चरणचिन्हों पर चलकर अब वैदिक धर्म की सेवा में संलग्न हैं।

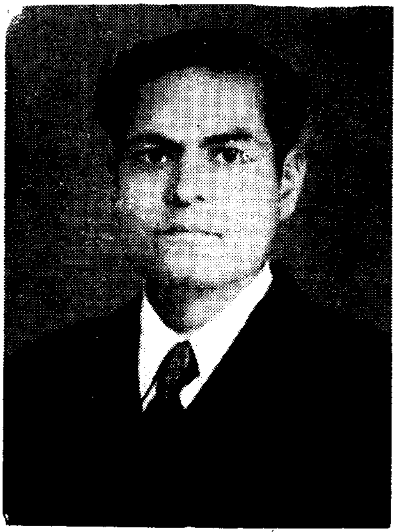

श्री योगेन्द्रनाथजी अवस्थी

श्री योगेन्द्रनाथजी अवस्थी का जन्म २१ सितम्बर १९१४ को गुरुदासपुर में हुआ था। उनके पिता पण्डित विश्वम्भरनाथजी आर्यसमाज के अत्यन्त प्रभावशाली नेता थे। सन् १९१७-१८ में वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे, और १९२०-२७ तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता। उनकी माता श्रीमती दयावतीजी पंजाब के एक सम्भ्रान्त कुलीन परिवार में उत्पन्न हुई थीं, और उनके पूर्वज नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली तथा अनेक सिक्ख राजाओं के शासन में उच्च सैनिक व प्रशासकीय पदों पर रहे थे। श्री योगेन्द्रनाथ जी का पालन-पोषण सात्विक व सदाचारमय वातावरण में हुआ, और अपने माता-पिता से उन्होंने देश तथा धर्म की सेवा विरासत में प्राप्त की। बी० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त कर कुछ वर्ष उन्होंने वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में कार्य किया, और फिर चिरकाल तक पंजाब नेशनल बैंक में सेवारत रहे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती डाक्टर सावित्री अवस्थी उच्च शिक्षित आर्य महिला हैं, और वर्षों तक कमला नेहरू कॉलिज में प्राध्यापिका रह चुकी हैं। अवस्थी दम्पति की साहित्य और विद्या में बहुत रुचि है। उनका निजी पुस्तकालय बहुत विशाल है, जिसमें वैदिक धर्म, आर्यसमाज तथा आधुनिक इतिहास की उच्चकोटि की पुस्तकों का उत्तम संग्रह है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री प्रकाशचन्द्रजी मूना

बम्बई के आर्य जगत् में श्री प्रकाशचन्द्रजी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह सान्ताक्रूज आर्यसमाज के प्रधान हैं, और बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के कोषाध्यक्ष हैं। उनका जन्म अजमेर के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता स्वर्गीय श्री ज्वालाप्रसादजी वर्षों तक आर्दशनगर आर्यसमाज के प्रधान रहे, और अपने क्षेत्र में धर्म तथा समाज की उत्साहपूर्वक सेवा करते रहे। जिन श्री लक्ष्मीनारायणजी ने सन् १८८३ में लण्डन में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना की थी, वह श्री प्रकाशचन्द्रजी मूना के चाचा थे। सन् १९३३ में अजमेर में मनायी गयी महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी में प्रतिनिधियों के आवास की सब व्यवस्था भी उन्हीं द्वारा की गयी थी। श्री प्रकाशचन्द्रजी ने आर्यसमाज की सेवा की भावना अपने पूज्य पिताजी व चाचाजी से प्राप्त की, और उन्हीं के पदचिन्हों पर चलते हुए वह पूर्ण निष्ठा के साथ वैदिक धर्म के प्रचार में सब शक्ति लगा रहे हैं। बम्बई में उनके अनेक व्यावसायिक प्रतिष्ठान हैं, उन सबकी व्यवस्था अपने सुपुत्र श्री महेन्द्रकुमार के सुपुर्द कर प्रकाशचन्द्रजी ने अब अपने को समाज की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है।

श्री ओंकारनाथजी आर्य

श्री ओंकारनाथजी आर्य बम्बई के कर्मठ तथा सुप्रसिद्ध समाजसेवक हैं। वह बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान, सान्ताक्रूज आर्यसमाज के उपप्रधान, श्री महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा के मैनेजिंग ट्रस्टी तथा रामाश्रम ट्रस्ट पवई, बम्बई के मन्त्री हैं। धर्म, देश तथा समाज की सेवा की भावना उन्होंने अपने पूज्य पिता श्री रामरतनजी मानकटाला से विरासत में प्राप्त की है। श्री रामरतनजी लाहौर के एक अत्यन्त सफल वकील थे। वकालत से वह जो धन कमाते, उसका अच्छा बड़ा भाग वह निर्धन विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियाँ देने, विधवाओं और अनाथों की सहायता तथा अन्य धर्म-कार्यों में प्रयुक्त किया करते थे। वह संस्कृत के भी विद्वान् थे, और धर्म प्रचार की उन्हें धुन थी। श्री ओंकारनाथजी उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलकर पूर्ण लगन से धर्म तथा समाज की सेवा में तत्पर रहते हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवराजवतीजी भी आर्य-समाज के कार्य में संलग्न रहती हैं। वह आर्य महिला समाज, सान्ताक्रूज की संयोजिका हैं। संगीत कला में वह अत्यन्त प्रवीण हैं, और भक्तिरस से पूर्ण उनके गीत आर्य जगत् में बहुत लोकप्रिय हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्रीमती राजरानीजी

श्रीमती राजरानीजी गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक, वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् और दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यवसायी पण्डित मनोहरजी विद्यालंकार की सहधर्मिणी हैं। अपने पतिदेव के समान वह भी महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर अगाध आस्था रखती हैं, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेती रहती हैं। श्री मनोहरजी के समान राजरानीजी को भी देश-विदेश के भ्रमण का शौक है। उत्तराखण्ड में वह बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और जमनोत्री का पर्यटन कर चुकी हैं। सन् १९५३ में सम्राज्ञी एलिजाबेथ के राज्यारोहण के अवसर पर उन्होंने इंग्लैण्ड तथा यूरोप के विभिन्न देशों की यात्रा की थी, और वहाँ के विश्वविद्यालयों के संस्कृत के प्रोफेसरों से वैदिक विषयों पर बातचीत भी की थी। सन् १९५७ में मास्को में आयोजित युवक समारोह में वह अपने पतिदेव के साथ सम्मिलित हुई थीं। राजरानीजी को वेदों में असीम श्रद्धा है। वह अपने घर पर पांच बार चतुर्वेदपारायण यज्ञ का अनुष्ठान कर चुकी हैं।

महाशय धर्मपालजी

१३ अप्रैल १९२४ को सियालकोट में जन्म। पिता—श्री चुन्नीलालजी, माता—श्रीमती चन्ननदेवीजी। दोनों आदर्श पिता-माता। भारत-विभाजन के बाद मसालों के पुराने व्यापार को उन्होंने दिल्ली में पुनः स्थापित किया। उनका व्यापार-संस्थान 'महाशयां दी हट्टी' देश-विदेश में विख्यात है। "अर्थ (धन) मात्र साधन है, ध्येय नहीं", यह महाशयजी का जीवन-दर्शन है। उन्होंने बहुत धन कमाया है, पर वह उसे उदारतापूर्वक लोकहित के लिए खर्च भी करते हैं। पिता के नाम पर उन्होंने चुन्नीलाल ट्रस्ट स्थापित किया है, जिसके आधीन श्रीमती चन्ननदेवी निःशुल्क नेत्र चिकित्सालय, माता-पिता के नाम पर दो विद्यालय तथा महाशय धर्मपाल विद्यामंदिर चल रहे हैं। तीस से भी अधिक अन्य शिक्षणालयों को भी महाशय जी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। दिल्ली राज्य की आर्य केन्द्रीय सभा के वह प्रधान हैं, और आर्यसमाज की सब गतिविधियों तथा कार्यकलापों में वह उत्साहपूर्वक हाथ बटाते हैं। उनका जीवन आर्य आदर्शों के अनुरूप है। वैदिक धर्म में उनकी सच्ची श्रद्धा है, और आर्यसमाज के लिए सच्ची लगन।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री सुरेशकुमारजी अग्रवाल

श्री सुरेशकुमारजी का जन्म ५ जुलाई सन् १९६० को लोहारू के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य परिवार (तायल गोत्र) में हुआ था। उनके पिताजी का नाम श्री बाबूलाल अग्रवाल है। कलकत्ता में उनका बालटियाँ बनाने और उनको निर्यात करने का सफल व्यवसाय है। अपने व्यापार-व्यवसाय के साथ-साथ श्री सुरेशकुमार देश, धर्म तथा समाज की सेवा में पर्याप्त समय लगाते हैं। सन् १९७८ में वह कलकत्ता आर्यसमाज के सदस्य बने, और उसी वर्ष राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शिक्षण शिविर में उन्होंने शिक्षण प्राप्त किया। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। सन् १९८१-८२ में वह समाज के उपपुस्तकाध्यक्ष चुने गये थे, जिसके कर्तव्यों का वह कुशलता के साथ निष्पादन करने में तत्पर हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ओर भी उनका ध्यान है। सन् १९८३ में उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी०काम० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। श्री सुरेशकुमार एक अत्यन्त कर्मठ व उत्साही युवक हैं। देश, धर्म और समाज को उनसे बहुत आशाएँ हैं।

श्री हजारीलालजी आर्य

श्री हजारीलालजी का जन्म श्रावण सुदी १५, संवत् १९९५ (सन् १९३८) को मासलपुर गांव (तहसील करौली, राजस्थान) में हुआ था। वह श्री किंदूरीलाल (वर्तमान नाम आर्यमुनि वानप्रस्थी) के ज्येष्ठ पुत्र हैं। बचपन से ही उनकी रुचि सत्संग तथा स्वाध्याय में रही है। वह सात्विक प्रकृति के मननशील व्यक्ति हैं, और समाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। हिन्डौन आर्यसमाज के मन्त्री के रूप में वह राजस्थान में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तन-मन-धन से पूर्ण योगदान दे रहे हैं। फरवरी सन् १९६० में उनका विवाह श्रीमती रमाकुमारी से हुआ था, जो सुसंस्कृत व धार्मिक आर्य महिला हैं, और जिन्होंने आर्य महिला विद्यापीठ भुसावर (भरतपुर) में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उनके दो पुत्र धर्मप्रिय एवं सत्यप्रिय हैं, और दो पुत्रियाँ ज्ञानवती एवं सन्ध्यावती हैं। सारे परिवार का वातावरण सदाचारमय व सुसंस्कृत है। श्री हजारीलालजी के पिताजी भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में सर्वात्मना संलग्न रहते हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

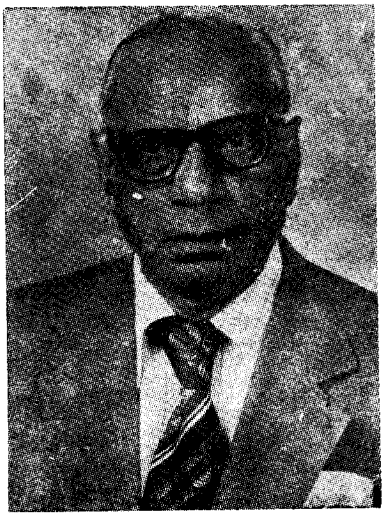

पण्डित हरवंशलालजी मोद्गिल

जन्मतिथि—१६ सितम्बर, सन् १६१२। जन्मस्थान---गुजरवाल (लुधियाना)। शिक्षा---बी.ए. तक। लाहौर में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी से सम्पर्क, और उन द्वारा आर्यसमाज का कार्य करने की प्रेरणा। १६३७ से १६७० तक अफ्रीका के विविध स्थानों (कम्पाला, नकोरी, नैरोबी, मोम्बासा, दारुस्सलाम आदि) पर सरकारी सेवा में कार्य। जहां भी रहे, आर्य-समाज के कार्य में उत्साहपूर्वक योगदान। सर्वत्र समाज की मैनेजिंग कमेटी के सदस्य। मोम्बासा आर्यसमाज के मुख्य मंत्री (१६५४, ५५, ५६)। दारुस्सलाम आर्यसमाज के मुख्य मंत्री (१६६७, ६८, ६६)। १६७० में लण्डन आगमन। वहां वैदिक मिशन की स्थापना में विशेष कर्तृत्व। उसकी कार्यकारणी के सदस्य तथा लण्डन आर्यसमाज के संस्थापक-सदस्य। ग्रेट ब्रिटेन की हिन्दू संस्थाओं में उत्साहपूर्वक कार्य तथा उनके माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार। परिवार के सब सदस्य आर्यसमाज में आस्था रखते हैं, और धार्मिक जीवन बिताते हैं।

श्री हरिकृष्णजी माथुर
आई. ए. एस. (रिटायर्ड)

जन्मतिथि—१८ अगस्त, १६०२। शिक्षा—मेयो सेण्ट्रल कॉलिज, इलाहाबाद में। १६२६ में उत्तरप्रदेश सिविल सर्विस में निर्वाचित। सुलतानपुर तथा अनेक जिलों में डिप्टी कमिश्नर के पद पर कई वर्षों तक कार्य। सन् १६४६ में भारत की एडमिनि-स्ट्रेटिव सर्विस (आई.ए.एस.) में ले लिये गये और केन्द्रीय सरकार के अनेक उच्च प्रशासनिक पदों पर कार्य किया। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा उर्दू का समुचित ज्ञान। धर्म, दर्शन, इतिहास तथा राजनीति में विशेष रुचि, और सार्वजनिक कार्यों में उत्साहपूर्वक योगदान। मसूरी की तिलक लायब्रेरी, गांधी निवास सोसायटी तथा नेहरू नेत्र चिकित्सालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान एवं संरक्षण। अत्यन्त सक्रिय, सजीव व धार्मिक जीवन। परिवार के सब सदस्य सुशिक्षित, सुसंस्कृत व धार्मिक प्रकृति के हैं, और उच्च राजकीय पदों पर कार्यरत हैं। सन् १६८३ में नयी दिल्ली में निधन हुआ।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री रतीरामजी शर्मा

हरयाणा प्रदेश के देवराला गाँव (जिला भिवानी) में सन् १९२८ में जन्म। गाँव में ही आर्यसमाज के भजनोपदेशकों से सम्पर्क और उनके प्रभाव से सामाजिक रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोह की भावना। युवा होने पर दार्जिलिंग (बंगाल) जाकर सफल आर्थिक संघर्ष। जीवन में प्रगति और सफलता प्राप्त करने में आर्यसमाज तथा महर्षि दयानन्द की महती भूमिका। सारी उपलब्धि का मूल आर्यसमाज। उनके ऋण से उऋण होने का प्रयत्न शर्माजी अपना नैतिक दायित्व मानते हैं। इसी भावना से सिलीगुड़ी में आर्यसमाज की स्थापना में उनका विशेष योगदान रहा। निकटवर्ती नगरों और नैपाल के पूर्वी अंचल में आर्य-समाजों की स्थापना में उन्होंने सक्रिय सहयोग दिया। आर्यसमाज के कार्यों में उनकी विशेष रुचि है। साधारण वार्षिकोत्सवों से लेकर मॉरीशस, दिल्ली और लण्डन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों में सम्मिलित हुए। महर्षि के महान् मिशन की पूर्ति हेतु उनका तन, मन, धन व सर्वस्व समर्पित है।

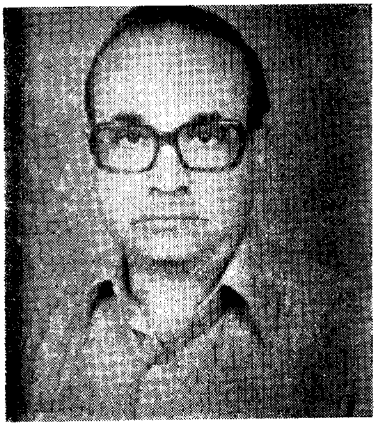

श्री अमृतलालजी गर्ग

९ दिसम्बर सन् १९२३ को जगाधरी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री बनारसीदासजी गर्ग अपने क्षेत्र के मूर्धन्य वकील। विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त कर श्री अमृतलालजी ने कानपुर में रासायनिक द्रव्यों के निर्माण के लिए एक फैक्टरी स्थापित की, जो माल की शुद्धता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। उनके सच्चे व्यवहार का सर्वत्र आदर किया जाता है। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उनकी रुचि रही है और महर्षि के मन्तव्यों में उनका अटूट विश्वास है। सन्तान के विवाह उन्होंने बिना आडम्बर के किये। दहेज न लिया, न दिया। कन्या का विवाह अपनी जाति से बाहर किया। समाजसेवा के कार्यों में वह सक्रिय रूप से भाग लेते हैं—यथा नेत्रशिविरों की उत्साहपूर्वक व्यवस्था में। आर्यसमाज के प्रमुख समारोहों—यथा मथुरा महर्षि जन्म-शताब्दी, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली (१९७५), सार्वभौम आर्य महासम्मे-लन लण्डन (१९८१) आदि में वह सम्मि-लित होते रहे हैं

प्रतिष्ठित-सदस्य

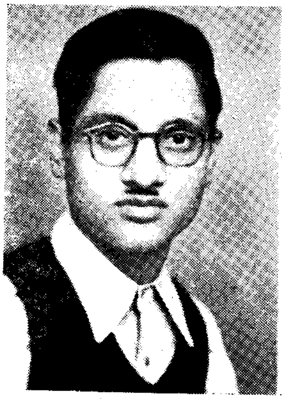

श्री धर्मराज विद्यालंकार **श्रीमती चन्द्रकला**

हरयाणा के सढौरा ग्राम में जन्म । पिता—श्री मुकुन्दीलाल आर्य । गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक तथा पंजाब यूनिवर्सिटी से शास्त्री एवं एम०ए० । संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी के साथ-साथ गुजराती, उर्दू व बंगला के भी विद्वान् । अनेक शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापन तथा गम्भीर शोध कार्य । पण्डित शशिभूषणजी विद्यालंकार की सुपुत्री श्रीमती चन्दकला के साथ विवाह । चन्द्रकलाजी भी संस्कृत व बंगला की विदुषी तथा अनेक शिक्षणालयों में अध्यापन कार्य ।

श्री भरतसिंह शास्त्री श्रीमती सावित्री देवी

किष्किन्दा गांव (चरखी दादरी) में श्रावण पूर्णिमा सन् १९१७ को श्री सुखीरामजी के घर में जन्म । शिक्षा गुरुकुल मटिण्डु में । वहीं रहते हुए शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण कर दयानन्द उपदेशक विद्यालय, गुरुदत्त भवन, लाहौर में प्रवेश । वहां से स्नातक होकर सन् १९४५ में लोहारू में आर्यसमाज का कार्य प्रारम्भ किया, और वहां समाज-मन्दिर का निर्माण कराया । सन् १९४७ में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में उपदेशक का कार्य किया । बाद में सरकारी सेवा में आ गये, और सरकारी सेवा में रहते हुए भी वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे । श्री भरतसिंहजी आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के सदस्य और सार्वदेशिक सभा दिल्ली में हरयाणा के प्रतिनिधि हैं । श्री भरतसिंहजी का विवाह सन् १९५१ में श्रीमती सावित्रीदेवी के साथ हुआ । सावित्रीजी धर्मप्राण व सच्चरित्र आर्य महिला हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में अपने पति को पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं ।

श्री केशवदेव धीमान् विद्यालंकार, एम. ए.

२६ नवम्बर, १६२७ को फिल्लौर के समीप नंगल गांव में विश्वकर्मावंशीय आर्य परिवार में जन्म। गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर विद्यालंकार की डिग्री प्राप्त की, और कानपुर यूनिवर्सिटी से एम. ए. की। वेदों में आपकी अगाध आस्था है, और 'वेद में विज्ञान' आपका प्रिय विषय है। सम्प्रति आप विश्वोत्पत्ति विज्ञान (वैदिक और वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन) विषय पर ग्रन्थ लिख रहे हैं। प्राचीन विमान-शास्त्र पर आपने मौलिक खोज की है। सौर्य विद्युत्शक्ति से चालित त्रिपुर-विमान पर लिखे गये आपक लेख की ओर एयर-कोमोडोर गोयल का ध्यान आकृष्ट हुआ था, और उन्होंने आपको प्राचीन भारतीय विमानों की गवेषणा के लिए आमन्त्रित किया था। कलकत्ता में धीमान्जी का अपना व्यवसाय है, जिसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त है। आपका पूरा परिवार सुदृढ़ आर्यसमाजी है। बंगीय-असम आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान श्री मिहिरचन्द धीमान् के आप भतीजे हैं, और प्रसिद्ध आर्यसमाजी श्री धर्मचन्द धीमान् के सुपुत्र। आप स्वयं हावड़ा आर्यसमाज के प्रधान हैं। आर्यसमाजी नेताओं, प्रचारकों, विद्वानों व संन्यासियों का आपके घर में सदा स्वागत होता है, और वह समाज की गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ है।

श्री हरिप्रसाद गुप्त

श्री हरिप्रसाद गुप्त कलकत्ता में निवास करते हैं, और वहां उनका किराने का व्यवसाय है। इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की है, और उनकी गिनती कलकत्ता के अत्यन्त समृद्ध किराना-व्यापारियों में की जाती है। श्री गुप्त का सारा परिवार सुदृढ़ आर्यसमाजी है। उनके पिता स्वर्गीय श्री भगवानदासजी जिला अलवर (राजस्थान) के बासकृपालनगर के निवासी थे, और वहां उन्होंने सन् १६५५ में आर्यसमाज की स्थापना की थी। बाद में वह अलवर में आकर रहने लगे थे, और वहां की आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। श्री हरिप्रसाद गुप्त का जन्म ७ अप्रैल, १६२६ को हुआ था। श्री हरिप्रसाद गुप्त चार भाई हैं और उनके दो सुपुत्र श्री सतीशकुमार गुप्त और श्री सुभाषचन्द्र गुप्त हैं। दो पुत्रियाँ शान्तिदेवी गुप्त और सरितादेवी गुप्त हैं। सब कट्टर आर्यसमाजी हैं और शुद्ध आर्य जीवन बिताते हैं। धर्मपत्नी श्रीमती गेंदीदेवी गुप्त का श्री हरिप्रसाद गुप्त को जीवन में पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्रीमती सरतीदेवी जी

श्रीमती सरतीदेवी भिवानी (हरयाणा) के प्रसिद्ध आर्यसमाजी श्री खुबीराम जी की सुपुत्री हैं। उनका पालन-पोषण वैदिक धर्म के वातावरण में हुआ, जिसके कारण वे आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह के साथ भाग लेने लगीं। उनका विवाह श्री जुगल किशोर जी गुप्त के साथ हुआ था। उनके पांच सुपुत्र तथा पांच सुपुत्रियां हैं। इन सबका विवाह उन्होंने बिना परदे के किया जो तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में अत्यन्त सुधारवादी कार्य था। सरतीदेवीजी के सभी सुपुत्र कर्मठ आर्यसमाजी हैं और अपने-अपने क्षेत्र में समाज के कार्यों में सहयोग के लिए तत्पर रहते हैं। उनके द्वितीय पुत्र श्री शत्रुघ्नलाल गुप्त रांची आर्यसमाज के प्रधान रहे हैं और उनका विवाह हरयाणा के सुप्रसिद्ध आर्य नेता श्री लालमन आर्य की सुपुत्री से हुआ था।

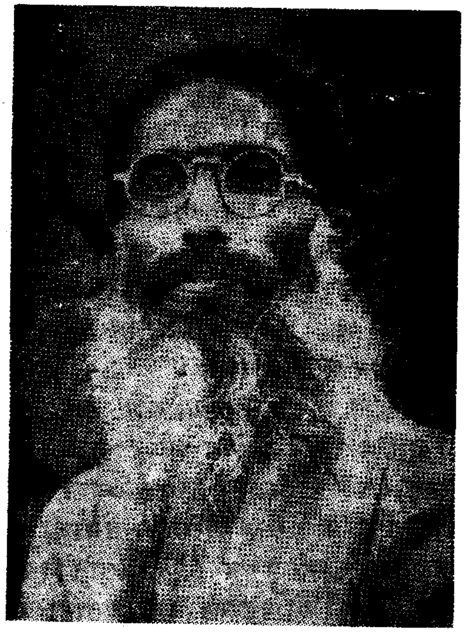

महात्मा विरक्तदेवजी

महात्मा विरक्तदेवजी (श्री कन्हैयालाल जांगड़ा) का जन्म राजस्थान में हुआ था, पर उनका प्रधान कार्यक्षेत्र इन्दौर रहा। उनके प्रारम्भिक सेवा कार्यों में 'हिन्दू धर्म रक्षिणी सभा' तथा 'बजरंग दल' नामक समाजसेवी संस्थाओं की स्थापना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका कार्य विधर्मी गुण्डों से त्रस्त हिन्दू नारियों की रक्षा करना था। छात्रावासों के संचालन, निर्धन परन्तु योग्य छात्रों को आर्थिक सहायता देने और उन्हें वैदिक धर्म का अनुयायी बनाने के कार्य में महात्मा जी को विशेष रुचि थी। इन्दौर के अतिरिक्त अजमेर, सांभरलेक तथा जयपुर नगर की जनता को उन्होंने पारिवारिक सत्संगों, उपदेशों व भजनों आदि से जीवनप्रेरक मार्गप्रदर्शन द्वारा लाभान्वित किया। २६ नवम्बर, १९७३ को नीमच में नश्वर शरीर को त्याग कर वे 'प्रभुप्रिय' हो गये।

प्रतिष्ठित-सदस्य

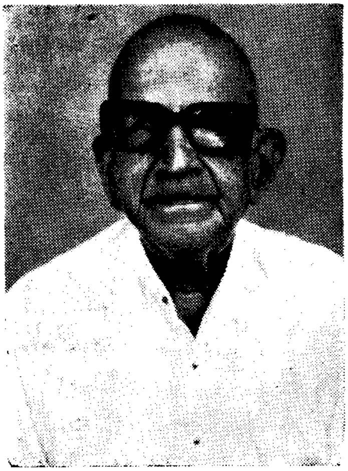

श्री हरदत्तराय गुप्त श्रीमती कमलादेवी गुप्त

श्री हरदत्तराय गुप्त का जन्म सन् १६०१ में तावड़ू (हरयाणा) में एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा तावड़ू तथा गुड़गांव में प्राप्त कर रिवाड़ी के स्कूल से १६१८ में हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर उच्च शिक्षा के लिए लाहौर चले गए, जहां डी. ए. वी. कालिज में प्रवेश कर सन् १६२२ में बी. ए. की डिग्री प्राप्त की। लाहौर में रहते हुए वे महात्मा हंसराज, प्रिंसिपल साईं दास आदि आर्य विद्वानों तथा संन्यासी-महात्माओं के सम्पर्क में आए, और सुदृढ़ आर्यसमाजी बन गए। तावड़ू में आकर उन्होंने व्यापार प्रारम्भ किया, और इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की। पर व्यापार के साथ-साथ वे आर्यसमाज की गतिविधि और कार्यकलाप में सक्रिय रूप से सहयोग देते रहे। अछूतोद्धार के कार्य में उन्होंने विशेष रुचि प्रदर्शित की और अपने घर में भी एक चमार को नौकर रखा। जब दलितोद्धार सभा दिल्ली की ओर से तावड़ू में एक स्कूल खोला गया तो उसकी सफलता के लिये श्री गुप्त ने बड़े उत्साह से कार्य किया। आप निष्ठावान् तथा कर्मठ आर्यसमाजी हैं, और अपने क्षेत्र में तथा नैपाल आदि में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में विशेष रूप से सहयोग प्रदान करते हैं।

श्री हरदत्तराय गुप्त की धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवी जी का जन्म सन् १६०८ में गुरावड़ा (गुड़गांव) में हुआ था। उनका परिवार कलकत्ता में बस गया था, अतः कमला देवी जी की शिक्षा कलकत्ता में ही हुई। उनकी माता पौराणिक विचारों की थीं, और परदा प्रथा की समर्थक थीं। श्री हरदत्तराय जी के साथ विवाह होने पर कमलादेवी जी के विचारों तथा रहन-सहन पर आर्यसमाज का प्रभाव पड़ना शुरू हुआ, और धीरे-धीरे वे वैदिक धर्म से प्रभावित होने के कारण प्रगतिशील होती गईं।

श्री हरदत्तराय जी तथा श्रीमती कमलादेवी जी को जीवन में बहुत ऊंच-नीच देखने पड़े हैं। पर परमपिता परमात्मा की कृपा से वे सम्पन्न व परोपकारी जीवन बिता रहे हैं और अपना समय समाज की सेवा में लगाते हैं।

कविराज श्री योगेन्द्रपालजी शास्त्री

ग्राम बहादुरपुर (बिजनौर) में १६१७ ई. में जन्म । पिता आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता कर्मवीर ठाकुर संसारसिंहजी । प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में। तिब्बिया कॉलिज, दिल्ली में आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर आयुर्वेदाचार्य, धन्वन्तरी सदृश उच्चतम परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। मस्तिष्क और हृदय रोगों के विख्यात चिकित्सक थे। कनखल (हरिद्वार) में विशुद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए सुविशाल आरोग्य-भवन स्थापित किया। कन्याओं को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए कन्या गुरुकुल कनखल (हरिद्वार) में कन्या आयुर्वेद महाविद्यालय तथा मातृमन्दिर की स्थापना की। सन् १६४१ से कन्या गुरुकुल, कनखल के मुख्याधिष्ठाता व संचालक रहे। 'प्राचीन राजवंश' तथा 'क्षत्रिय जातियों का उत्थान व पतन' नामक दो ग्रन्थों के प्रणेता तथा 'शक्तिसंदेश' साप्ताहिक पत्र के संचालक थे। आयुर्वेद चिकित्सा के लिए न केवल भारत में ही, अपितु विदेशों में भी सुप्रसिद्ध थे। सन् १६८३ में उनका असमय में ही देहावसान हो गया।

श्रीमती पुरुषोत्तमा देवी जी

सन् १६०८ में अमृतसर के एक सुदृढ़ आर्यसमाजी परिवार में जन्म हुआ। पिता श्री शंकरदासजी शर्मा कर्मठ आर्यसमाजी थे। पुरुषोत्तमा जी की शिक्षा आर्य कन्या पाठशाला में हुई। वे मेधावी छात्रा थीं, और अपनी कक्षा में सदा प्रथम रहती थीं। जून, १६२६ में अजनाला (अमृतसर) के महाशय कर्मचन्द जी के सुपुत्र पण्डित गुरुदत्त शर्मा के साथ पूर्ण वैदिक रीति से विवाह हुआ। सन् १६३८ में गुरुदत्त जी का अचानक निधन हो गया। पुरुषोत्तमा जी तब अपने भाई पं. सत्यदेव विद्यालंकार के पास निवास करने लगीं, और अपना सब समय निष्काम सेवा, प्रभुभक्ति और साधना में व्यतीत करने लगीं। सन् १६८६ में उन्होंने इहलीला समाप्त की, और परब्रह्म की शरण में चली गईं। सब पारिवारिक जन व अन्य परिचित जन उन्हें 'माताजी' कहा करते थे। उनका पितृकुल पूर्णतया वैदिक धर्म का अनुयायी है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

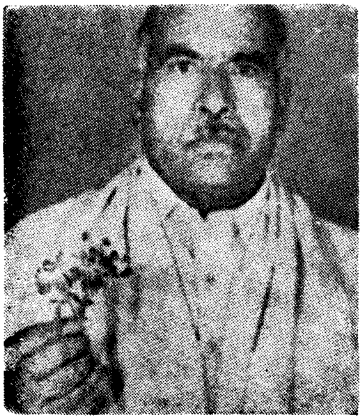

श्री कुञ्जबिहारीलालजी

जन्मतिथि — ३१ जुलाई, सन् १९१४। रिटायर्ड आफिसर, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया। वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों के लिए सदा उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील रहे। पूर्वपदाधिकारी आर्यसमाज मसूरी तथा आर्यसमाज लक्ष्मण चौक, देहरादून। संवत् २०२० विक्रमी (सन् १९६३) की भाद्रपद पूर्णिमा के दिन देहरादून (३/८, कांवली रोड) में श्रीमद् दयानन्द आश्रम स्थापित किया, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं— (१) आर्यों का एक विशाल संगठन बनाना, (२) एक विशाल भारत का निर्माण करना, और (३) एक विशाल वैदिक पाठशाला का निर्माण करना। भाद्रपद पूर्णिमा को प्रतिवर्ष आश्रम में महाराष्ट्र-यज्ञ होता है, और महर्षि दयानन्द जन्मोत्सव मनाया जाता है। श्री कुञ्जबिहारी-लालजी अब अपनी सब शक्ति तथा समय इस आश्रम द्वारा आर्यसमाज की सेवा में लगा रहे हैं।

पता—९३, शिवाजी मार्ग, देहरादून।

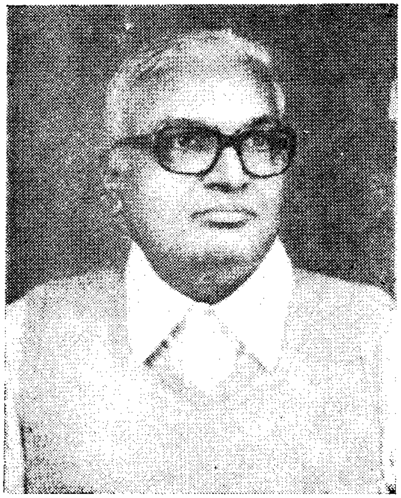

श्री तुहीरामजी गुप्त

१५ अप्रैल, सन् १९१९ को भिवानी (हरयाणा) के दीनाद ग्राम में जन्म। पिता श्री शिवदयालुजी आर्यसमाज के कर्मठ नेता थे, और श्रीगंगानगर आर्यसमाज के बीसियों वर्ष प्रधान रहे थे। डा० तुहीराम में अपने पिताजी के आर्य संस्कार पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। सन् १९४१ में लाहौर में चिकित्साविज्ञान की उच्च शिक्षा पूर्ण की, और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा करते हुए आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। लगभग चालीस वर्ष से डा. गुप्त आर्यसमाज श्रीगंगानगर के विविध पदों पर रहकर समाज की सेवा कर रहे हैं, और अब जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा के प्रधान हैं। श्रीगंगानगर में सरस्वती शिशुमंदिर नामक उच्च माध्यमिक विद्यालय का संचालन डा० गुप्त की अध्यक्षता में हो रहा है। वह राज-स्थान के सुप्रतिष्ठित आर्य सज्जन हैं, और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उनका तन, मन, धन समर्पित है।

प्रतिष्ठित-सदस्य

पं० धर्मवीर विद्यालंकार **श्रीमती पुष्पशोभा विद्यालंकृता**

श्री पण्डित धर्मवीर विद्यालंकार का जन्म १४ अगस्त, १६२० को हुआ था। उनके पिता श्री बन्नाराम रावलपिण्डी में डिप्टी असिस्टण्ट कन्ट्रोलर, मिलिटरी एकाउन्ट्स थे। प्रारम्भिक शिक्षा लाहौर में प्राप्त कर वे गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट हुए, और सन् १६४१ में वहां से स्नातक होकर विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। बाद में बी. ए. और बैंकिंग की परीक्षाएं उत्तीर्ण कर पंजाब नेशनल बैंक में सर्विस की, और फिर अनेक व्यावसायिक संस्थानों में प्रबन्धक रहकर पीलीभीत (उ. प्र.) में अपना कृषि-फार्म स्थापित किया। विविध व्यवसायों में संलग्न रहते हुए भी धर्मवीर जी का गुरुकुल आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। पीलीभीत जिले के गुरुकुल मनोकामना के वे संस्थापक प्रधान रहे, और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के सहायक मुख्याधिष्ठाता (१६७४-८०)। सन् १६८५ में वे अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय के आचार्य होकर टंकारा (सौराष्ट्र) चले गये। आर्यसमाज के वे कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। ४ मार्च, १६४८ को श्री धर्मवीर जी का विवाह पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति की पुत्री (अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी की दौहित्री) श्रीमती पुष्पशोभा विद्यालंकृता के साथ हुआ था। पुष्पशोभा जी कन्या गुरुकुल देहरादून की स्नातिका और विदुषी महिला हैं।

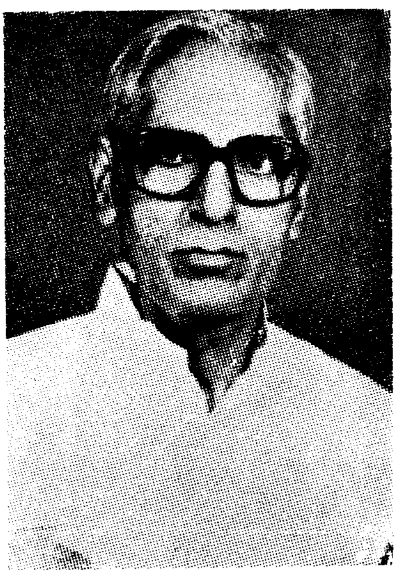

श्री ओम्प्रकाश राजपाल रक्तौल (बिहार) **श्री द्वारकाप्रसाद ओज आर्य**

प्रतिष्ठित-सदस्य

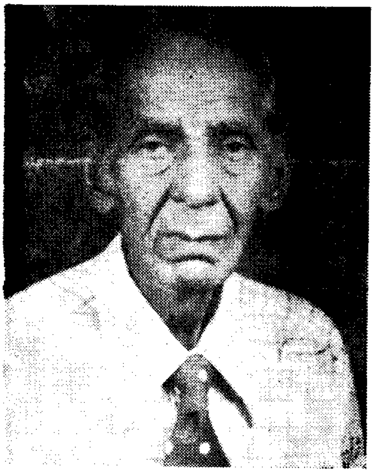

श्री पण्डित प्रकाशचन्द्र पाराशर

श्री प्रकाशचन्द्र जी का जन्म सन् १९१४ में अमृतसर के प्रसिद्ध कसबे शामनगर के एक कर्मठ आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता पण्डित मुंशीराम जी इस सारे इलाके में एक ईमानदार व सच्चे पटवारी के रूप में विख्यात थे। शामनगर आर्यसमाज के कर्ता-धर्ता इस परिवार के ही लोग थे। प्रकाशचन्द्र जी की शिक्षा आर्यसमाज के स्कूलों में हुई। वे उर्दू के अच्छे शायर थे और संगीत के मर्मज्ञ थे। व्यवसाय के लिए वे इण्डोनीसिया चले गये थे, और वहां व्यापार द्वारा उन्होंने बहुत उन्नति की थी। सन् १९४० में उनका विवाह पण्डित शंकरदास जी की सुपुत्री प्रकाशवती जी से पूर्ण वैदिक रीति से लाहौर में सम्पन्न हुआ। महायुद्ध के समय जब नेताजी सुभाष बोस ने आजाद हिन्द फौज का संगठन किया, तो प्रकाशचन्द्र जी उसमें भरती हो गए। पर युद्ध की समाप्ति पर राजनीतिक कारणों से वे इण्डोनीसिया में नहीं रह सके, और भारत वापस आ गए। सन् १९८४ में भारत में ही उनका निधन हुआ। तब से प्रकाशवती जी शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रही हैं, और उनकी एकमात्र सन्तान श्रीमती राकेश शर्मा शिकागो (अमेरिका) में अपने परिवार में सुखी हैं।

श्रीमती प्रकाशवती शर्मा

सन् १९१८ में अमृतसर के एक सुदृढ़ आर्य परिवार में जन्म हुआ। पिता श्री शंकरदास जी शर्मा कर्मठ आर्यसमाजी थे। प्रकाशवती जी की शिक्षा लाहौर में हुई। सन् १९४० में शामनगर के श्री प्रकाशचन्द्र जी पाराशर से उनका पूर्ण वैदिक रीति से विवाह हुआ। छोटी आयु में ही माता जी के स्वर्गवासी हो जाने के कारण सारे परिवार का बोझ प्रकाशवतीजी पर आ पड़ा था, जिसे उन्होंने बड़ी कुशलता से निबाहा। वे अत्यन्त कर्मठ व दयालु स्वभाव की आर्य महिला हैं। समाज सेवा में भी उनकी रुचि है; भारत के विभाजन के पश्चात् जब वे दिल्ली चली आईं, तो दिल्ली आर्य महिला समाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगीं। सन् १९८४ में पति की मृत्यु के पश्चात्, वे अपने बड़े भाई पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार के पास रह रही हैं। उनका जीवन अत्यन्त सादा तथा तपस्यामय है। सबके दुःख से वे द्रवित होती हैं, और यथाशक्ति सहायता करती हैं। जो सम्पत्ति उनके पास थी, सब दान कर दी है, और सब समय समाज सेवा में लगा रही हैं। उनकी एकमात्र सन्तान श्रीमती राकेश शर्मा के पास वे महीनों शिकागो (अमेरिका) रहकर आयी हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

महाशय जगदीशराज सर्राफ

सन् १९१३ में अमृतसर में जन्म । प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अपने पिता श्री काहनचन्द मेहरा के साथ सर्राफे के कारोबार में लग गए । उनके प्रयत्न से कारोबार का खूब विस्तार हुआ और सर्राफे के अतिरिक्त गरम शाल आदि का धन्धा भी शुरू कर दिया गया । आर्यसमाज में आने की प्रेरणा उन्हें महाशय लालचन्द जी चोपड़ा से प्राप्त हुई, और वे आर्यसमाज के प्रत्येक कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे । सन् १९५३ में हिन्दी रक्षा आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया, जिसमें इनके पिता श्री काहनचन्द भी गिरफ्तार हुए और जेल में रहे । गोरक्षा आन्दोलन के सत्याग्रह के सिलसिले में महाशय जगदीशराज भी गिरफ्तार कर लिये गये, और दो मास उन्हें लुधियाना जेल में रखा गया ।

सन् १९७० में शक्ति नगर (अमृतसर) में आर्यसमाज की स्थापना में महाशयजी का उल्लेखनीय कर्तृत्व था । सन् १९७४ में वे सर्वसम्मति से इस समाज के प्रधान चुने गये और जीवन पर्यन्त इस पद पर रहे । आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता होने के कारण वे केन्द्रीय आर्य सभा अमृतसर तथा पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान पद पर चुने गये । साथ ही, आचार्य देवप्रकाश धर्म प्रचार समिति, गुरु विरजानन्द स्मारक ट्रस्ट, दयानन्द अस्पताल, स्वतन्त्रानन्द पुस्तकालय आदि आर्य संस्थाओं के उच्च पदाधिकारी रहकर वे इनका संचालन करते रहे । महाशय जी का जीवन अत्यन्त सादा, सरल तथा सात्विक था । वैदिक धर्म में उन्हें अगाध श्रद्धा थी । २० फरवरी, १९८५ को वे दिवंगत हुए ।

श्रीमती आज्ञावतीजी आर्या

२३ मार्च, १९०९ को गुजरांवाला में जन्म । पिताजी के बम्बई चले जाने पर वहां के मराठी स्कूल में शिक्षा । घर पर संस्कृत तथा इंगलिश का अध्ययन । पिताजी काकड़वाड़ी (बम्बई) आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता तथा पदाधिकारी । वहीं रहते हुए आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्पर्क । सन् १९२४ में विवाह के उपरान्त अमृतसर में आ गईं, और सन् १९३१ में अपने घर पर ही "आर्य सुधार सभा" स्थापित की और सत्संग का आयोजन प्रारम्भ किया । तभी से लोहगढ़ आर्यसमाज की मन्त्री के रूप में पूरी लगन के साथ समाज के कार्यों में योगदान, हैदराबाद सत्याग्रह, पंजाब हिन्दी आन्दोलन, गोरक्षा अभियान में सक्रिय भाग तथा विविध आर्य संस्थाओं के कार्यकलाप में सहयोग । ३० मार्च, १९४६ को पतिदेव के स्वर्गवास हो जाने पर सन्तान के प्रति अपने कर्तव्य पालन के साथ-साथ अपना समय व शक्ति धर्म, देश तथा समाज की सेवा के कार्यों में विशेष रूप से लगाती हैं । महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों पर अगाध श्रद्धा है, और उनके मिशन को पूरा करने के प्रयत्न में ही आनन्द अनुभव करती हैं ।

प्रतिष्ठित-सदस्य

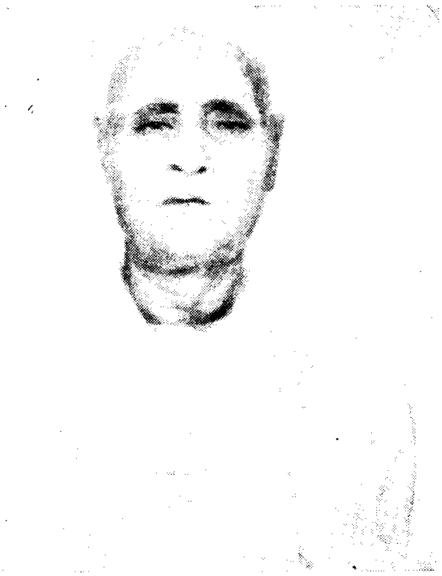

स्वामी दिव्यानन्दजी सरस्वती

१५ अगस्त, १६०७ को झांसी (उत्तर प्रदेश) में जन्म। बी०ए० तक शिक्षा प्राप्त की, पर महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में बी०ए० की डिग्री फाड़ फेंकी, और अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि का अध्ययन शुरू किया। स्वराज्य संघर्ष में अनेक बार जेल गये। सच्चे स्वतन्त्रता सेनानी। १६३६ में हैदराबाद सत्याग्रह में सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण गिरफ्तार हुए और जेलों में रहे। स्वराज्य के पश्चात् आर्यसमाज के सभी आन्दोलनों में उत्साहपूर्वक योगदान। १६५७ में हिन्दी सत्याग्रह में जेल यात्रा और फिर गोरक्षा आन्दोलन में बन्दी बनाये गये।

आर्यसमाज के लिए पूर्णतया समर्पित। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ के वर्षों तक प्रधान और सभा के मुख्य पत्र 'आर्य सेवक' के सम्पादक रहे। मध्यप्रदेश के ग्रामों और नगरों में बहुत सी आर्यसमाजों की स्थापना की। विधर्मियों को शुद्ध कर आर्य बनाने का कार्य बड़े पैमाने पर किया। मारीशस में ६ वर्ष वैदिक धर्म का प्रचार किया, और इंगलैंड, फ्रांस, केनिया और दक्षिणी अफ्रीका आदि विदेशी राज्यों में भी आर्यसमाज के कार्यकलाप का विस्तार किया। सत्यार्थ-प्रकाश के मुद्रण के लिये सार्वदेशिक सभा को ५० हजार रुपये प्रदान किये, और आर्य सभा मारीशस को भी ५० हजार की धन राशि वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रदान की। आर्यसमाज के अन्य कार्यों के लिये भी एक लाख रुपये दान में दिये, जिसके कारण वे 'भामाशाह' के नाम से कहे जाने लगे। स्वामी जी का सारा जीवन महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को पूरा करने के लिये समर्पित रहा है। आजकल वे छत्तीसगढ़ क्षेत्र में कार्यरत हैं।

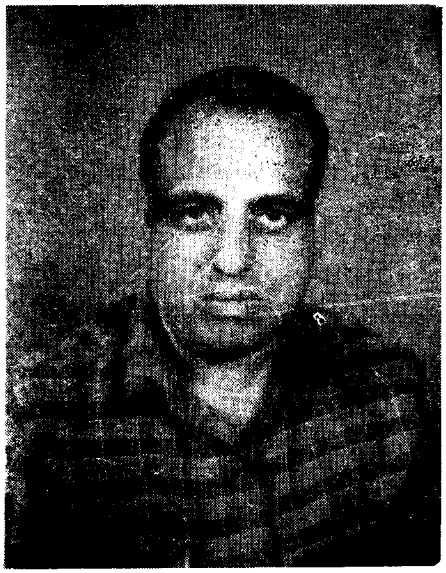

श्री दयाराम पोद्दार

सन् १६४० में जन्म। नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १६६२ में वाणिज्य विषय में स्नातक की डिग्री प्राप्त की। गोकरुणानिधि पुस्तक पढ़कर महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में श्रद्धा उत्पन्न हुई। और आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए। आर्यसमाज के इतिहास और स्वाध्याय में विशेष रुचि। तीन चार वर्षों के निरन्तर और अध्ययन के पश्चात् राष्ट्रभाषा हिन्दी में रांची से प्रकाशित होने वाले आर्यसमाज के प्रथम पत्र 'आर्यावर्त' (सन् १८८७ से १६०५ तक) के सम्बन्ध में आर्य जनता जानकारी करायी। छोटा नागपुर और विशेषकर रांची जिले में आर्यसमाज सम्बन्धी गतिविधियों में अहर्निश संलग्न। सम्प्रति आर्यसमाज रांची के प्रधान और नवस्थापित छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा रांची के मन्त्री हैं। मूलत: राजस्थान के निवासी हैं। आर्यसमाज के सम्पूर्ण कार्यकलाप में पूर्ण उत्साह व लगन के साथ भाग लेते हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

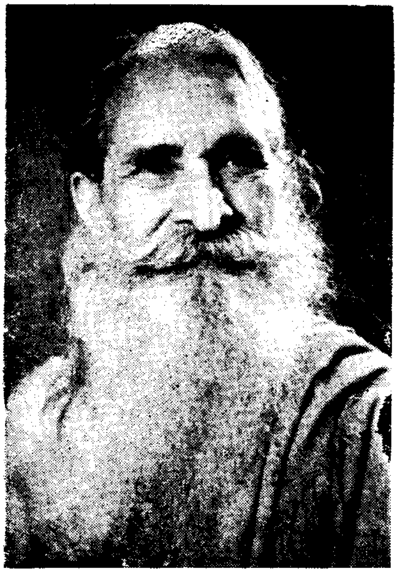

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी

श्रीमती लीलावतीजी

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती का पूर्व नाम आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री था । संस्कृत, व्याकरण तथा वेदशात्रों के प्रकाण्ड पण्डित राजेन्द्रनाथजी को वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार की सच्ची लगन थी । इसीलिए उन्होंने दिल्ली के क्षेत्र में उस गुरुकुल की स्थापना की जो अब आर्य गुरुकुल गौतमनगर के नाम से प्रसिद्ध है । संन्यास आश्रम में प्रवेश कर राजेन्द्रनाथजी ने सच्चिदानन्द सरस्वती नाम ग्रहण कर लिया और वे योगसाधना तथा योग के प्रचार में लग गये । इसी प्रयोजन से उन्होंने ज्वालापुर, हरिद्वार, में 'योगधाम' की स्थापना की, और हैदराबाद आदि अन्य अनेक स्थानों पर भी योग साधना के लिए आश्रम स्थापित किये ।

गृहस्थ आश्रम में आचार्य राजेन्द्रनाथजी की सहधर्मिणी श्रीमती लीलावती थीं, जो सच्चे अर्थों में 'साधिका' रही हैं और हैं । आर्यसमाज और वैदिक धर्म के कार्य में पूर्णतया समर्पित होने के कारण उनके पति राजेन्द्रनाथजी ने परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया । यह लीलावतीजी की साधना थी जो उन्होंने अपने पतिदेव को परिवार की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त कर दिया, ताकि वे अपनी सब शक्ति व समय विद्या व धर्म के प्रचार में लगा सकें । लीलावतीजी ४३ वर्ष तक निरन्तर अध्यापन द्वारा धन उपार्जन कर अपने परिवार का पालन करती रहीं, और अब उनका यह संकल्प है कि योगधाम ज्वालापुर में एक महिला आश्रम भी स्थापित कर दिया जाय । इसी प्रयोजन से वे आवश्यक धन जुटाने में लगी हुई हैं ।

स्वामी सच्चिदानन्दजी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी को प्रकाश में लाने का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है, और योगविषयक साहित्य की भी रचना की है । श्रीमती लीलावतीजी ने भी बालोपयोगी पुस्तकें लिखने में अच्छी सफलता प्राप्त की है ।

प्रतिष्ठित-सदस्य

श्री कुन्दनलालजी आर्य

श्रीमती विद्यावतीजी आर्या

श्री कुन्दनलालजी आर्य पंजाब में आर्यसमाज के उत्साही एवं कर्मठ कार्यकर्ता थे। उनका जन्म लुधियाना में हुआ था। बचपन में ही वे माता-पिता के स्नेह से वंचित हो गये थे। पर अपने पुरुषार्थ से वे प्रसिद्ध उद्योगपति बन गये और "पैराडाइज़ होजरी" नाम से स्थापित उनकी फैक्टरी ने होजरी उद्योग में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया। आर्यससाज के कार्यों में वे उत्साहपूर्वक भाग लेते थे, और तन-मन-धन से दीन-दुखियों की सहायता के लिये तत्पर रहते थे। गुरुकुल करतारपुर के वे ट्रस्टी थे। श्री गुरु विरजानन्द निर्वाण शताब्दी की सफलता के लिए उन्होंने अपने सहयोगी श्री देवराजजी खुल्लर के साथ मिलकर दिनरात परिश्रम किया था। टंकारा, दिल्ली, हरिद्वार आदि में आर्यसमाज के समारोहों में आयोजित यज्ञों के यजमान बनकर वे उदारतापूर्वक दान दिया करते थे। जातपांत और छुआछूत पर उन्हें विश्वास नहीं था। विद्वानों के आतिथ्य में उन्हें गौरव अनुभव होता था। अपने घर का नाम ही उन्होंने "प्रभु आश्रित निवास" रखा हुआ था। २२ अप्रैल, १९८० को ७८ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ।

गांव लख्खवाल (लुधियाना) में उत्पन्न हुई श्रीमती विद्यावतीजी आर्या की बचपन से ही आर्यसमाज के प्रति रुचि रही। स्त्री आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार), लुधियाना की वे कोषाध्यक्ष तथा उपप्रधाम के पदों पर रही हैं। गुरुकुल करतारपुर की ट्रस्टी हैं, और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरंग सदस्य रह चुकी हैं। स्त्री आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेना उनका स्वभाव ही बन गया है। उनके घर में दोनों समय सन्ध्या, हवन, वेद का स्वाध्याय तथा गायत्री जप नियमित रूप से चलता है। बड़े-बड़े याज्ञिक अनुष्ठानों में अपने स्वर्गीय पतिदेव (महाशय कुन्दनलाल जी आर्य) को सदा सहयोग देना वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझती रही हैं।

प्रतिष्ठित-सदस्य

पं. क्षितीश वेदालंकार

श्रीमती पवित्रा देवी

पं. क्षितीशकुमार वेदालंकार का जन्म १६ सितम्बर, १९१६ को दिल्ली में हुआ। मथुरा में १९२५ में ऋषि जन्मशताब्दी से प्रेरणा ग्रहण कर पिताजी ने गुरुकुल में प्रविष्ट कराया। प्रत्येक कक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। सन् १९३९ में हैदराबाद निजाम रियासत में आर्य सत्याग्रह का बिगुल बजते ही स्नातक-परीक्षा का मोह छोड़कर गुरुकुल के जत्थे का नेतृत्व करते हुए प्रथम सर्वाधिकारी महात्मा नारायण स्वामी जी के साथ गिरफ्तार। गुरुकुल के शिक्षा-पटल ने इनके जेल में रहते-रहते ही स्नातक घोषित कर वेदालंकार की उपाधि से विभूषित कर दिया।

सन् १९४० में सार्वदेशिक सभा की ओर से मध्य-प्रदेश और विदर्भ में जनगणना में 'आर्य' लिखवाने का आन्दोलन। फलस्वरूप उस प्रान्त ने अन्य सब प्रान्तों को पीछे छोड़ दिया। सन् ४१ में लाहौर में आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक। वक्तृत्व कला की धाक। विभाजन के पश्चात् प्रमुख राष्ट्रीय दैनिक 'हिन्दुस्तान' में कार्यरत। सन् ७९ में वरिष्ठ सहायक सम्पादक के रूप में कार्यनिवृत्त। सम्प्रति 'आर्यजगत्' के सम्पादक। इन्हीं के कारण 'आर्यजगत्' इतना लोक-प्रिय बना।

भारतीय साहित्यकार संघ के प्रधान, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली के प्रचारमंत्री और सार्वदेशिक सभा के उपमंत्री रहे। लगभग २० पुस्तकें प्रकाशित। कुछ पुरस्कृत। लन्दन में सार्वभौम आर्य महासम्मेलन (१९८१) और अजमेर में ऋषि निर्वाण शताब्दी (१९८३) को सफल बनाने में प्रचारमंत्री के रूप में योगदान। कैलाश, मानसरोवर, उत्तराखड और हिमालय की अनेक यात्राएं। स्वतंत्रता के बाद प्रथम भारतीय पर्वतारोहण दल के संयोजक। आर्यसमाज के राष्ट्रवादी स्वरूप के प्रखर उद्गाता।

श्रीमती पवित्रादेवी विद्याविभूषिता का जन्म ८ नवम्बर, १९२४ को व्यावर (राजस्थान) में हुआ। पिता कट्टर आर्यसमाजी, घर में प्रतिदिन हवन, स्थानीय आर्यसमाज के स्तम्भ। सन् १९४२ में कन्या गुरुकुल हाथरस से स्नातिका। संस्कृत मध्यमा, विद्याविनोदिनी, प्रभाकर, मैट्रिक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। २३ जून, १९४४ को विवाह। कुछ समय तक अध्यापन-कार्य। अनेक यात्राओं में पति के साथ। पति के जीवन के साथ तदाकार। आर्यसमाज के प्रति अनन्य निष्ठा।

प्रतिष्ठित-सदस्य

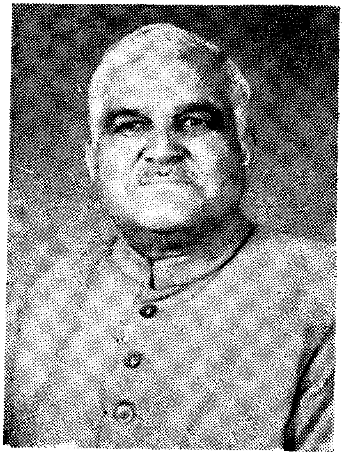

श्री राममूर्ति कैला

घमरोला (शकरगढ़, गुरुदासपुर) में २६ अगस्त, सन् १९२२ को जन्म । कंजरूर के डी. ए. वी. स्कूल में शिक्षा । पिता श्री लाला दीवानचन्द कट्टर पौराणिक थे । सनातनी पण्डित श्री कल्पनाथ शर्मा से हुए पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार के शास्त्रार्थ से प्रभावित होकर आर्यसमाजी बन गए, और अपने पुत्र राममूर्ति कैला के साथ आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे । मेघों और डोमों की शुद्धि में विशेष योगदान । १९४५ में रावलपिण्डी में कारोबार शुरू किया, और पण्डित मुक्तिराम उपाध्याय (स्वामी आत्मानंद सरस्वती) के साथ आर्यसमाज के कार्य में जुट गये । भारत के विभाजन के बाद १९४७ में दिल्ली में आ गये, और कुछ समय बाद वेकफील्ड कम्पनी के उत्तर भारत के लिये डाइरेक्टर बन गये । दिल्ली में पहले लोदी रोड आर्यसमाज के प्रधान रहे, फिर चिरकाल तक आर्यसमाज हनुमान रोड के । आर्य मर्यादा के अनुसार विवाह सम्बन्ध कराने में विशेष रुचि । अब तक ढाई हजार के लगभग विवाह सम्बन्ध करा चुके हैं । आर्यसमाज के निष्ठावान् एवं उत्साही कार्यकर्ता-नेता हैं । कन्या गुरुकुल देहरादून के व्यवस्थापक तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य ।

मानव संस्कार केन्द्र, गाजियाबाद --'मानव मानव एक हों; सब के चलन एक हों' : इस ध्येय को सम्मुख रखकर स्थापित आर्य संस्था । संस्थापक श्री कर्मचन्द । कोट अद्दू (पाकिस्तान) में जन्म । १९४१ में रेल सेवा में नियुक्त । रेलवे में कार्य करते हुए आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक योगदान । १९८२ में मानव संस्कार केन्द्र की स्थापना । संस्था ५० गरीब बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दे रही है ।